सरिता हांडा
अग्नि पुराण
की
निक एवं आयुर्वेदिक
सामग्री
अध्ययन

आदरणीय प्रो. सत्यव्रत जी शास्त्री
(कुलपति संस्कृत विश्वविद्यालय
पुरी) को सादर अमूल्य
समर्पयामि -
सरिता हांडा.
19.9.83

अग्नि पुराण की दार्शनिक एवं आयुर्वेदिक सामग्री का अध्ययन

डॉ सरिता हांडा

एम० ए०, पी-एच० डी०

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

ज्योतिरालोक प्रकाशन, वाराणसी

1982

प्रकाशक :

ज्योतिरालोक प्रकाशन

बी–13/166 केदारघाट,

वाराणसी-1

1982

पुस्तक में दिये गये समस्त तथ्यों, विचारों एवं निष्कर्षों के लिए लेखक उत्तरदायी होगा, भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् नहीं।

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा प्राप्त आर्थिक सहायता द्वारा प्रकाशित

मूल्य 100.00

मुद्रक : रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स, बी 21/42 ए, कमच्छा, वाराणसी

अपनी पूज्य जननी

श्रीमती राज हांडा

के

श्री कर-कमलों में

सर्मपित

पुरा याता गंगा हिमनिकरशैलान्मधुमती
सुवीचीविक्षोभैर्विभवति च याऽनन्दनिकरम् ।
रजोवादे श्रेष्ठा वितरति च पीयूषममतां
सुमातुः पाणौ मे विलसतु मुदा ग्रन्थविमलः ॥

—सरिता

आमुख

आयुर्वेद भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर है। यह अमूल्य धरोहर भारतीय संस्कृति के सभी वाङ्मय में किसी न किसी रूप में अनुस्यूत है।

'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इस उक्ति के अनुसार आयुर्वेद भी एक वेद या उपवेद है जिसका उपबृंहण इतिहास एवं पुराण के द्वारा ही संभव है। आयुर्वेद की संहिताओं में ऐसी अनेक गुत्थियाँ हैं जिनका पल्लवन पुराण के द्वारा ही संभाव्य है।

सुश्रुत ने सर्पदंश में मन्त्र प्रयोग की चर्चा की है पर संहिता में मन्त्र का कहीं भी उल्लेख नहीं है। टीकाकार डल्लण भी उक्त स्थल में मौन रह गये हैं पर इस न्यूनता की पूर्ति अग्निपुराण ने की है। इसने विस्तार से मन्त्र का सन्निवेश कर सुश्रुत के कथन को सम्पुष्ट कर दिया है।

यद्यपि पुराणों ने अधिकांश सामग्री तत्तत् स्रोत ग्रन्थों से ग्रहण की है तो भी कुछ ऐसे नवीन तथ्य इन पुराणों के अध्ययन से प्रकाश में आये हैं जिनका ज्ञान आज के आयुर्वेद-जगत को कथमपि नहीं था। अग्निपुराण का अमरीकर योग इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इन पुराणों के संकलन काल में आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थ प्रचलित थे जिनसे सारवती सामग्री ग्रहण की गई और कालांतर में स्रोत ग्रन्थों के लुप्त हो जाने पर पुराणों ने धरोहर का कार्य किया। आयुर्वेद के कुछ विषयों को उन्होंने इतना उपबृंहित किया कि आज तक उनका वही स्वरूप बना रहा। वैयक्तिक एवं सामाजिक स्वस्थवृत्त की सामग्री इसका मुखर उदाहरण है। स्वस्थवृत्त के नियमों के परिपालनार्थ पुराणों ने धर्मदण्ड की बिभीषिका का अवलम्बन किया। शौचाशौच उस परिपूतता एवं आधुनिक युग के संक्रमणशीलता के चिरन्तन प्रहरी हैं। चरक ने शुद्धसत्व के अवान्तर-भूत गान्धर्वसत्व व्यक्ति के लिये आख्यायिका, पुराण एवं इतिहास कुशल होना आवश्यक माना है।

आयुर्वेद का इतिहास स्रोत-सामग्री के अभाव में अद्यावधि सर्वांगीणतया प्रस्तुत नहीं हो पाया है। प्रो० जॉली से आरंभ कर प्रो० प्रियव्रत शर्मा तक लिखे गये आयुर्वेद के इतिहास में पुराणगत आयुर्वेद सामग्री का निदर्शन नहीं हो पाया था। इसी प्रकार अन्य वाङ्मय के स्रोत भी थे। प्रसन्नता का विषय

है कि इन पंक्तियों के लेखक को एक आन्तरिक प्रेरणा इस अभाव की पूर्ति के लिये प्राप्त हुई और अपने निर्देशन में डा० जयन्ती भट्टाचार्य द्वारा गरुड पुराण पर इस प्रकार का कार्य कराने का अवसर मिला और उसी श्रृङ्खला में डा० कुमारी सरिता हांडा ने मेरे निर्देशन में अग्निपुराण के उक्त अध्ययन का श्रीगणेश किया और आयुर्वेद-इतिहास के समृद्धि में उक्त ग्रन्थ को निबद्ध कर एक अति सराहनीय कार्य किया है। कुमारी हांडा की इस कार्य की श्रृङ्खला में डा० रमेशचन्द्र श्रीवास्तव ने 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' पर एतद्विध कार्य को सम्पन्न कर इस यज्ञ को गतिमान कर रखा है।

आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि डा० हांडा का उक्त ग्रन्थ चिकित्सा विज्ञान के इतिहास के विश्रृङ्खलित कड़ी को जोड़ सकेगा। मैं इस कार्य के लिए इन्हें अनेक साधुवाद देता हूँ।

५-२-८२
मन्त्री-चिकित्सा विज्ञान
इतिहास परिषद्,
का० हि० वि० वि०

ज्योतिर्मित्र आचार्य
मौलिक सिद्धांत, विभाग
चि० वि० सं०,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भूमिका

पुराण भारतीय संस्कृति के मेरुदण्ड हैं। भारतीय संस्कृति को उसका वर्तमान स्वरूप प्रदान करने वाले तत्वों में पुराण प्रमुख हैं। उसके आरम्भ में और उसके आधार के रूप में जो भी तत्व उपस्थित रहे हों और जिन तत्वों ने भी उसे समय-समय पर परिवर्तित और परिवर्धित किया हो, पाश्चात्य प्रभावों से अभिभूत होने तक उसका स्वरूप प्रधानतः पौराणिक ही रहा है। पुराणों ने भारतीय संस्कृति को अनुप्राणित किया है और उसके विभिन्न अंगों को उनकी विशेषता के साथ अभिव्यक्त किया है। भारतीय संस्कृति को उसकी समग्रता और उसके ऐतिहासिक विकास के क्रम में यदि देखना है तो हम उसे पुराणों में ही प्रतिबिंबित पाते हैं।

पुराणों की परंपरा अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद में 'पुराण' शब्द विशेषण के रूप में 'प्राचीनता' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में 'पुराण' एक विशिष्ट विद्या का वाचक है। एक स्थल पर उसका उल्लेख ऋक्, साम, छन्द (अथर्व) और यजुर्वेद के साथ मिलता है (११।७।२४) और दूसरे में इतिहास, गाथा और नाराशंसी के साथ उसका निर्देश हुआ है (१५।१।६)। एसे व्यक्ति जिन्हें पुराण-विद्या का विशेष ज्ञान था 'पुराणवित्' कहलाते थे (११।८।७)। इससे भी पुराण की पृथक् स्थिति का परिचय प्राप्त होता है।

पुराण के नाम से प्रचलित इस सामग्री को समय के साथ ग्रन्थ रूप में संयोजित किया गया। यह प्रश्न विवादास्पद है कि प्रारंभ में एक मूल पुराण-संहिता थी जिससे अन्य पुराण ग्रन्थ निःसृत हुए, किन्तु इतना अवश्य प्रतीत होता है कि तैत्तिरीय आरण्यक (२।९) के काल तक पुराणों की संख्या तीन से कम नहीं थी।

वैदिक काल में ही वैदिक धारा के साथ ही पुराण-धाराके प्रवाह का प्रमाण वैदिक साहित्य के उल्लेखों से प्राप्त होता है। यह परंपरा दीर्घकाल तक चलती रही। सम्प्रति उपलब्ध पुराणों में पुराणों के अवतरण की जो परंपरा निबद्ध की गई है उसमें पुराणधारा और वैदिक धारा के पार्थक्य के साथ ही पुराणधारा की प्राचीनता का भी दावा है।

भागवत पुराण में इतिहास-पुराण को पंचम वेद कह कर वेदों की भांति ब्रह्मा के मुख से ही उनका सर्जन बतलाया गया है। यहाँ यद्यपि वेदों का उल्लेख पहले हुआ है, किन्तु एक दृष्टि से यहाँ भी पुराणों की विशिष्टता दिखलाई गई है। यह कहा गया है कि ब्रह्मा के चारों मुखों में से प्रत्येक से अलग-अलग वेदों का निःसरण हुआ तथा इतिहास-पुराण तो एक साथ ही चारों मुखों से निकले। मार्कण्डेय पुराण (४५।२०-२१) में कहा गया है कि प्राचीन काल में ब्रह्मा के मुख से पुराण और वेद दोनों ही विनिःसृत हुए थे। वेदों को सप्तर्षियों ने ग्रहण किया और पुराण को मुनियों ने। यहाँ पुराण का उल्लेख वेदों के पूर्व है।

मत्स्यपुराण (३।३-४) में तो स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्मा ने सभी शास्त्रों में सर्वप्रथम पुराणों का ही स्मरण किया और अनन्तर उनके मुखों से वेद निसृःत हुये। पुराणों की इस उक्ति का समर्थन इतिहास के द्वारा नहीं हो पाता। वैदिक काल में रचित और प्रचलित कोई भी पुराण प्राप्य नहीं है। उपलब्ध पुराणों के प्राचीनतम अंशों को भी इतना पूर्वकालीन नहीं स्वीकार किया जा सकता। फिर भी इन उल्लेखों से पुराणधारा की प्राचीनता तो निर्विवाद स्थापित हो जाती है।

प्राक्कालीन पुराण का क्या स्वरूप था, पुराणधारा का क्या वैशिष्ट्य था, इन प्रश्नों का उत्तर प्रमाणों के अभाव में कल्पनाधीन ही है। पुराणधारा समृद्ध थी, यह पुराणों की उक्ति है। पुराणों के अवतरण की परंपराओं में उसके प्रारंभिक रूप का वर्णन शतकोटिप्रविस्तरम् (मत्स्य ३।३-४) शब्दों के द्वारा किया गया है। यह संख्या युक्तिसंगत न होने पर भी पुराण के बृहद्रूप का परिचायक है। इतिहास, गाथा और नाराशंसी के साथ पुराण का उल्लेख यह संकेत करता है कि पुराण की इनसे भिन्नता होने पर भी वह इनकी ही कोटि का था। अनुवर्ती काल में भी इतिहास के साथ समस्त होने के कारण पुराण की इतिहास के साथ निकटता और समरूपता सूचित होती है।

वैदिक धारा से पृथक् होने पर भी पुराणधारा का उससे कोई विरोध नहीं था। वैदिक साहित्य में कहीं भी पुराण की निन्दा अथवा अवहेलना के विचारों का आभास नहीं होता। वे समादृत थे और वैदिक अनुष्ठानों में संहिताओं के साथ प्रयुक्त होते थे। पुराणों की वेदरूपता को बृहदारण्यक उपनिषद् में भी उद्घोषित किया गया है। यहाँ इतिहास और पुराण को भी चारों वेदों के साथ

ही ब्रह्म (महतो भूतस्य) का निःश्वास कहा गया है। मार्कण्डेय पुराण में पुराण के परिपालन का कार्य मुनियों और वेदों का ऋषियों से संबंधित करना भी दोनों की पृथकता को सिद्ध करते हुए भी उनमें किसी प्रकार के विरोध की संभावना का संकेत नहीं करता है।

इतिहास के साथ ही पुराण की पंचमवेद के रूप में प्रतिष्ठा पुराणों और वेदों के अविरोध की स्वीकारोक्ति है। पुराण वेदसंमत हैं, यह स्पष्ट कहा गया है। पुराण वेदों के ही मत और सामग्री का समर्थन करते हैं और उसे परिवर्धित करके बोधगम्य बनाते हैं। इसके संबंध में प्रसिद्ध उक्ति है—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत्'। पुराण वेदों का पूरण करने के कारण ही इस नाम से अभिहित हुए हैं (पूरणाच्च पुराणम्)। इस व्युत्पत्ति से भी पुराण और वेदों के पारस्परिक सम्बन्धों का समर्थन किया गया है। पूरण उसी तत्व से किया जाता है, अन्य या वाह्य तत्वों से नहीं। कनकवलय में अपूर्णता होने पर त्रपु से पूर्णता नहीं संपादित होती, इसके लिये स्वर्ण ही प्रयुक्त होता है। अतः वेदार्थों का पूरण करने वाले पुराण भी वेदात्मक हैं, यह निष्कर्ष निकाला गया है। महाभारत में वेद और पुराणों के इस सम्बन्ध की सुललित साहित्यक शैली में अभिव्यक्ति है कि पुराणरूपी पूर्णचन्द्र ने श्रुति की ज्योत्स्ना को प्रकाशित किया है।

पुराणों के प्रामाण्य का विवेचन करते हुए वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में कहा है कि जो ऋषि-मुनि मन्त्र-ब्राह्मण के द्रष्टा तथा प्रवक्ता हैं वही इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र के भी हैं। कुमारिल ने भी पुराणों के प्रामाण्य की सिद्धि उनके वेदमूलक होने से ही की है। शंकराचार्य ने विशद विचार और तर्क की सहायता से 'समूलम् इतिहासपुराणम्' की स्थापना की है।

कालान्तर में व्यावहारिक दृष्टि से पुराणों की उपादेयता अधिक होने के कारण कुछ ग्रन्थों में उनके गौरव को श्रुति की तुलना में अधिक बतलाया गया है। यथा, देवीभागवत की उक्ति है कि श्रुति और स्मृति दो नेत्र हैं और पुराण हृदय (श्रुतिस्मृति उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्)। श्रुति और स्मृति में से किसी एक से हीन मनुष्य को काना और दोनों से हीन को अन्धा कहते हैं। पुराण से हीन तो हृदय-शून्य होगा। पद्मपुराण की एक कथा में श्रुति के मार्ग का अनुसरण करने वाला एक ब्राह्मण अन्त में पश्चात्ताप करते हुए कहता है कि उसने अज्ञानवश केवल वैदिक कर्म ही किये, अनेक शास्त्रों और वेदों का समभ्यास

करके भी पुराणों का श्रवण न करके मनुष्यको ज्ञान नही मिलता। इस सम्बन्ध में सबसे मार्मिक उक्ति नारदीय पुराण (२।२४।१५-२०) में शिव के मुख से हुई है। वेद अनेकशः प्राप्य हैं। वेद को क्रियावेद कहा गया है। वे यज्ञ-कर्म प्रधान हैं। गृहस्थाश्रम के लिये स्मृति ही वेद हैं। दोनों ही पुराणों में प्रतिष्ठित हैं। अनेक विषय जो वेदों में सुस्पष्ट नही है उनका भी निर्णय इतिहास और पुराणों के द्वारा हुआ है। जो वेद में नही प्राप्य है वह कई स्मृतियों में मिलता है और जो दोनों में ही नहीं लक्षित होता उसका वर्णन पुराणों ने किया है। शिव के ही शब्दों में 'सुमुखि ! मैं पुराणार्थ को वेदार्थ से अधिक मानता हूँ, सभी वेद पुराणों में सर्वदा प्रतिष्ठित हैं।'

वेदों से विरोध न होने पर भी पुराणों की विशिष्टता और विलक्षणता क्या है, इस प्रश्न के विवेचन और पुराणों के स्वरूप को समझने के लिए भी पुराणों के गुण का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। वास्तव में उनकी सर्वांगीणता और समन्वयात्मकता ही उनकी जनप्रियता और प्रभावकारिता के पीछे मूल रहस्य रही हैं। वेदों में विहित कर्म दो प्रकार के हैं—प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक। प्रवृत्तिमूलक कर्मकाण्डों के विरुद्ध श्रमण-परम्परा की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप संन्यास को अतिशय महत्व देने की प्रवृत्ति बलवती हुई। उसने भारतीय संस्कृति की साम्यावस्था को उद्वेलित करके उसके झुकाव को एकपक्षीय कर दिया। पुराणों का विशिष्ट कार्य था संन्यास की इस प्रवृत्ति को भी मूल धारा में समाहित करके उसे उचित सापेक्षिक महत्व प्रदान करना। इन दोनों प्रवृत्तियों में समन्वय और संतुलन स्थापित करके समाज और संस्कृति को समरसता दिलाना ही पुराणों की सर्वोच्च उपलब्धि रही है। इसके लिए उन्होंने वेदों को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। इसके साथ ही वर्णाश्रमधर्म को मर्यादित करना और लोक में उसको स्वीकार कराना और पालन कराना पुराणों का लक्ष्य रहा है। इसकी पूर्ति के लिए पुराणकारों ने गृहस्थाश्रम के समुचित गौरव का समर्थन किया। प्रतिज्ञापूर्वक विवरण और व्यवस्था के विधान के द्वारा ही नहीं अपितु प्रभावपूर्ण मार्मिक कथाओं के माध्यम से भी प्रवृत्ति और निवृत्ति में समन्वय की समर्थक दृष्टि की आवश्यकता को जनमानस में बैठाने का कार्य पुराणों ने अत्यन्त सफलता के साथ किया है। मोक्ष के साथ ही धर्म, अर्थ और काम का भी उचित परिपालन हो, पुराण की यह परियोजना प्रारम्भ से ही थी। मत्स्य और स्कन्द में तो जिस आदि पुराण-संहिता का उल्लेख है उसे भी 'त्रिवर्गसाधनं पुण्यं' कहा गया है। पुराणों की यह विशेषता कालान्तर में और

भी अधिक प्रस्फुटित हुई। इसी के चलते पुराणों के आकार में वृद्धि और उनके वर्ण्य विषयों में नये तत्वों का समावेश हुआ।

स्कन्द पुराण के कुमारिका खण्ड (४०।१९८) के अनुसार लोक-गौरव के कारण पुराणों में वृद्धि हुई और भिन्नता आयी। इसको प्राचीन परम्परा ने स्वीकार किया था। लोक कल्याण के लिए ही पुराणों में अनेक विषयों और शास्त्रों का सन्निवेश किया गया। यह सुनियोजित उद्देश्य का परिणाम था। पुराणों के संकलनकर्ताओं पर मनमाने प्रकार से असंबद्ध सामग्री को येन-केन-प्रकारेण प्रविष्ट कर पुराणों को बृहदाकार करने का आधुनिक विद्वानों का आरोप पुराणों की परिकल्पना और उनके विकास की प्रक्रिया की अनभिज्ञता के कारण ही उच्चारित होता है। वायुपुराण (१०४।११-१७) ने उन अनेक धर्मों का उल्लेख किया है जिनका विनिरूपण पुराणों में हुआ है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इन सभी विषयों का सभी पुराणों में समान रूप से समावेश नहीं हुआ है। विषयों की यह सूची पूर्ण नहीं है, तथापि पुराणों को लोकोपकारी बनाने के प्रयास के पीछे जागृत मस्तिष्क और सुस्पष्ट लक्ष्य था, यह इससे सिद्ध होता है। पुराण भारतीय संस्कृति एवं ज्ञान के विश्वकोश बन गये, यह अनियंत्रित विकास की दुर्घटना नहीं थी। स्कन्दपुराण के प्रभास खण्ड में पितामह के मुख से निर्गत पुराण को 'सर्वशास्त्रमय' कहा गया है। नारदीय पुराण (२।२४।१६) में शिव ने बड़े ही प्रभावपूर्ण शब्दों में कहा है कि जैसे यह अद्भुत जगत पुराण पुरुष से उत्पन्न हुआ है वैसे सम्पुर्ण वाङ्मय पुराणों से ही उत्पन्न है।

पुराणों का वर्तमान स्वरूप ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया का परिणाम है। अतएव भारतीय संस्कृति के निरन्तर वर्धमान स्वरूप के विकास क्रम के निर्धारण में हमें पुराणों से बहुमूल्य सहायता प्राप्त हो सकती है। निरुक्त में पुराण की व्युत्पत्ति 'पुरापि नवं भवति' दी गयी है। पुराण प्राचीन काल की कृति होते हुए भी विभिन्न कालों में नया रूप धारण करते हैं, उनके कलेवर में नई सामग्री का समावेश उन्हें नित्य नूतन बनाये रखता है। पुराण स्वयं अपनी इस विशेषता को स्वीकार करते हैं। पुराण समय-समय पर हुए परिवर्तनों और परिवर्धनों के कारण भिन्न-भिन्न रूपों में सम्मुख आते हैं। इस तथ्य को कुमारिका खण्ड ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है--इतिहासपुराणानि भिद्यन्ते लोकगौरवात्। कुमारिल के द्वारा तन्त्रवार्तिक में वेद को अकृत्रिम और पुराण को कृत्रिम कहना भी पुराणों के परिवर्तनशील रूप की ओर ही संकेत करता है।

पुराणों के प्रवर्धमान स्वरूप का प्रमाण पुराणों में प्रस्तुत उनके लक्षणों की नामावलि में भी मिलता है। पुराणों के पंचलक्षण प्रसिद्ध हैं। इनका उल्लेख अमरकोश में हुआ है, तथापि बहुत पहले से ही पुराण इन लक्षणों को लक्ष्मण-रेखा के बाहर आकर भी किसी दोष और हानि के भागी नहीं हुए। किरफेल नामक जर्मन विद्वान का प्रयास प्रशंसनीय है, किन्तु इतिहास के किस चरण में पुराण पूर्णतया इस परिभाषा से निबद्ध थे, इसके निर्णय की संभावना इतिहास-शोध की मृग-मरीचिका मात्र है। संप्रति उपलब्ध सभी पुराण इस परिभाषा से आगे बढ़ कर विकसित दीखते हैं। पुराणों में समाविष्ट नई सामग्री का पुराण की पुरानी सामग्री के साथ सामंजस्य और उसके औचित्य का प्रतिपादन कभी तो प्रचलित पंचलक्षणों की नई व्यवस्था और उसके विस्तृत आयाम की कल्पना के द्वारा और कभी नये लक्षणों को जोड़ कर दशलक्षणों की परिकल्पना के माध्यम से किया गया। दशलक्षण की कई सूचियाँ मिलती हैं। इनमें मूलतः कोई अन्तर न होने पर भी लक्षणों के नामकरण में कुछ भिन्नता दिखलाई पड़ती है। यथा, भागवत पुराण में ही २।१०।१ और १२।७।९ में प्राप्य सूचियों में कुछ लक्षणों के नामकरण में शब्दों का अन्तर है।

लोकोपयोगी विद्याओं का समावेश न्यूनाधिक कई पुराणों में मिलता है। किन्तु जिन्होंने इन अंशों के कारण विश्वकोशीय स्वरूप प्राप्त किया है उनमें अग्नि, गरुड और नारदीय विशेष उल्लेखनीय हैं। उपपुराणों में विष्णुधर्मोत्तर इन पुराणों का ही समकक्ष हो जाता है। अनेक विज्ञानों और शास्त्रों की प्रामाणिक सामग्री की उपस्थिति के कारण इन पुराणों का विशेष गौरव और महत्व है।

विज्ञान और तकनीक के क्षेत्रों में प्राचीन काल में भारत की उपलब्धियाँ सर्वथा प्रशंसनीय रही हैं। किन्तु भारतीय संस्कृति के अध्ययन और शोध की परम्परा की स्थापना करने वाले पाश्चात्य विद्वान अध्यात्म, कला और साहित्य में भारत की अद्भुत कृतियों से इतने अभिभूत थे कि वे भारतीय जीवन के व्यावहारिक पक्ष और संबंधित शास्त्रों और विज्ञानों को समुचित महत्व न दे सके। शोध की इसी परंपरा का अनुसरण करने के कारण भारतीय इतिहासकारों ने भी इस विषय की उपेक्षा ही की है। वैज्ञानिकों में प्रफुल्लचन्द्र राय और ब्रजेन्द्र नाथ शील के उत्कृष्ट उदाहरण भी अनुवर्ती शोधकों को उत्साह और प्रेरणा देने में सफल न हो सके। भारतीय इतिहास और संस्कृति के अन्य क्षेत्रों

में शोध से जहां यश सद्यः– प्राप्य रहा है वहां विज्ञान के इतिहास पर लिखने वाला अपने को विज्ञान और इतिहास दोनों ही के विद्वत्समाज में उपेक्षित पाता रहा है।

आर्थिक इतिहास को अपना सर्वप्रथम कार्यक्षेत्र चुनने के बाद उत्पादन की तकनीक में रुचि के कारण मेरा ध्यान विज्ञान की ओर स्वाभाविक ही खिचा। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में कार्य आरंभ करने के बाद मैंने सोचा कि यदि सर्वविद्या की इस राजधानी में प्राचीन भारतीय विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों की संरचना नहीं हो सकती तो वह अन्यत्र अत्यन्त दुष्कर है। कुछ विषयों पर स्वयं कार्य करने के अतिरिक्त मैंने अपने कुछ विद्यार्थियों और कुछ सहयोगियों को भी इन नवीन क्षेत्रों की ओर खींचा। डा० श्रीमती राधारानी उपाध्याय ने चरक-संहिता में प्राप्य सांस्कृतिक सामग्री का विश्लेषण किया। १९७० से १९७३ तक दर्शन-विभाग में व्यवस्था के विषय में मिली स्वतन्त्रता और अधिकार का लाभ उठाकर मैंने अनेक शास्त्रों के सहयोग और समन्वय के माध्यम से आयुर्वेद के इतिहास में शोध के आयाम को उजागर करना चाहा। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस विषय के अध्ययन के लिये संस्कृत भाषा में निष्णात होने के साथ ही शोधकर्त्ता को इतिहास और दर्शन की विधियों का परिचय और आयुर्वेद के विषय का वैज्ञानिक ज्ञान भी अपेक्षित है। प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग में १९७३ में लौट आने पर इस प्रकार के शोधकार्यों में नये परिवेश में जो व्यवस्था की बाधायें उपस्थित हुईं उनका परिहार आयुर्वेद और इतिहास के विद्वानों के संयुक्त निर्देशन में शोध-कार्य की परम्परा के द्वारा किया गया। इस शोध महायज्ञ में आयुर्वेद विभाग के जिन सहयोगियों की उल्लेखनीय भूमिका रही है उनमें प्रो० प्रियव्रत शर्मा, प्रो० लक्ष्मी शंकर गुरु प्रो० राम सुशील सिंह, प्रो० गोरखनाथ चतुर्वेदी, डा० ज्योतिर्मित्र और डा० गोविन्द प्रसाद दुबे का नाम सादर उच्चारित करूंगा। इनके प्रयास से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कई विभागों में जो शोधकार्य हुये हैं, उनसे भारतीय चिकित्साशास्त्र के वैज्ञानिक इतिहास की रूपरेखा ही नहीं उभरी है, उनमें यथोचित रंग का सन्निवेश भी हुआ है। ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की अनेक उत्कृष्ट उपलब्धियों में इसका भी स्थान किसी से कम महत्व का नहीं है।

पुराणों में आयुर्वेदीय सामग्री पर डा० ज्योतिर्मित्र के निर्देश में तीन सफल शोध प्रयास हुए हैं। कुमारी जयन्ती भट्टाचार्य ने गरुड पुराण, कुमारी सरिता

हांडा ने अग्नि पुराण और श्री रमेशचन्द्र श्रीवास्तव ने विष्णुधर्मोत्तर पुराण को अपने अध्ययन का विषय चुना। इनके अध्ययन के परिणामस्वरूप इस विषय में हमारा ज्ञान निश्चय ही अग्रसर हुआ है। इनमें से कुमारी सरिता हांडा के शोध-प्रबन्ध के प्रकाशन के अवसर पर आज मुझे सच्ची हर्षानुभूति और सन्तुष्टि हो रही है।

तीनों ही ग्रंथों में अग्निपुराण में विविध विज्ञानों की सामग्री सबसे अधिक है। सर्व वेद, विद्या एवं ज्ञानमय यह पुराण विद्यार्थियों को विद्या, अर्थार्थियों को लक्ष्मी एवं धन-सम्पत्ति, राज्यार्थियों को राज्य, धर्मार्थियों को धर्म, स्वर्गार्थियों को स्वर्ग, पुत्रार्थियों को पुत्र, गोधन अभिलाषी को गोधन, ग्रामाभिलाषी को ग्राम, कामार्थी को काम, पूर्ण सौभाग्य, गुण तथा कीर्ति, विजयेच्छु को विजय और सर्वेप्सु को सब कुछ और मोक्षकामियों को मोक्ष प्रदान करनेवाला और पापियों के पाप का नाशक है। पुराणकार को भी इस ग्रंथ के इस महिम रूप का साक्षात्कार था। प्रारंभ से ही उसने अग्नि पुराण को विश्वकोशीय स्वरूप प्रदान करके का संकल्प किया। प्रथम अध्याय में ही वह समस्त विद्याओं का सार प्रस्तुत करने के अपने निश्चय का उद्घोष करता है। विद्याओं को परा और अपरा दो वर्गों में विभाजित किया गया है। परा के द्वारा परब्रह्म की प्राप्ति होती है। अपरा में चार वेद, छः वेदाङ्ग, अभिधान, मीमांसा, धर्मशास्त्र, पुराण, न्याय, वैद्यक, गांधर्व, धनुर्वेद और अर्थशास्त्र की परिगणना होती है। पुराणकार ने अपने इस संकल्प का विधिवत् परिपालन किया है। अतः पुराण के अन्तिम अध्याय में 'आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वाः विद्याः प्रदर्षिताः' की गर्वोक्ति सर्वथा युक्त एवं सत्य है। राजेन्द्र चन्द्र हाजरा ने यह प्रदर्शित किया है कि पुराणकार ने रामायण, महाभारत, हरिवंश, वायुपुराण का गया-माहात्म्य अंश, भाष्ययुक्त पिङ्गलसूत्र, अमरकोश, युद्धजयार्णव, पालकाप्य कृत हस्त्यायुर्वेद, नारद स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति और विष्णुपुराण से सामग्री साररूप में और कहीं मूलरूप में अपने पुराण में स्वीकृत की थी। डा० सरिता हांडा ने इस पर सुधार करते हुए यह दिखलाया है कि अग्निपुराण में कठोपनिषद् से यम-गीता, भगवद्गीता से गीतासार, पातंजल योगसूत्र और उसकी टीकाओं से योग और तन्त्रों से प्रचुर तांत्रिक सामग्री को भी अनुस्यूत किया गया है। अग्नि पुराण की आयुर्वेदीय सामग्री के विषय में डा० हांडा ने निश्चयात्मक रूप से यह सिद्ध किया है कि इसके स्रोत हैं वाग्भट कृत अष्टांग-संग्रह, वृन्दमाधव, चक्रपाणि कृत चक्रदत्त और विष्णुधर्मोत्तर पुराण।

अग्निपुराण में अनेक विषयों की सामग्री के आधार पर विद्वानों ने अग्नि-पुराण की रचना की विभिन्न तिथियां प्रस्तावित की हैं। डा० हांडा का निष्कर्ष है कि अग्निपुराण की दार्शनिक सामग्री तृतीय शताब्दी से पूर्व की नहीं हो सकती। आयुर्वेदीय सामग्री के आधारपर उन्होंने सप्रमाण और सतर्क यह मत प्रस्तुत किया है कि अग्निपुराण में सामग्री का संकलन बारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक हुआ है।

अनेक बाधाओं के होते हुए भी जिस परिश्रम और निष्ठा से डा० हांडा ने अपने शोध कार्य को पूरा किया और संप्रति विद्वज्जगत् के सम्मुख प्रस्तुत किया वह श्लाघ्य है। उन्हें इससे समादर प्राप्त होगा और वे तुलनीय शोध उपलब्धियों से हमें उपकृत करेंगी, यह शुभकामना है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय   लल्लनजी गोपाल
वाराणसी
मकर संक्रान्ति, जनवरी १४, १९८२

प्रस्तावना

'अग्निपुराण की दार्शनिक एवं आयुर्वेदीय सामग्री का अध्ययन' नामक प्रस्तुत शोध ग्रन्थ अग्निपुराण के आभ्यन्तर निहित दार्शनिक एवं आयुर्वेदीय सामग्री के मूल्यांकन का एक चिरप्रतीक्षित प्रयास है। अष्टादश महापुराणों में अग्निपुराण का एक महत्वपूर्ण स्थान है। पुराण पञ्चलक्षण (सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर एवं वंशानुचरित) के अतिरिक्त इसमें अनेक विषयों का समावेश है। श्रीमद्भागवत के अनुसार पुराण के दसलक्षणों के अन्तर्गत 'वृत्ति' की परिधि में आयुर्वेद को एक प्रतिपाद्य विषय के रूप में रखा जा सकता है जब कि सर्ग एवं प्रतिसर्ग की समस्या के समाधान के रूप में दर्शन का निवेश पुराण के औचित्य को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। दर्शन एवं आयुर्वेद का सम्बन्ध अतिप्राचीन काल से चला आ रहा है। आयुर्वेद के सिद्धान्तों का निर्माण सांख्य, योग, न्याय एवं वैशेषिक के विविध प्रस्थानों के आधार पर हुआ। जिस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति एवं प्रलय का विवेचन दर्शन करता है उसी प्रकार आयुर्वेद भी शरीर की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश के अनेक तथ्यों का प्रतिपादन कर दुःख या व्याधि के विनाश के लिए अनेक प्रकार के चिकित्सोपचारका उल्लेख करता है। यही कारण है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में अग्निपुराण के आभ्यन्तर निहित इन दो विषयों का पृथक-पृथक अध्ययन प्रस्तुत किया गया। दर्शन और आयुर्वेद की कतिपय समान विधाओं के निमित्त प्रस्तुत विषय का चयन करना उचित समझा गया।

पुराणों के विविध वर्गीकरणों के अन्तर्गत अग्निपुराण को तामस (पद्म-पुराणानुसार) या राजस (मत्स्यपुराणानुसार) तथा धार्मिक तथ्य से शैवपुराण माना गया है। प्रस्तुत शोधकार्य का अधार अग्निपुराण का चौखम्बा सस्करण (१९६७ ई०) है जो कि जीवानन्द संस्करण (१८८२), बिब्लियोथेका इण्डिका सिरीज (१८७३–७९ ई०); आनन्द आश्रम संस्करण (१९०० ई०) एवं वंग-वासी संस्करण (१९०५ ई०) पर पूर्णतया आधारित है। यह विश्वकोषात्मक पुराण ३८३ (एक माहात्म्य अध्याय सहित) अध्यायों तथा ११४५७ श्लोकों में निबद्ध है। यद्यपि अन्य पुराणों (ब्रह्म, विष्णु, वायु, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय) के अनुसार इसके श्लोक संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है तथापि

अभिमत संख्या द्वादशसहस्र के लगभग ही है। प्रस्तुत शोधकार्य के लिए उपर्युक्त सभी संस्करणों के अतिरिक्त गुरुमण्डल संस्करण (१९५७) से भी विषय-सामग्री के स्पष्टीकरणार्थ सहायता ली गई है।

अग्निपुराण के प्राचीन संस्करणों में विब्लियोथेका इण्डिका सिरीज (सं० ३७३) में राजेन्द्र लाल मिश्र द्वारा सम्पादित एवं एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल द्वारा प्रकाशित (कलकत्ता १८७७ ई०) संस्करण प्राचीनतम है। इसमें २५० अध्याय तो चौखम्बा संस्करण के समान ही हैं पर आगे चलकर एक अध्याय दूसरे में विलीन हो गया है यही कारण है कि २६९ वें अध्याय में जो सामग्री राजेन्द्र लाल मिश्र संस्करण में है वही सामग्री चौखम्भा संस्करण के २७० वें अध्याय में आयी है। इस प्रकार यह उपर्युक्त संस्करण ३८२ अध्यायों में समाप्त हो गया है। इसके अतिरिक्त इस संस्करण में रामलाल मिश्र ने अग्निपुराण परिशिष्ट के रूप में अनेक अध्याय ग्रन्थ के अन्त में जोड़ दिये हैं जो किसी भी संस्करण में नहीं हैं। द्वितीय संस्करण जीवानन्द विद्या सागर द्वारा सम्पादित (१८८२ ई०) हो कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इसमें भी ३८२ अध्याय हैं। इस संस्करण का उपयोग पार्जिटर ने किया। तृतीय संस्करण श्री हरिनारायण आप्टे का है जो आनन्द आश्रम संस्कृत सिरीज (स० ४१) में पूना से १९०० ई० में प्रकाशित हुआ है। इसमें भी सभी सामग्री पूर्ववत् ही है। चतुर्थ संस्करण वंगवासी प्रेस, कलकत्ता के १९०६ ई० (१३१४ बगाब्द) में पञ्चानन तर्करत्न द्वारा सम्पादित होकर बंगीय लिपि में वंगभाषानुवाद सहित प्रकाशित हुआ। किन्तु उससे भी पूर्व श्री मन्मथनाथ दत्त शास्त्री ने अपने द्वारा स्थापित भारतीय प्राच्यज्ञान संजीवनी समिति के तत्त्वावधान में कलकत्ता से अग्निपुराण का आंग्लभाषानुवाद दो खण्डों में १९०३-४ ई० में प्रकाशित किया है। यह पुनः चौखम्बा से १९६० में प्रकाशित हुआ है। इनके अनुवाद का आधार संस्करण कौन था—इस विषय में लेखक स्वभूमिका में स्वतः मौन है। इस अनूदित संस्करण में विचित्रता यह आ गई है कि म० म० ना० शास्त्री जी के संस्करण से ३८२ अध्यायों के स्थान पर ३६४ अध्यायों के ही अनुवाद हैं। ३४८ अध्याय तक का क्रम ठीक रहा है पर चौ० सं० के ३४९ से ३६८ अध्याय (समग्र १८) मन्मथनाथ दत्त के अनुवाद में नहीं हैं। षष्ठ संस्करण वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई का है जो १९२१ ई० में प्रकाशित हुआ। इस संस्करण में 'अथ संग्राम विजय विद्या' नामक १३५ वाँ अध्याय अतिरिक्त है जो अन्य किसी संस्करण में उपलब्ध नहीं होता। सप्तम संस्करण गुरुमण्डल ग्रन्थमाला (सं० १७) में मोर परिवार द्वारा १९५७

में प्रकाशित हुआ। अष्टम संस्करण दो खण्डों में आचार्य श्रीराम शर्मा द्वारा हिन्दी अनुवाद सहित बरेली से १९६८ ई० में प्रकाश में आया। यह संस्करण पाठ की दृष्टि से सर्वथा भ्रष्ट है। इसके अतिरिक्त 'कल्याण' मासिक पत्र के दो अंकों में (१ से २००; एवं २०१–३८३ अध्याय) अग्निपुराण का कुछ अच्छा अनुवाद १९७० एवं १९७१ में प्रकाशित हुआ। नवम संस्करण चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी से आचार्य बलदेव उपाध्याय के द्वारा प्रकाशित हो १९६७ मे प्रकाश में आया। जो शोध सामग्री इस संस्करण से ली गई वह प्रायः ग्रन्थ में भ्रष्ट ही प्रतीत हुई जिसका संशोधन तत्तत् स्रोत ग्रन्थों की सहायता से कर उन पर कार्य आरम्भ किया गया।

अ० पु० के सभी संस्करणों में आयुर्वेद एवं दर्शन की सामग्री प्रायः समान ही है।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ दार्शनिक एवं आयुर्वेदिक इन दो खण्डों में विभक्त है जिनमें से प्रथम खण्ड के अन्तर्गत चार अध्याय हैं जिनमें से प्रथम अध्याय अग्निपुराण की दार्शनिक पृष्ठभूमि का चित्रण करता है। द्वितीय अध्याय सेश्वर सांख्य की विचारधाराओं का निरूपण करता है। सृष्टि उत्पादन एवं प्रलय का प्रतिपादन इसी सांख्य-प्रस्थानीय सामग्री के शीर्षक के अन्तर्गत हुआ है। इस अध्याय की समग्र सामग्री अ० पु० के चार अध्यायों (१७, २०, ५९ एवं ३७८) में निहित है। इनमें से आदि के दो सृष्टि निर्माण, तृतीय सांख्य सम्मत २५ तत्त्वों का आलंकारिक वर्णन एवं अन्तिम अध्याय प्रलय का स्वरूप प्रस्तुत करता हैं। शोध ग्रन्थ का तृतीय अध्याय अष्टांग योग का सांगोपांग वर्णन करता है और यह सामग्री अ० पु० में पाँच अध्यायों (३७२–३७६) में विद्यमान है। इस विचारधारा के स्रोत पातञ्जल योगदर्शन आदि ग्रन्थ है। चतुर्थ अध्याय में वेदांत-प्रस्थानीय सामग्री एवं ब्रह्म का निरूपण प्रतिपादित है। इसी अध्याय में यमगीता एवं गीतासार की भी विवेचना की गई जिनका स्रोत क्रमशः कठोपनिषद् एवं श्रीमद्भगवद्गीता हैं। इस अध्याय की सभी सामग्री अ० पु० के चार अध्यायों (३७७–३८०) में सुरक्षित है।

द्वितीय खण्ड में सम्बद्ध विषय की सामग्री एकादश अध्यायों में प्रस्तुत की गई है। प्रथम अध्याय आयुर्वेद की पुराणात्मक पृष्ठभूमि का निदर्शन कराता है। यद्यपि आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग है तथापि उसमें संस्कर्त्ताओं के कारण यत्र-तत्र पौराणिक पुट निहित है। द्वितीय अध्याय में आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांव की सामग्री प्रस्तुत की गई है जो अ० पु० में स्थल-स्थल पर उपन्यस्त है।

तृतीय अध्याय की सामग्री शरीर रचनापरक एवं प्रशस्त सामुद्रिक लक्षण की परिचायिका है इनमें से शरीर शास्त्र की सामग्री का स्रोत अविकल रूप से वृद्ध वाग्भट का अष्टांसंग्रह ही है। चतुर्थ अध्याय में गर्भावक्रान्ति विषयक सामग्री का आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है। इस अध्याय का भी स्रोत रहा है अष्टांगसंग्रह एवं याज्ञवल्क्यस्मृति। पंचम अध्याय में स्वस्थवृत्त की सामग्री प्रतिपादित है जिसमें वैयक्तिक, सामाजिक एवं अचारपरक स्वस्थवृत्त सम्मिलित है। इसी प्रकरण में द्रव्य शुद्धि का भी निरूपण है। यह सामग्री अ० पु० में तीन-चार अध्यायों (१५५; २६५: २६७, २८१) में निहित है और इनके स्रोत आयुर्वेदीय ग्रन्थ ही हैं। षष्ठ अध्याय में द्रव्यगुण शास्त्र के प्रतिपादित रस, गुण, वीर्य, विपाक सिद्धांत, पञ्चविध कषाय कल्पना औषधियों के पर्याय एवं वर्ग निरूपित हैं। इसके अतिरिक्त औषध-मान एवं देवार्चना निमित्त प्रयुक्त औषधियों के पुष्प, वनौषधियों के पर्याय एवं संक्षिप्त गुण भी अंकित हैं। अमरकोष के वनौषधिवर्ग को अग्निपुराण ने आनुपूर्वी (३६३वें अध्याय में) उतार लिया है। अ०पु० में यावन्मात्र वनौषधियों, धातु-उपधातुओं, खनिजों, रत्नों, खाद्य-पेय द्रव्यों का उल्लेख है उसका संकेत परिशिष्ट में कर दिया गया है। सप्तम अध्याय विविधसर्पों एवं क्षुद्र विषैले जन्तुओं द्वारा दष्ट व्यक्तियों की औषध एवं मन्त्र द्वारा चिकित्सा का प्रतिपादन करता है। यह सामग्री अ० पु० में चार अध्यायों (२९४, २९५, २८७, २९८) में आई है और इसका भी स्रोत सुश्रुत संहिता है। अष्टम अध्याय में बालरोगों के लिये उत्तरदायी विविध स्त्री ग्रहों एवं उनसे आक्रान्त शिशुओं के लक्षणों को प्रदर्शित कर उनकी चिकित्सा बताई गई है। यह सामग्री अ० पु० के एक ही अध्याय (२९९) में आई है जिसका स्रोत वैद्य कल्याण का बालतन्त्र है। इसके अतिरिक्त इससे सम्बद्ध कतिपय देवव्यपाश्रय योग भी सन्निहित हैं। नवम अध्याय भूतविद्याविषयक सामग्री का वर्णन करता है इसी में अनेक रोगशामक उपचार (मन्त्र एवं हवन) प्रदर्शित हैं। वशीकरण की भी सामग्री इसी अध्याय में दी गई है। मन्त्रों में अनेक प्रकार के वैदिक एवं तान्त्रिक मन्त्र सम्मिलित हैं। मन्त्र एवं औषधियों का संयुक्त निरूपण कौशिकसूत्र की स्मृति कराता है। दशम अध्याय में कायचिकित्सा, शल्य एवं शालाक्य शास्त्र के रोगों की चिकित्सा का उल्लेख है। इसका स्रोत चक्रदत्त, वृन्दमाधव एवं अष्टांग-संग्रह है। अन्तिम एकादश अध्याय रसायन एवं वाजीकरण परक सामग्री का निरूपण करता है। अ० पु० के मृतसंजीवनी एवं अमरीकर योग चिकित्साजगत् के लिये एक मौलिक अवदान प्रस्तुत करते हैं।

में प्रकाशित हुआ। अष्टम संस्करण दो खण्डों में आचार्य श्रीराम शर्मा द्वारा हिन्दी अनुवाद सहित बरेली से १९६८ ई० में प्रकाश में आया। यह संस्करण पाठ की दृष्टि से सर्वथा भ्रष्ट है। इसके अतिरिक्त 'कल्याण' मासिक पत्र के दो अंकों में (१ से २००; एवं २०१–३८३ अध्याय) अग्निपुराण का कुछ अच्छा अनुवाद १९७० एवं १९७१ में प्रकाशित हुआ। नवम संस्करण चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी से आचार्य बलदेव उपाध्याय के द्वारा प्रकाशित हो १९६७ मे प्रकाश में आया। जो शोध सामग्री इस संस्करण से ली गई वह प्रायः ग्रन्थ में भ्रष्ट ही प्रतीत हुई जिसका संशोधन तत्तत् स्रोत ग्रन्थों की सहायता से कर उन पर कार्य आरम्भ किया गया।

अ० पु० के सभी संस्करणों में आयुर्वेद एवं दर्शन की सामग्री प्रायः समान ही है।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ दार्शनिक एवं आयुर्वेदिक इन दो खण्डों में विभक्त है जिनमें से प्रथम खण्ड के अन्तर्गत चार अध्याय हैं जिनमें से प्रथम अध्याय अग्निपुराण की दार्शनिक पृष्ठभूमि का चित्रण करता है। द्वितीय अध्याय सेश्वर सांख्य की विचारधाराओं का निरूपण करता है। सृष्टि उत्पादन एवं प्रलय का प्रतिपादन इसी सांख्य-प्रस्थानीय सामग्री के शीर्षक के अन्तर्गत हुआ है। इस अध्याय की समग्र सामग्री अ० पु० के चार अध्यायों (१७, २०, ५९ एवं ३७८) में निहित है। इनमें से आदि के दो सृष्टि निर्माण, तृतीय सांख्य सम्मत २५ तत्त्वों का आलंकारिक वर्णन एवं अन्तिम अध्याय प्रलय का स्वरूप प्रस्तुत करता हैं। शोध ग्रन्थ का तृतीय अध्याय अष्टांग योग का सांगोपांग वर्णन करता है और यह सामग्री अ० पु० में पाँच अध्यायों (३७२–३७६) में विद्यमान हैं। इस विचारधारा के स्रोत पातञ्जल योगदर्शन आदि ग्रन्थ है। चतुर्थ अध्याय में वेदांत-प्रस्थानीय सामग्री एवं ब्रह्म का निरूपण प्रतिपादित है। इसी अध्याय में यमगीता एवं गीतासार की भी विवेचना की गई जिनका स्रोत क्रमशः कठोपनिषद् एवं श्रीमद्भगवद्गीता है। इस अध्याय की सभी सामग्री अ० पु० के चार अध्यामों (३७७–३८०) में सुरक्षित है।

द्वितीय खण्ड में सम्बद्ध विषय की सामग्री एकादश अध्यायों में प्रस्तुत की गई है। प्रथम अध्याय आयुर्वेद की पुराणात्मक पृष्ठभूमि का निदर्शन कराता है। यद्यपि आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग है तथापि उसमें संस्कर्त्ताओं के कारण यत्र-तत्र पौराणिक पुट निहित है। द्वितीय अध्याय में आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांत की सामग्री प्रस्तुत की गई है जो अ० पु० में स्थल-स्थल पर उपन्यस्त है।

तृतीय अध्याय की सामग्री शरीर रचनापरक एवं प्रशस्त सामुद्रिक लक्षण की परिचायिका है इनमें से शरीर शास्त्र की सामग्री का स्रोत अविकल रूप से वृद्ध वाग्भट का अष्टांसंग्रह ही है। चतुर्थ अध्याय में गर्भावक्रान्ति विषयक सामग्री का आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है। इस अध्याय का भी स्रोत रहा है अष्टांगसंग्रह एवं याज्ञवल्क्यस्मृति। पंचम अध्याय में स्वस्थवृत्त की सामग्री प्रतिपादित है जिसमें वैयक्तिक, सामाजिक एवं अचार-परक स्वस्थवृत्त सम्मिलित हैं। इसी प्रकरण में द्रव्य शुद्धि का भी निरूपण है। यह सामग्री अ० पु० में तीन-चार अध्यायों (१५५; २६५: २६७, २८१) में निहित है और इनके स्रोत आयुर्वेदीय ग्रन्थ ही हैं। षष्ठ अध्याय में द्रव्यगुण शास्त्र के प्रतिपादित रस, गुण, वीर्य, विपाक सिद्धांत, पञ्चविध कषाय कल्पना औषधियों के पर्याय एवं वर्ग निरूपित हैं। इसके अतिरिक्त औषध-मान एवं देवार्चना निमित्त प्रयुक्त औषधियों के पुष्प, वनौषधियों के पर्याय एवं संक्षिप्त गुण भी अंकित हैं। अमरकोष के वनौषधिवर्ग को अग्निपुराण ने आनुपूर्वी (३६३वें अध्याय में) उतार लिया है। अ०पु० में यावन्मात्र वनौषधियों, धातु-उपधातुओं, खनिजों, रत्नों, खाद्य-पेय द्रव्यों का उल्लेख है उसका संकेत परि-शिष्ट में कर दिया गया है। सप्तम अध्याय विविधसर्पों एवं क्षुद्र विषैले जन्तुओं द्वारा दष्ट व्यक्तियों की औषध एवं मन्त्र द्वारा चिकित्सा का प्रतिपादन करता है। यह सामग्री अ० पु० में चार अध्यायों (२९४, २९५, २८७, २९८) में आई है और इसका भी स्रोत सुश्रुत संहिता है। अष्टम अध्याय में बालरोगों के लिये उत्तरदायी विविध स्त्री ग्रहों एवं उनसे आक्रान्त शिशुओं के लक्षणों को प्रदर्शित कर उनकी चिकित्सा बताई गई है। यह सामग्री अ० पु० के एक ही अध्याय (२९९) में आई है जिसका स्रोत वैद्य कल्याण का बालतन्त्र है। इसके अतिरिक्त इससे सम्बद्ध कतिपय देवव्यपाश्रय योग भी सन्निहित हैं। नवम अध्याय भूतविद्याविषयक सामग्री का वर्णन करता है इसी में अनेक रोगशामक उपचार (मन्त्र एवं हवन) प्रदर्शित हैं। वशीकरण की भी सामग्री इसी अध्याय में दी गई है। मन्त्रों में अनेक प्रकार के वैदिक एवं तान्त्रिक मन्त्र सम्मिलित हैं। मन्त्र एवं औषधियों का संयुक्त निरूपण कौशिकसूत्र की स्मृति कराता है। दशम अध्याय में कायचिकित्सा, शल्य एवं शालाक्य शास्त्र के रोगों की चिकित्सा का उल्लेख है। इसका स्रोत चक्रदत्त, वृन्दमाधव एवं अष्टांग-संग्रह है। अन्तिम एकादश अध्याय रसायन एवं वाजीकरण परक सामग्री का निरूपण करता है। अ० पु० के मृतसंजीवनी एवं अमरीकर योग चिकित्साजगत् के लिये एक मौलिक अवदान प्रस्तुत करते हैं।

इसके अतिरिक्त उपसंहार सहित ग्यारह परिशिष्टों में अग्निपुराण-उपन्यस्त वनस्पतियों, धातु-उपधातुओं, खनिजों, रत्नों, जांगम द्रव्यों, खाद्य-पेय द्रव्यों, शरीरावयवपर्यायों, रोगों एवं उनके पर्यायों तथा समान श्लोकों की ससन्दर्भ तालिका भी प्रस्तुत की गई जिससे अन्य शोधकर्त्ताओं का मार्ग प्रशस्त हो सके।

प्रस्तुत अध्ययन परिपूर्ण हो जाने पर मेरा अपना यह नम्र निवेदन है कि पुराण वाङ्मय में गरुडपुराण के अतिरिक्त यह प्रमुख पुराण है जिसमें आयुर्वेद की प्रचुर सामग्री विद्यमान है। यह केवल आयुर्वेद के विभिन्न ग्रन्थों के विशिष्ट अंश का संग्रह मात्र ही नहीं है अपितु लुप्त, गुप्त एवं अद्यावधि अप्रकाशित आयुर्वेद के तथ्य पर भी प्रकाश डालने वाला है। इस काल में पारद-गन्धक की उपलब्धि हो गई और उनका बाह्य प्रयोग आरम्भ हो गया था। गोरोचना से मसूरिका चिकित्सा इस काल की अनुपम देन है।

एच० एच० विल्सन ने विष्णुपुराण की भूमिका में एफ० इ० पार्जिटर ने Ancient India-Historical Tradition एवं The Purana Text of the Kali Age में, म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने 'A Descriptive Catalogue of Sanskrit-Manuscripts in the Govt,' Volume V में एम० विण्टरनित्स ने History of Indian Literater, Vol. II में तथा डा० राजेन्द्र चन्द्र हाजरा ने "Studies in the Puranic Records on Hindu Rites and Custom" इस पुराण का सर्वांगीण अध्ययन काल-क्रम की दृष्टि से प्रयुक्त किया है। ए० डी० पुसालकर ने भी अपने "Studies in the Epics and Puranas" में भी अग्निपुराण के काल निर्णय के विषय में एस० वी० चौधरी, पी० सी० लहरी, राघवन्, मेयर एवं एस० के० डे० के विचारों को प्रस्तुत किया है।

इस पुराण पर अनेक शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं जिनमें से एस० डी० ज्ञानी की "The Agni Puranas with special refence to its literary aspect एवं बमबहादुर मिश्र की Polity in the Agnipurana प्रकाशित हो पाठकों को उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त डा० रामप्रताप वेदालंकार की 'अग्निपुराण काव्य व्याकरणकोवादिविचारः' (दिल्ली विश्व विद्यालय से पीएच० डी० निमित्त स्वीकृत (१९५३) एवं अप्रकाशित) एवं जूथिका राय का 'अग्निपुराण का सांस्कृतिक अनुशीलन' (काशी हिन्दू विश्व विद्यालय से पीएच० डी० उपाधि निमित्त स्वीकृत (१९६८) एवं अप्रकाशित) नामक शोध-प्रबन्ध भो इस पुराण के वितत अध्ययन के परिचायक हैं।

इस पुराण पर कतिपय लेख भी प्रकाशित हुए हैं जिनमें से तीन लेख अग्निपुराण के आयुर्वेदीय सामग्री पर हैं और एक अग्निपुराण के कालनिर्णय पर है। १९ पृष्ठों का एक वृहत् शोध-पत्र Feinhold F. G. Muller द्वारा "ARCHIV ORIENTALNI" नामक शोध-पत्रिका में "Medizingeschichtliche bemerkungen rum Agni Purana" शीर्षक से वर्ष ३१ के अंक में १९६३ में प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त अ० पु० के सर्वरोग हर :औषध नामक २८० वें अध्याय पर भी Arrtliche Lehren in Agni Purana २८० एक शोध पत्र उपर्युक्त लेखक द्वारा ही "ROCZHIK ORIENTALIST" (Vol. XXVIII, No. १, १९६४, pp. १२७—१३४) में प्रकाशित हुआ है। तृतीय अग्निपुराण में आयुर्वेदीय सामग्री नामक लेख श्री निवास शर्मा द्वारा 'आयुर्वेद विकास' (वर्ष ८, सं० १०–११ १९६८) में प्रकाशित हुआ है। डा० बी० बी० मिश्र का "Human Anatomy in the Agni Purana" नामक एक शोधपत्र "Indian Journal of History of Science" (Vol. ५, No. १, pp. १०१-११२; May १९७०). मैं भी प्रकाशित हुआ है। 'अग्निपुराण का रचना-काल' विषयक शोध-पत्र पारसनाथ द्विवेदी द्वारा "Agrg Universiiy Journal of Research (Letters) (Vol. XIX, pt. II July, 1971, pp.75-86) प्रकाश में आया है।

इन सभी शोध-पत्रों में अयुर्वेदीय सामग्री का यथोचित मूल्यांकन नहीं हो पाया है। विदेशीय विद्वानों के लेख में अवश्य गाम्भीर्य है पर वे आयुर्वेदीय स्रोतों को पूर्णतया अवलोकित नहीं कर पाये हैं। शोधग्रन्थ तो इस विषय पर अभी तक किसी विश्वविद्यालय से प्रस्तुत भी नहीं हुए है अतएव इस न्यूनता की पूर्त्ति के लिए यह शोधग्रन्थ प्रस्तुत किया जा रहा है।

मेरे शोध-ग्रन्थ का वैशिष्टय इस प्रकार है—

(१) अ० पु० में उपन्यस्त आयुर्वेदीय विषयों के पाठों को तत्तत् स्रोत विषयों से तुलना कर उनकी पाठ शुद्धि की गई है और यह पाठ शुद्धि अभी तक अ० पु० के किसी भी प्रकाशित संस्करण या उस पर किये गये किसी भी अध्ययन ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।

(२) चरक-सुश्रुत अष्टांगसंग्रह, वृन्द्रमाधव एवं चक्रदत्त में उपलब्ध अनेक विषयों का परीक्षण अ० पु० के प्रकाश में किया गया।

(३) परिशिष्ट में आगमि शोध कार्यकरणार्थं विभिन्न वनस्पतियों, धातु-उपधातुओं, खनिजों, रत्नों, खाद्यद्रव्यों, शरीरावयव-पर्यायों, रोगों एवं

स्रोतोभूत समान श्लोकों की तुलनात्मक तालिका ससन्दर्भ प्रस्तुत कर दी गई है ताकि सम्बन्ध क्षेत्र के से तद्‌विद्, विद्वान उनका लाभ उठा सके।

(४) रोगोपचार में वेदिक एवं तान्त्रिक प्रक्रियाओं का उपस्थापन।

प्रस्तुत अन्तःसाक्ष्य के आधार पर अ० पु० का संकलन काल निश्चित किया जा सकता है। हमने अपनी आयुर्वेदीय सामग्री के आधार पर इस पुराण के आयुर्वेदीय सामग्री वाले अंश का समय १२वीं शताब्दी का प्रथम चरण माना है क्योंकि चक्रदत्त के लेखक चक्रपाणि का समय १०६० ई० है। वृन्दमाधव नवम शताब्दी के हैं। अष्टांगसंग्रह का समय सप्तम शताब्दी है। अमरकोष पंचम शताब्दी का माना जाता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण को चतुर्थ का एवं याज्ञवल्क्यस्मृति तृतीय शतक। इस प्रकार इसकी पूर्व सीमा तृतीय शतक एवं अन्तिम सीमा ११ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित की जा सकती है, क्योंकि अ० पु० ने इन ग्रन्थों से सामग्री ग्रहण की है। अन्य भारतीविदों ने जो समय स्थिर किया है वह मुख्यतः तत्तत् सामग्री के आधार पर अष्टम एवं नवम् शताब्दी है अतः निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अ० पु० में यह सामग्री चक्रपाणि के पश्चात् ही आयी अतएव इस अंश का समय १२ वीं शताब्दी मानना युक्ति युक्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन से लेकर प्रकाशन तक का समस्त श्रेय आदरणीय डा० ज्योतिर्मित्र जी, रीडर मौलिक सिद्धान्त विभाग, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को है जिनके वैदुष्यपरक निर्देशन एवं अनेक उपादेय सत्परामर्शों से यह ग्रन्थ यह स्वरूप धारण कर सका है और उन्होंने कृपा करके आमुख लिखा एतदर्थ मैं आपकी अत्यन्त आभारी हूँ। का० हि० वि० वि० के प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के यशस्वी प्रोफ़ेसर एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त भारती विद प्रो० लल्लन जी गोपाल के प्रति धन्यवाद ज्ञापन करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझती हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखकर इसकी महत्ता को द्विगुणित कर दिया है। इसके अतिरिक्त द्रव्यगुण विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष प्रियव्रत शर्मा जी की भी अत्यन्त ऋणी जिनसे वनस्पतियों के विभावन एवं उनके अन्ताराष्ट्रीय लेटिन नामों के निर्धारण के विषय में प्रर्याप्त सहयोग मिला है। इसी विभाग के कृष्ण चन्द्र चुनेकर जी को भी धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने समय-समय पर द्रव्यगुण विषयक अनेक गुत्थियों को सुलझाया है दर्शन विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष प्रो० रमाशंकर जी मिश्र, प्रो० रमाकान्त जी त्रिपाठी एवं प्रो०

रमण महोदय के वात्सल्प एवं वैदुष्यपरक कृपा ने अनेक दार्शनिक तथ्यों के समझने में सरलता उत्पन्न की है अतएव मैं उनकी महती कृपा के लिए आजन्म आभारी हूँ।

इस कार्य रुपी यज्ञ की पूर्णाहूति में मैं अपनी पूज्य माता श्रीमती राज हांडा के स्नेह एवं वात्सल्य के प्रति हार्दिक उद्‌गारों को प्रकट करने में असमर्थ हूँ इन्ही के सतत्त स्नेह संवलित आर्शीर्वाद से यह कार्य पूर्ण हो पाया है। इस प्रसंग में मैं अपनी सतीर्थ्य सहेलियों डा० कु० जयन्ती भट्टाचार्य, डा० विभा देवी एवं डा० पिनुच्चा केरांकी के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ जिनके अथक सहयोग, सान्निघ्य एवं साहाय्य से यह कार्य पूर्ण हो सका। मैं इंजीनियर राजेश खुल्लर को भी धन्यवाद देना भूल नहीं सकती जिन्होंने वानस्पविक सूची वनाने में अथक सहयोग दिया है।

चेयरमैन तथा प्रो० वी० आर० ग्रोवर, डाइरेक्टर, भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद नई दिल्ली की मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने पुस्तक के प्रकाशन के लिए यथेष्ट आर्थिक सहायता प्रदान की है। मैं डा० अच्छे लाल प्रवक्ता प्रा० भार० इति० सं० एवं पुरा०वि० का०हि०वि०वि० के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ जिनके प्रोत्साहन से ग्रन्थ प्रकाशन की प्रेरणा मिली। इसके अतिरिक्त डा० रमेश चन्द्र श्रीवास्तव एवं श्री अखण्ड प्रताप सिंह, जूनियर रिसर्च फेलो को भी धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझती हूँ जिनसे समय-समय पर सहयोग मिलता रहा। पुस्तक की आवरण सज्जा श्री के० आर० कुमार ने तैयार की है अतः मैं उनकी भी कृतज्ञ हूँ। अन्त में मैं ज्योतिरालोक प्रकाशन तथा रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स वाराणसी के प्रति आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने पुस्तक के प्रकाशन एवं मुद्रण के गुरुतर उत्तरदायित्व का संवहन कर इसे यथा समय पूर्ण किया है।

इस ग्रन्थ में मानव सुलभ अनेक न्यूनताओं का रह जाना स्वाभाविक है अतः मैं उनके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ आशा है इस दिशा में मुझसे उत्तर कालीन व्यक्रियों द्वारा और भी गम्भीर कार्य सम्पन्न हो सकेगा। अन्त में कालीदास के निम्न श्लोक (किंचित परिवर्तन पूर्वक) से मैं विश्राम लेती हूँः—

"तं सन्तो द्रष्टुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धः श्यामिकाऽपि वा॥"

सरिता हांडा
एम-३ मोहन लाज
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

दिनांक : मार्च, १९८१

संकेत-सूची

अ	=	श्लोक का प्रथमपाद
अ० को०	=	अमरकोश
अ० पु०	=	अग्निपुराण
अभि० चि० म०	=	अभिधान चिन्तामणि
अ० सं०	=	अष्टांग संग्रह
अ० हृ०	=	अष्टांग हृदय
आ०	=	श्लोक का द्वितीय पाद
इ०	=	श्लोक का तृतीय पाद, इन्द्रियस्थान
उ०	=	श्लोक का चतुर्थपाद
उत्तर०	=	उत्तर स्थान
क०, कं० सं०	=	कल्पस्थान
काश्यप०	=	काश्यप संहिता
कूर्म०	=	कूर्म पुराण
च०	=	चरक संहिता
चि०	=	चिकित्सा स्थान
पृ०	=	पृष्ठ
प्राय०	=	प्रायश्चित्त प्रकरण
नि०	=	निदान स्थान
भागवत०	=	भागवतपुराण
म०	=	मध्य
मनु०	=	मनुस्मृति
महा० सभा०	=	महाभारत सभापर्व
मार्कण्डेय०	=	मार्कण्डेपुराण
मी० सू०	=	मीमांसा सूत्र
याज्ञ० स्मृ०, या० स्मृ०	=	याज्ञवल्क्यस्मृति
यो० सू०	=	योगसूत्र

वायु०	=	वायुपुराण
वि०	=	विमानस्थान
वि० ध० पु०	=	विणुधर्मोत्तर पुराण
वि० पु०	=	विणुपुराण
शा०	=	शारीरस्थान
शा० भा०	=	शाङ्कर भाष्य
शा० सं०	=	शार्ङ्गधर संहिता
सां० कारि०	=	सांख्य कारिका
सु०	=	सुश्रुत संहिता
सूत्र०	=	सूत्रस्थान
सिद्धि०	=	सिद्धिस्थान
FRE	=	Fncyclopaedia of Religions and Ethics
Descat	=	Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts.
I H Q	=	Indian Historical Quarterly.
JAHRS	=	Journal of the Andhre Historical Research Society.
JRAS	=	Journal of Royal Asiatic Society.
JUB	=	Journal of University of Bombay.
PRHIRC	=	Puranic Records on Hindu Rites and Customs.
JBORS	=	Journal of the Bihar & Orissa Research Society.

विषय सूची

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

दशम अध्याय

एकादश अध्याय

विषयावतरण

अग्निपुराण का सामान्य परिचय

भारतीय संस्कृति के स्रोतभूत अनेक वाङ्मयों में पुराण वाङ्मय का एक महत्वपूर्ण स्थान है। वैदिक वाङ्मय के तत्काल अनन्तर आर्यों की धार्मिक एवं पवित्र परम्पराओं का एक मात्र संग्राहक संभवतः यही वाङ्मय है। दर्शन एवं धर्म के इतिहास के निरूपण के अतिरिक्त यह हिन्दू धर्म की समस्त सामाजिक गतिविधियों एवं कालान्तरालपूर्वक संस्कृति-सूत्रों का एक प्रामाणिक भण्डार है। पार्जिटर ने इसे प्राचीन एवं मध्यकालीन हिन्दुत्व के धार्मिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक, वैयक्तिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सामग्री का लोकप्रिय विश्व-कोष माना है।[1] वायुपुराण के अनुसार पुराण वह है जो प्राचीन काल में जीवित था।[2] प्राचीन परम्परा की कामना करने वाला होने के कारण भी इसे पुराण कहा गया है।[3] मत्स्य ने इसे भूतकाल की घटनाओं का परिचायक माना है।[4] ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार भी लगभग यही परिभाषा है[5] अतएव पुराण पद का अभिप्राय है ब्राह्मण साहित्य का प्राचीन आख्यान या गाथा जो इतिहास एवं नाराशंसी से कथञ्चित् सम्पृक्त था। पुराण अति प्राचीन काल से गाथा या कथानक के रूप में विद्यमान था। पुराकाल में पुराण का कोई पृथक् वाङ्मय नहीं था। अथर्ववेद,[6] शतपथ ब्राह्मण, गोपथ ब्राह्मण,[8] जैमिनीय ब्राह्मण,[9]

1—Pargiter, F. E. : ERE, X, p. 448.

२—यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत्स्मृतम्। (१।२०३).

३—पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम्। (पद्म पुराण, ५।२।५३).

४—पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदुर्बुधाः (५३।६३).

५—यस्मात्पुरा ह्यभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम् (१।१।१७३).

६—११।७।२४ एवं १५।६।४.

७—१३।४।३।१३; ११।५।६।८ एवं ७।९.

८—१।१०.

९—१।१५३.

बृहदारण्यकोपनिषद्,[१] छान्दोग्योपनिषद्,[२] तैत्तिरीय आरण्यक,[३] सांख्यायन श्रौतसूत्र[४] एवं गौतमधर्म सूत्र[५] में इतिहास के साथ पुराण का नाम दृष्टिगत होता है। इस संयुक्त नाम से यह स्पष्ट है कि उस काल में दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध था।[६] यास्क ने निरुक्त में ऋचाओं के विशदीकरण के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों की कथाओं को इतिहास कहा है।[७] 'इति ह आस' अर्थात् प्राचीनकाल में निश्चित रूप से होने वाली घटना इतिहास है। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि काल्पनिक कथा या आख्यान को 'पुराण' एवं वास्तविक घटना को 'इतिहास' मानना चाहिए। अथर्ववेद[८] पुराण की उत्पत्ति यजुर्वेद आदि के साथ यज्ञ के उच्छिष्ट भाग से मानता है जबकि बृहदारण्यक उपनिषद्[९] इसे महद् भूतों के निःश्वास से सम्पन्न मानता है। वैदिक साहित्य के अनेक ग्रन्थों में इसे एक पञ्चम वेद ही मान लिया गया है।[१०] वेदवत् पवित्र माने जाने पर भी पुराण को स्मृति के स्तर का ही माना गया।

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या प्राचीन वैदिक काल में यह एक विषय था या पुस्तक रूप में इसकी सत्ता थी? इसके समाधान के रूप में यही कहा जा सकता है कि यह एक विज्ञान के रूप में उस समय प्रचलित था, पर ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व की प्राचीन कृतियों[११] में पुराण पद का बहुवचन में

१—२।४।१०; ४।१।२ एवं ५।११.
२—३।४।१ एवं २।७।१ एवं ४; ७।२।१ एवं ७।१.
३—२।९.
४—१६।२।२७.
५—८।६ एवं ११।१९.
६—उपाध्याय बलदेव : पुराण विमर्श, पृ० ४.
७—त्रितं कूपेऽवहितमेतत सूक्तं प्रतिबभौ।
तत्र ब्रह्मेतिहास मिश्रम्नङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति ॥ (निरुक्त, ४।६).
८—ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः ॥ (११।७।२४).
९—''''महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासं पुराणं''''(११।४।१०).
१०—शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद्, सांख्यायन श्रौत सूत्र आदि।
११—(क) स्वाध्यायं श्रावयेत ये''''पुराणानि खिलानिच। (मनु० ३।२३२) (ख) यतो वेदाः पुराणानि (याज्ञ० ३।९८९).
(ग) तैत्तिरीय आरण्यक ११।९.

प्रयोग मिलता है। डॉ० हाजरा का यह विचार है कि पुराण-वाङ्मय का सृजन तृतीय शताब्दी से आरम्भ हुआ।[1]

पुराण के स्वरूप का परिचय—'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंश्यानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्' ॥ इस प्रकार 'पुराणं पञ्चलक्षणं' के रूप में अमरकोष ने दिया है और यही लक्षण किञ्चित् पाठ भेद से या ऐक्यरूपेण अनेक पुराणों[2] में उपलब्ध होता है। अर्थात् जिसमें सृष्टि (सर्ग), प्रलय (प्रतिसर्ग), वंश, मन्वन्तर एवं वंशानुचरित का वर्णन होता है वह पुराण है। श्रीमद्भागवत ने महापुराणों के दस लक्षण बतलाये हैं[3] जो पाँचों में गतार्थ हो जाते हैं। इनमें से 'वृत्ति' के अन्तर्गत आयुर्वेद को समझा जा सकता है। सर्ग-प्रतिसर्ग तो दर्शन से सम्बद्ध ही हैं। इनका विशद विवेचन पुराण की दार्शनिक पृष्ठभूमि अध्याय में किया गया है। म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने मत्स्य पुराण[4] के आधार पर इसके वर्ण्य विषय की सीमा बृंहित कर दी है।[5]

जहाँ तक पुराणों की संख्या का प्रश्न है वे सभी पुराण उनकी १८ संख्या बतलाते हैं। प्रायः एक ही क्रम का सभी ने[6] अनुसरण किया है। ब्रह्म, पद्म,

---

१—Hazra, R. C : PRHRC, p. 2.

२—विष्णु, ३।६।२४; मार्कण्डेय०, १३४।१३; अग्नि० १।१४; भविष्य० २।५; ब्रह्मवैवर्त्त० १३३।६; वराह० २।४; स्कन्द० (प्रभासखण्ड, २।८४); कूर्म० (पूर्वार्ध १।१२); मत्स्य० ५३।६४; गरुड० (२।२८); ब्रह्माण्ड० (प्रक्रिया पाद १।३८) एवं शिवपुराण (वायवीय संहिता, १।४१).

३—सर्गश्चाथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ॥ (१२।७।९).

४—ब्रह्मविष्ण्वर्करुद्राणां माहात्म्यं भुवनस्य च।
ससंहार प्रदानां च पुराणे पञ्चवर्णके।
धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चैवात्र कीर्त्यते।
सर्वेष्वपि पुराणेषु तद्विरुद्धं च यत्फलम् ॥ (मत्स्य, ५३।६६।६७).

५—Des. Cat. of Skt. MSS. A. S. B. V, Intr., P. C. CXXVII.

६—मत्स्यपुराण ५३ वाँ अध्याय; विष्णु पुराण (३।६।२०।२४) तथा भागवत (१२।१३।३।८)। देवी भागवत (१।३) पुराण ने एक

विष्णु, वायु, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त्त, वराह, लिंग, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड एवं ब्रह्माण्ड—इस प्रकार क्रमानुसार इनकी संख्या अष्टादश स्थिर होती है। कुछ पुराण वायु के स्थान पर शिव एवं भागवत के स्थान पर देवीभागवत को रखते हैं। पुसालकर 'शिव' की महापुराण में गणना करना उचित नहीं समझते।[१] पद्मपुराण (उत्तर खण्ड २६३/८१-८४) ने उपर्युक्त अष्टादश पुराणों को सात्विक, तामस एवं राजस इन तीन वर्गों में क्रमशः विष्णु, शिव एवं अन्य देवताओं से सम्बद्ध मानकर वर्गीकृत किया है।

प्रस्तुत अग्निपुराण अष्टादश महापुराणों (अ० पु० २७१/१३) की सूची में अष्टम स्थान पर रखा गया है। इसकी गणना सम्प्रदायानुसार शैव सम्प्रदाय में की गई है और उसी के अनुसार इसे तामस वर्ग में रखा गया है।[२] मत्स्य ने इसे राजस मानने का आग्रह किया है।[3] म० म० हर प्रसाद शास्त्री विषय सामग्री के आधार पर पुराणों को छः वर्गों में विभक्त कर इसे गरुड एवं नारद के साथ विश्वकोषीय विभाग के अन्तर्गत रखते हैं।[४] इस पुराण में माहात्म्य सहित ३८२ अध्याय हैं जो प्रायशः सभी संस्करणों में समान ही हैं। यद्यपि साम्प्रतीन अग्निपुराण में लगभग १२ सहस्र (११४५७) श्लोक हैं तथापि भागवत (१२/१३), देवी भागवत (१/३) एवं मत्स्य (अ० ५३) इनकी संख्या क्रमशः पन्द्रह सहस्र चार सौ, सोलह सहस्र एवं सोलह सहस्र मानते हैं। अग्निपुराण (२७२/११) ने स्वतः इसकी संख्या द्वादश सहस्र मानी है।

इसका नाम अग्निपुराण इसलिए पड़ा कि अग्नि ने वशिष्ठ को उपदेश दिया। इस पुराण की प्रशंसा स्वयं ग्रन्थ में उपन्यस्त है। यह अग्निपुराण श्री

लघुकाय अनुष्टुप् में आद्य अक्षर के आधार पर सभी पुराणों का नाम इस प्रकार लिया है—

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
अनापद् लिङ्ग-कू-स्कानि पुराणानि पृथक् पृथक्।

१—JUB, X. pp. 148-155; infra, pp. 31-41.

२—राजसेषु च मा अग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे। (पद्म० उत्तर०, २६३।८१)

३—राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः। तद्वदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्यच॥ (५३।६८,६९).

४—JBORS, XIV, pp. 330-7.

विष्णु का ही विराट रूप है। इसके निर्माता एवं श्रोता थी जनार्दन ही हैं। अतएव यह पुराण सर्ववेदमय, सर्वविद्यामय तथा सर्वज्ञानमय है। यह उत्तम एवं पवित्र पुराण पठन और श्रवण करने वाले मनुष्यों के लिए सर्वात्मा श्रीहरि स्वरूप है। यह पुराण विद्यार्थियों के लिए विद्याप्रद, अर्थार्थियों के लिए लक्ष्मी एवं धन-सम्पत्ति-प्रदाता, राज्यार्थियों के लिए राज्यप्रदाता, धर्मार्थियों के लिए धर्मप्रदाता, स्वर्गार्थियों के लिए स्वर्गप्रद तथा पुत्रार्थियों के लिए पुत्रप्रद है। गोधन चाहने वाली को गोधन और ग्रामाभिलाषियों को ग्रामदाता है। यह कामार्थी मनुष्य को काम, सम्पूर्ण सौभाग्य, गुण तथा कीर्त्ति प्रदान करने वाला है। यह विजयेच्छुक को विजय देने वाला तथा सर्वेप्सु के प्रति सर्वप्रद है। यह पुराण मोक्षकामियों को मोक्ष देनेवाला तथा पापियों के पाप का नाशक है।[१]

यह पुराण मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, अर्हत् एवं कल्कि के अवतार वर्णन से आरंभ होता है। राम एवं कृष्ण के निरूपण में रामायण, महाभारत एवं हरिवंश का अनुसरण करता है। यद्यपि प्रारंभ में विष्णु एवं विष्णु पूजा का वर्णन है तथापि यह मूलतः एक शैव ग्रन्थ है और विस्तार से लिंगपूजा तथा दुर्गापूजा की रहस्यात्मक पद्धति का इसमें प्रतिपादन है। इसमें तान्त्रिक साधना का उल्लेख है। देवताओं की मूर्त्तियों के निर्माण और उनके प्राणप्रतिष्ठा की विधि तथा कुछ अध्यायों में मृत्यु, पुनर्जन्म एवं योग का वर्णन है। ज्योतिषशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्रत, राजनीति, आदि शास्त्रों का वर्णन है। ज्योतिषशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्रत, राजनीति आदि शास्त्रों का वर्णन अतिविस्तार से है। छन्द, अलंकार, व्याकरण, कोष, शकुनविद्या, वास्तुविद्या, युद्धविद्या आदि को भी यथास्थल प्रचुर चर्चा है। इस पुराण में सर्वाधिक आयुर्वेद की एवं उससे स्वल्प दर्शन की सामग्री है। ग्रन्थ के कलेवर की विपुलता के भय से अ० पु०-प्रतिपादित अश्वायुर्वेद, गजायुर्वेद, वृक्षायुर्वेद एवं रत्नपरीक्षा को सम्मिलित नहीं किया गया।

काल-निर्णय

अ० पु० का कालनिर्णय उसके आभ्यन्तर निहित सामग्री के ही आधार पर किया जा सकता है। डॉ० हाजरा का कथन है कि मत्स्य एवं स्कन्द पुराण में वर्णित ईशानकल्प का वर्तमान अ० पु० में उल्लेख नहीं है। उसके स्थान पर वाराह कल्प का निर्देश होने के कारण यह प्रतीत होता है कि यह वास्तविक अग्निपुराण नहीं है। स्मृति-निबन्धों में जो अ० पु० के उद्धृत श्लोक उपलब्ध होते हैं वे

१—२७१।१७।२२.

वर्तमान अग्निपुराण में नहीं मिलते। तीर्थ चिन्तामणि में उद्धृत आग्नेय पुराण के एक श्लोक में सूर्य वक्ता के रूप में निर्दिष्ट हैं और वहीं पर अन्यत्र विष्णु-गंगा को सम्बोधित करते हैं पर प्रस्तुत उपलब्ध अ० पु० में विष्णु-गंगा या वशिष्ठ-अम्वरीष का कोई संवाद नहीं मिलता।[१] इसी कारण एस० के० डे० इसे प्राचीन मानने को तैयार नहीं।[२] डॉ० हाजरा ने दानसागर (पत्र ९६ अ-९९ अ) में उद्धृत अ० पु० के श्लोकों की वर्तमान अ० पु० के २१०वें अध्याय से तुलना की है और वे सभी वर्तमान अग्निपुराण को उस पुरातन वाले अ० पु० की ओर नहीं ले जाते। उनका यह भी विचार है कि वर्तमान अ० पु० के २१-१०६, २६३-२७२ एवं ३१७-३२६ अध्याय पश्चात् काल के प्रक्षिप्त श्लोक हैं। विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य एवं गौरी की तान्त्रिक पूजा का यहाँ अप्रासंगिक उल्लेख है। २१ से १०६ अध्यायों में प्रथम के ४९ अध्याय पाञ्चरात्र संहिता के सार अंश को प्रस्तुत करते हैं।[3]

इस पुराण के संकलनकर्त्ता के मस्तिष्क में इसे विश्वकोषीय रूप देने का विचार था। इसी उद्देश्य से इसने रामायण, महाभारत, हरिवंश, वायुपुराण-गत गया-माहात्म्य, व्याख्यायुक्त पिंगलसूत्र, अमरकोष, युद्धजयार्णव, पालकाप्य कृत हस्त्ययायुर्वेद, नारदस्मृति, याज्ञवल्यस्मृति एवं विष्णुपुराण से सामग्री को लेकर यहाँ सार रूप में उसे प्रस्तुत कर दिया। इसी प्रकार यम-गीता को कठोपनिषद् से, गीतासार को श्रीमद्भगवद्गीता से तथा योग को पातंजल योगसूत्र एवं उनकी टीकाओं से लेकर संकलन कर यहाँ उपन्यस्त किया। इसमें तान्त्रिक सामग्री पर्याप्त मात्रा में अनुस्यूत की गई। बल्लाल सेन ने अपने दानसागर में अग्नि एवं गरुड पुराण को जाली पुराणों के रूप में उल्लेख किया है। दानसागर में उद्धृत श्लोक वर्तमान अ० पु० में नहीं प्राप्त होते।[४]

आयुर्वेदीय सामग्री को भी अ० पु० ने अष्टांगसंग्रह, वृन्दमाधव एवं चक्रदत्त से ग्रहण किया है। कहीं-कहीं तो ये श्लोक आनुपूर्वी इन ग्रन्थों से उतार लिए गए हैं पर कहीं-कहीं उनका भावानुवाद प्रस्तुत किया गया है।

प्रो० पाण्डुरंग वामन काणे ने अ० पु० में निर्दिष्ट (अध्याय २५३ से २५८) सामग्री की याज्ञवक्ल्यस्मृति के व्यवहार भाग से तुलना की है और यह वह अंश

१—Hazra, R. C. : PRHRC, pp. 134, 135.
२—Day, S. K. : Sanskrit Poetics, Vol. I, p. 102.
३—Hazra, R. C. : PRHRC. pp, 135, 136.
४—Ibid, pp. 137.

हैं जिसको विश्वरूप और विज्ञानेश्वर ने अपने टीकाओं में प्रस्तुत किया है। यतः विश्वरूप का समय ८००-८२५ ई० है अतएव अ० पु० का निबन्धन काल लगभग ९०० ई० होना चाहिए। जहाँ तक अ० पु० के अलंकार भाग का प्रश्न है वहाँ काणे महोदय का यह विचार है कि अ० पु० ने दण्डी और भामह से यह सामग्री ग्रहण की।[१] दण्डी का समय सप्तम शतक है अतएव यह पुराण इस शताब्दी के पश्चात् का है। इतना होने पर भी हाजरा एवं एस० के० डे० नवीं शताब्दी स्वीकार करते हैं।[२] हरप्रसाद शास्त्री ने भी इसका समय ८००-९०० ई० के मध्य का माना है। यह अ० पु० भोजराज के सरस्वती कण्ठाभरण का प्रधान उपजीव्यग्रन्थ है और भोजराज का समय ११हवीं शताब्दी माना जाता है अतएव अ० पु० की इस भाग की रचना सप्तम शतक के पश्चात् एवं एकादश शतक के पूर्व हुई। एस० वी० चौधुरी इस पुराण का संग्रह काल अष्टम एवं नवम शताब्दी के मध्य रखते हैं।[४] एस० डी० ज्ञानी का विचार है कि इस पुराण का संकलन तीन-चार शताब्दी में हुआ और इसमें साम्प्रदायिक विचार धारायें जुटती गयी। इस प्रकार यह विकास या विस्तार की प्रक्रिया ७०० ई० या ८०० ई० से १००० या ११०० ई० तक हुई और इस अवधि में यह पुराण अपने वर्तमान रूप में आ गया।[५] पारसनाथ द्विवेदी ने अ० पु० का रचना काल तृतीय एवं चतुर्थ शताब्दी के मध्य का माना है[६] और उनका यह विचार है कि अमरकोष दण्डी तथा भामह आदि सभी ने इस पुराण से सामग्री ग्रहण की, क्योंकि वह विश्वकोषात्मक थी।

उपर्युक्त सभी विचार अपनी सामग्री के आधार पर ही काल का निर्णय करते हैं यतः प्रस्तुत ग्रन्थ दार्शनिक एवं आयुर्वेदिक सामग्री का निरूपण करता है अतएव इसका काल निर्णय ही सामग्री के आधार पर करना उचित होगा। जहाँ तक दार्शनिक सामग्री का सम्बन्ध है वहाँ पर इस पुराण ने पातञ्जल योग दर्शन, याज्ञवल्क्यस्मृति एवं श्रीमद्भगवद्गीता से भी सामग्री ग्रहण की। इनमें से गीता और योगदर्शन द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व के, विष्णु पुराण प्रथम शताब्दी

१—Kane, P. V., HDS, Vol. 1, p. 172.

२—Hazra, R. C. : PRHRC, p. 138.

३—Cat. of Sans. M. ASB. Vol. V, Pre.

४—JAHRS, III, pp. 127-134.

५—Gyani, S. A. : The Agni Purana, A study-p. 288.

६—AUJR, Vol. XIX, pt. II, July, 1971, pp. 75-86.

का एवम् याज्ञवल्क्यस्मृति तृतीय शताब्दी का माना जाता है अतएव यह सामग्री इस पुराण में इसके पश्चात् ही समाविष्ट हुई होगी।

आयुर्वेदिक सामग्री के स्रोतभूत ग्रन्थ हैं अष्टांग संग्रह (सप्तम शतक), वृन्दमाधव (नवम शतक) तथा चक्रपाणि का चक्रदत्त (१०६० ई०)। इसके अतिरिक्त कुछ सामग्री विष्णु धर्मोत्तर पुराण (चतुर्थ शताब्दी) एवं अमरकोष (पंचम शताब्दी) से भी ग्रहण की गयी है। अतएव आयुर्वेदीय सामग्री के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस सामग्री का संकलन बारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ।

दार्शनिक एवं आयुर्वेदीय सामग्री का शोध दृष्टि से महत्व

दर्शन के क्षेत्र में इस पुराण ने सांख्य, योग एवं वेदान्त के क्षेत्र को समृद्ध किया है। यमगीता जैसे नये प्रकरण को उपस्थित करना इसका एक वैशिष्ट्य रहा है। पौराणिक पृष्ठभूमि में दार्शनिक चित्रण का होना एक नवीनता उपस्थित करता है।

यह पुराण आयुर्वेद के प्रवर्तक धन्वन्तरि (३/११) का निरूपण विष्णु के रूप में प्रस्तुत करता है। समुद्र के मन्थन से प्राप्त नौ वस्तुओं में धन्वन्तरि एवं उनके द्वारा आनीत अमृत का उल्लेख है। सुश्रुत के गुरु दिवोदास (२७८/१२) का उल्लेख भी इसी पुराण के पुरु वंश के वंशावली में उपलब्ध होता है और वहाँ उन्हें इसी पुरु वंश की परम्परा में प्रसूत माना गया है उसके अनुसार दीर्घतम का पुत्र धन्वन्तरि था और धन्वन्तरि का पुत्र केतुमान हुआ और केतुमान से हिमरथ की उत्पत्ति हुई और इसी हिमरथ का दूसरा नाम दिवोदास है जिससे प्रतर्दन की उत्पत्ति हुई। आयुर्वेद की १४ विद्याओं में गणना की गयी है (२१९/५९, ६०)। राजदरबार में आयुर्वेदविद् वैद्यों की नियुक्ति का उल्लेख इस पुराण में मिलता है (२२०/७)। वैद्यों को नगर के पश्चिम दिशा में बसाना चाहिए (१०६/१२)। यदि वैद्य कथंचित् गर्भपात कराता हो तो उसको उत्तम दण्ड उपलब्ध होता था (२५०/६४)। राजा के लिए यह आवश्यक था कि चिकित्सक को राजदूत बनने के लिए प्राथमिकता दे (२२०/७,२३५/१२)। इसके अतिरिक्त उस काल में पारद से शिवलिंग का निर्माण आरम्भ हो गया था। इस प्रकार दोनों दृष्टि से इस पुराण का महत्व स्वतः स्पष्ट है।

आयुर्वेद, दर्शन और पुराण का ऐक्य

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आयुर्वेद का दर्शन के साथ क्या सम्बन्ध है? और इन दोनों का पुराण में क्यों निरूपण हुआ? इसका संक्षिप्त उत्तर यह

है कि दर्शन का चरम लक्ष्य सृष्टि-उत्पत्ति एवं प्रलय का निरूपण तथा दुःख से मुक्त होने के उपाय का प्रतिपादन है। आयुर्वेद 'यथालोके तथा पिण्डे' के सिद्धान्त को मानता हुआ शरीर की उत्पत्ति, उसका पालन तथा उसके विनाश के पहलुओं को सूक्ष्मता से विचार करता है। वह दुःख को रोग का एक पर्याय मानता है और समस्त व्याधियों का आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक इन तीन वर्गों में विभक्त कर उसकी उत्पत्ति को दार्शनिक स्वरूप प्रदान करता है :

'अस्मिन् पुनः शास्त्रे सर्वतन्त्रसामान्यात् सर्वेषां यथास्थूलमवरोधः क्रियते। प्रागभिहितम् 'तददुःख संयोगा व्याधयः' इति, तच्च दुःखं त्रिविधम्—आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम् आधिदैविकमिति ॥'[1]

सुश्रुत के इसी स्थान में आध्यात्मिक व्याधि के अन्तर्गत आदि बल, जन्मबल एवं दोष-बलप्रवृत्त इन तीन प्रभेदों का निरूपण है। इनमें से आदिबल प्रवृत्त के अन्तर्गत शुक्र और आर्तव के दोष से होने वाली कुछ अर्श आदि व्याधियाँ आती हैं। पंगु, जन्मान्ध, मूक, वधिर आदि की गणना आध्यात्मिक व्याधि में है तथा शारीर और मानस व्याधियों को दोषबल के अन्तर्गत माना गया है। आधिभौतिक के अन्तर्गत संघातबलप्रवृत्त व्याधि आती है जिसको हम दूसरे शब्द में आगन्तुक व्याधि भी कह सकते हैं। ये शस्त्र द्वारा क्षत होने से प्राणियों द्वारा दष्ट होने पर होती हैं। आधिदैविक विभाग के अन्तर्गत कालबल, दैवबल एवं स्वभावबल वाली व्याधियों की गणना आती है। इनमें कालबल वाली व्याधियाँ वे हैं जो शीत, उष्ण, वर्षा आदि के विकृतिवश उत्पन्न होती हैं। दैवबल वाली व्याधियाँ वह है जो उपसर्ग, विद्युत, अशनि द्वारा आहत या आकस्मिक होती हैं। क्षुधा, पिपासा, जरा, निद्रा, मृत्यु आदि स्वभाव बल वाली व्याधियाँ मानी गयी है। इस प्रकार आयुर्वेद स्वास्थ्य के लिए शरीर में धातुओं की साम्यावस्था रखने में एवं रोगी को दुःख से दूर करने का उपाय प्रस्तुत करता है। जबतक शरीर में साम्यावस्था है तब तक शरीर में रोग उत्पन्न नहीं हो सकता। वात, पित्त एवं श्लेष्मा का साम्यावस्था में रहना ही धातुसाम्य या आरोग्य है। इसी को चरक ने प्रकृति भी कहा है। इसी प्रकार सांख्य ने सत्व, रजस् एवं तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति माना है जब प्रकृति साम्यावस्था में रहती है तब सृष्टि नहीं हो सकती। जिस प्रकार प्रकृति-पुरुष के संयोग के बिना सृष्टि संभव नहीं उसी प्रकार दोष और द्रव्य के मिले बिना रोगोत्पत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार आयुर्वेद सांख्य दर्शन के अति निकट है।

१—सुश्रुत सू० २४।४.

आयुर्वेद जहाँ शरीर के विषय में विशेष ध्यान देता है वहाँ मन की उपेक्षा नहीं करता और मन के विषय में जो भी चिन्तना हुई है वह भी योगदर्शन के आधार पर हुई है। आयुर्वेद मन और शरीर को व्याधि का अधिष्ठान मानता है। यदि मन पर नियन्त्रण हो जाय तो कथंचित् व्याधि स्वतः निर्मूल हो सकती हैं। चरक ने प्रकृति पुरुष को एक मानकर उसके लिए अव्यक्त शब्द का प्रयोग किया है (चरक० शा०/१) जबकि सुश्रुत अव्यक्त को प्रकृति का पर्याय मानता है। (सुश्रुत० शा०/१)

प्रायशः सभी पुराणों में दर्शन और आयुर्वेद को अपने प्रतिपाद्य विषयों में स्थान दिया है। स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज एवं जरायुज[1] इस चतुर्विध भूत-ग्राम की उत्पत्ति के विषय में तथा मरणोपरान्त प्राणि के गति के विषय में भी अ० पु० ने सम्बद्ध स्थल में सविस्तार चर्चा की है। आयुर्वेद समस्त शरीर या संसार को पाञ्चभौतिक मानता है और ये पंच महाभूतवाद सभी दर्शनों द्वारा सम्मान्य है। उपर्युक्त चतुर्विध भूतग्राम की उत्पत्ति का निरूपण करना इस अ० पु० की एक विशेषता रही है। इस प्रकार पुराणों के पंचलक्षण तथा दशलक्षणों के अन्तर्गत आयुर्वेद और दर्शन स्वतः आ जाते हैं। अतएव तीनों के सामंजस्य को यहाँ यथामति प्रस्तुत किया गया है। शरीर-दर्शन की चर्चा एक स्वतंत्र अध्याय में प्रतिपादित है।[2]

१—अ० पु०, १७।१३.
२—अ० पु०, ३६९.

प्रथम खण्ड

(दार्शनिक-अध्ययन)

प्रथम अध्याय

अग्नि-पुराण की दार्शनिक पृष्ठभूमि

अ० पु० में जहाँ एक ओर आयुर्वेद की प्रचुर सामग्री विद्यमान है वहाँ दूसरी ओर दार्शनिक विषयों का निरूपण भी यथास्थल हुआ है। यद्यपि यह सामग्री आयुर्वेद की अपेक्षा स्वल्पतर है तथापि अ० पु० ने अपने संकलन-काल में प्रचलित सांख्य, योग एवं वेदान्त के दार्शनिक-प्रस्थानों का संक्षेप में विवरण प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त मृत्यु एवं जीवन की प्रहेलिका को समझाने वाली यमगीता भी इसमें प्रतिपादित है। यम ने चरममोक्ष के लिए आत्मा एवं परं ब्रह्म के ऐक्य की अनुभूति के रहस्य को आवश्यक माना है। वैष्णव एवं भागवत धर्म के सिद्धान्त को गीतासार के माध्यम से उपस्थित किया गया है।

पञ्चलक्षणात्मक अन्य सभी पुराणों के समान सर्ग (सृष्टि) एवं प्रतिसर्ग (प्रलय) जैसे प्रतिपाद्य विषय की परिधि में यहाँ सांख्य का विवेचन हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता में सांख्य-योग को अपृथक् ही माना गया है।[1] वेदान्त ब्रह्म का प्रतिपादक है।

प्रायशः सभी दर्शनों का चरम लक्ष्य दुःखनिर्वृत्ति (मोक्ष) एवं सृष्ट्युत्पत्ति-प्रलय विवेचन है। सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर एवं वंशानुचरित इन पञ्च-लक्षणों[2] के अतिरिक्त भागवत ने दो स्थलों पर दो प्रकार के दशलक्षणों[3] की भी चर्चा की है। इनमें से दशलक्षण के प्रथमवर्गीय विभाग के अनुसार हेतु और अपाश्रय तथा दूसरे वर्गीकरण के अनुसार ऊति, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति एवं आश्रय हैं। यद्यपि इन दशलक्षणों का उपर्युक्त पञ्चलक्षणों में समावेश हो जाता है तथापि ये लक्षण इस पुराण के दार्शनिक पृष्ठभूमि के परिचायक हैं।

१—सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। (५।४)

२—सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्॥ (अ० पु० १।१४)

३—(अ) सर्गश्चाथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः॥ (भागवत १२।७।९)
(आ) अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥ (भागवत २।१०।१)

'हेतु' पद जीव का परिचायक है। वह अविद्या के द्वारा कर्म का कर्त्ता है। चैतन्य की प्रधानता से वह अनुशयी-साक्षी माना गया है और उपाधि-प्राधान्य की विवक्षा से कुछ लोग उसे 'अव्याकृत' नाम से अभिहित करते हैं।[१] अ० पु० का अधिवास प्रसंग में अव्याकृत अव्यक्त[२] (सांख्यपरक) इसी के अन्तर्गत आपाततः आ जाता है। अपाश्रय भी ब्रह्म का द्योतक है। जीव को तीन वृत्तियों से परे जो तुरीय तत्व के रूप में लक्षित होता है वही ब्रह्म या 'अपाश्रय' है।[३] इनमें से हेतु सांख्य से एवं अपाश्रय वेदान्त से सामंजस्यपरक सम्बन्ध रखते हैं। 'ऊति' का सामान्य अर्थ कर्मवासना है[४] जिससे निगृहीत जीव भगवत्सान्निध्यरूपी अमृत की ओर आकृष्ट ही नहीं हो पाता और ऐसी स्थिति में उसे भक्ति-योग का अभ्यास करना आवश्यक होता है। प्रस्तुत गीतासार का समस्त उद्देश्य इसी से सम्बद्ध है। भगवान् का संकीर्त्तन करना ही 'ईशानुकथा' है।[५] योगदर्शन के ध्यान के प्रसंग में भगवान् विष्णु का स्थिरचित्त से मुहुर्मुहुः चिन्तन करना[६] ईशानुकथा के आभ्यन्तर आता है। आत्मा का अपनी शक्तियों के साथ सो जाना ही 'निरोध' है[७] यह समस्त जगत् के प्रलय का परिचायक है। अ० पु० का नित्य के अतिरिक्त नैमित्तक, प्राकृत एवं आत्यन्तिक प्रलय (अध्याय ३६८, ३६९) इसी शीर्षक में समाविष्ट हो जाता है। पञ्चलक्षणात्मक प्रतिसर्ग के आभ्यन्तर नित्य प्रलय अन्तर्भूत होता है। जब जीव अपने अन्यथा रूप का त्याग कर स्वरूप में अवस्थित हो जाता है तब उसे 'मुक्ति' कहते हैं।[८] अ० पु० ने ब्रह्मज्ञान के द्वारा ही संसार रूपी अज्ञान की मुक्ति बताई हैं।[९] इस ३७७वें अध्याय में मुक्ति का सम्यक् प्रतिपादन हुआ

१—हेतुर्ज्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः।
तं चानुशयिनं प्राहुर्व्याकृतमथापरे ॥ (भागवत १२।७।१८)

२—अ० पु०, ५९।६.

३—भागवत, १२।७।१९.

४—ऊतयः कर्मवासना (भागवत २।१०।४ पर श्रीधरी टीका)।

५—अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम्।
सतामीशकथा प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः ॥ (भागवत, १२।७।२०)

६—अ० पु०, ३७४।१.

७—निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः। (भागवत, २।१०।६)

८—मुक्तिर्हित्वाऽन्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः। (भागवत, २।१०।६)

९—ब्रह्मज्ञानं प्रवक्ष्यामि संसाराज्ञानमुक्तये ॥ (अ० पु०, ३७७।१)

है। जिस तत्व से सृष्टि एवं प्रलय प्रकाशित होते हैं वही 'आश्रय' है वही ब्रह्म है तथा उसी को शास्त्रों में परमात्मा कहा गया है।[1] इस स्वरूप का परिचय अ० पु० ने ३७८वें एवं ३७९वें अध्याय में दिया है जहाँ वेदान्त के ब्रह्म का संश्लेषणात्मक चित्रण एवं सामर्थ्य का निरूपण किया गया है।

यहाँ यह तथ्य सर्वथा स्मरणीय है कि पञ्चलक्षणात्मक वर्गीकरण में पठित 'सर्ग' का उदाहरण अग्निपुराण के १७,२० एवं ५९ अध्याय में अति विस्तार से द्रष्टव्य है।

इस प्रथम अध्याय में पुराणोक्त लक्षणों को रूपरेखा के अन्तर्गत जो भी दार्शनिक विचार संकेतित हैं उन सबका विशद निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ के इसी खण्ड के क्रमशः द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय में हुआ है।

सांख्य दर्शन की जो भी सामग्री अ० पु० में है वह सेश्वर है और वह कपिल के तत्वसमास, आसुरि एवं पञ्चशिख की कृतियों (जो सम्प्रति अनुपलब्ध हैं) तथा ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका से गृहीत प्रतीत होती है। विष्णुपुराण से भी इस पुराण ने कुछ सामग्री ली है।

इसी प्रकार जो योगविषयक सामग्री विद्यमान है उसका स्रोत पातञ्जल योग दर्शन, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, शिवपुराण आदि हैं। योग के आठों अंगों की विवेचना इसमें अन्य स्रोत ग्रन्थों से कहीं अधिक एवं व्यावहारिक रूप से प्रतिपादित है। ध्यान के प्रसंग में शिवभक्ति की विशद चर्चा का मिलना इस पुराण के शैवत्व का परिचायक है।

वेदान्त की सामग्री यद्यपि ब्रह्मसूत्र से ली गई है पर वह सभी शंकर के अद्वैतवाद से पूर्णतया प्रभावित प्रतीत होती है। यहाँ जो भी ब्रह्म, अविद्या या माया का निरूपण हुआ है वह सभी विष्णु पुराण से संगृहीत है।

अग्निपुराण यद्यपि सांख्य एवं वेदान्त दोनों को समान सम्मान देता है पर वह सत्कार्यवाद एवं विवर्त्तवाद जैसे सिद्धान्तों में से सत्कार्यवाद को ही मानता है। कर्मवाद पर विशेष बल अ० पु० ने दिया है।

यमगीता की सामग्री को तैत्तिरीय ब्राह्मण, कठोपनिषद् एवं महाभारत से संग्रह किया गया है। यद्यपि इसका कथानक तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं महाभारत से मिलता-जुलता है पर श्लोक कठोपनिषद् से आनुपूर्वी उद्धृत है।

१—आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते। स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ॥ (तदेव)

गीतासार की सामग्री श्रीमद्भगवद्गीता से ली गई है जिसमें योग एवं मोक्ष की चर्चा के साथ आत्मा के अजरत्व, अमरत्व एवं अविनाशित्व का प्रतिपादन हुआ है। इसके अतिरिक्त दैवी एवं आसुरी सम्पदा भी निरूपित है।

पुराणों की दार्शनिक पृष्ठभूमि से प्रथम शतक से अष्टम शतक तक के सभी दार्शनिक व्याख्याकार पूर्णतया प्रभावित रहे हैं।

शबरस्वामी (२००-४०० ई०) ने मीमांसा सूत्र (१०-४-२३) के व्याख्यान में यज्ञ से सम्बद्ध देवता के स्वरूप का निर्णय करते हुए कहा है कि इस विषय में इतिहास-पुराण में उपलब्ध एक मत यह था कि देवता से तात्पर्य अग्नि आदि से जो स्वर्ग में निवास करते हैं। यह मत आज के प्रचलित पुराणों में भी उपलब्ध होता है।

कुमारिल भट्ट (७०० ई०) ने तन्त्रवार्त्तिक (जैमिनि सूत्र १०।३।७ पर) में पुराणों के स्वरूप तथा विषय के सम्बन्ध में अनेक मूल्यवान बाते कहीं हैं जिनमें पुराण-प्रामाण्य की चर्चा है।[1] स्वर्ग शब्द की व्याख्या के अवसर पर पुराणोक्त मेरुपृष्ठ मानने के एकीय मत को भी कुमारिल ने इसी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है।[2]

शंकराचार्य (८०० ई०) ने ब्रह्मसूत्र के अनेक स्थलों में पुराण तथा उसके विषय का निर्देश किया है।[3] पुराणों का प्रायशः उन्होंने स्मृति रूप में अभिधान किया है।[4] ये वायुपुराण (१-२०५) एवं विष्णुपुराण को अनेकधा अपने भाष्यों में उद्‌धृत करते हैं।[5]

१—स्मर्यन्ते च पुराणेषु धर्मविप्लुतिहेतवः।

२—तथा स्वर्गशब्देनापि नक्षत्रदेशो वा वैदिक-प्रवाद्-पौराणिक-याज्ञिक दर्शनेनोच्यते—यदि वेतिहासपुराणोपपन्नं (मी० सू०, १।३।३० पर तंत्रवार्तिक)।

३—ब्रह्मसूत्र, २।१।३६ पर; १।३।२८ पर।

४—स्मृतिश्च भवति—

तेषां ये तानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।

तान्वेव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पृथक् पृथक् ॥ (कूर्म० १।७।६३; मार्कण्डेय० ४८।३९; वायु० ८।३२)

५—तथा सामर्थ्यमपि तेषां (देवा दीनां) संभवति, मंत्रार्थवादेतिहास-पुराणलोकेभूते विग्रहवत्त्वाद्यधिमात्। (शा० भा०, १।३।२६)

याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विश्वरूप (८००-८५० ई०) ने विष्णु (२।८।८५, ८६), मत्स्य (१२४।५३।६०) एवं वायुपुराण (५०।१३०) को अनेकधा उद्‌घृत किया है।

अतएव यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि पुराणों ने दार्शनिकता के मौलिक पुट को सजोये रखा जिसका उपयोग मध्यकाल के दार्शनिक व्याख्या-कारो ने किया।

द्वितीय अध्याय

सृष्टि निरूपण

पुराणों के पञ्चलक्षण वाले सिद्धान्त के अन्तर्गत सर्ग (सृष्टि) एवं प्रतिसर्ग (प्रलय) का समावेश होने के कारण अग्निपुराण ने चार अध्यायों (१७,२०, ५९,३६८) के अन्तर्गत प्रतिपादित सत्रह और बीस अध्यायों में कुछ विशिष्ट सामग्री प्रस्तुत की है। अंतिम तीन सौ अड़सठवाँ अध्याय सृष्टि के प्रलय की विस्तार से चर्चा करता है। उनसठवें अध्याय में सांख्योक्त २५ तत्त्वों का आलंकारिक रूप से वर्णन निहित है।

यतः सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का सम्बन्ध सांख्य-दर्शन से साक्षात् रूप में है अतएव इस प्रकरण में इन दो विषयों पर विशेष रूप से विचार किया गया है। इस पुराण का सांख्य सेश्वर है। सृष्टि की उत्पत्ति, प्रकृति और पुरुष के संयोग से होती है। इस पुराण ने पुरुष के स्थान पर वासुदेव की कल्पना की है। इस समस्त सृष्टि को उसने विष्णु के क्रीड़ा स्वरूप ही चित्रित किया है।

अ० पु० के सत्रहवें अध्याय के अनुसार यह जगत् की सृष्टि विष्णु की साक्षात् क्रीड़ा है। विष्णु ही सृष्टि, प्रलय आदि के कर्त्ता, सगुण एवं निर्गुण हैं। इस सृष्टि के आरम्भ में सत्-स्वरूप अव्यक्त ब्रह्म ही था, न तो उस समय रात्रि थी और न ही दिन और न ही आकाश। उसके अनन्तर सृष्टिकाल में उस परम पुरुष विष्णु ने प्रकृति में प्रवेश करके उसे क्षुब्ध (विकृत) कर दिया। पुनः प्रकृति से महत्तत्व और उससे अहंकार प्रगट हुआ। यह अहंकार वैकारिक (सात्विक), तैजस (राजस) और भूतादि (तामस) भेद से तीन प्रकार का है। सुश्रुत ने भी अहंकार का भेद इसी नाम से तीन रूपों में किया है (शा० १।४)। तामस अहंकार से राजस की सहायता से शब्दतन्मात्रा वाला आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से स्पर्शतन्मात्रा वाला वायु, वायु से रूप-तन्मात्रा वाला अग्नि, अग्नि से रसतन्मात्रा वाला जल, जल से गन्धतन्मात्रा वाली भूमि का प्रादुर्भाव हुआ। तैजस या राजस अहंकार की सहायता से वैकारिक अहंकार से मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई। उपर्युक्त तन्मात्राओं की उत्पत्ति के क्रम में जहाँ तक गुणों का सम्बन्ध है वे अन्योऽन्यानुप्रवेश के अन्तर्गत आते हैं। यहाँ तक की सृष्टि को आहंकारिक समझना चाहिये, इसके

अनन्तर भौतिक सृष्टि का निर्माण होता है। तत्पश्चात् नाना प्रकार की प्रजा को उत्पन्न करने वाले भगवान् स्वयंभू ने सर्वप्रथम जल की सृष्टि की और उसमें अपनी शक्ति (वीर्य) का आधान कर दिया। जल को ही नार कहा गया है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति नर से हुई है। पुराकाल में नार ही भगवान् का निवास स्थान था अतएव भगवान् को नारायण कहा गया है। स्वयंभू द्वारा जल में स्थापित वीर्य ही स्वर्णमय अण्ड के रूप में प्रगट हुआ। उस अण्डे से स्वयं ब्रह्मा उत्पन्न हुये—ऐसा परम्परया सूत का कथन है। भगवान् हिरण्यगर्भ ने एक वर्ष तक उस अण्ड के भीतर निवास करके उसे दो भागों में विभक्त कर दिया जिनमें से एक का नाम 'द्युलोक' तथा दूसरे का 'भूलोक' हुआ। उन्होंने उन दोनों खण्डों के मध्य में आकाश की सृष्टि की और जल पर तैरती हुई पृथ्वी को स्थित किया तथा दस दिशाओं का विभाग किया। दिशाओं के ये दस विभाग पूर्व, पश्चिम, आदि चार एवं वायव्य आदि चार तथा ऊपर और नीचे मिलाकर दस होते हैं। पुनः सृष्टि की इच्छा करने वाले प्रजापति ने वहाँ काल, मन, वाणी, काम, क्रोध तथा रति आदि की तत्तद्रूप से सृष्टि की। उस प्रजापति ने आरम्भ में विद्युत, वज्र, मेघ, रोहित, इन्द्रधनुष, पक्षि तथा पर्जन्य का निर्माण किया। इस प्रकार यज्ञ की सिद्ध के मुख से ऋक्, यजुष् एवं सामवेद को प्रगट किया। तदनन्तर साध्यगणों ने देवताओं का यजन किया और पुनः ब्रह्मा ने अपनी भुजा से महत् (उच्च) एवं क्षुद्र (अवच) वर्ग के भूतों को जन्म दिया तथा सनत्कुमार की उत्पत्ति की। उनके क्रोध से रुद्र का जन्म हुआ और मरीचि, अत्रि, आङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—इन सात मानस पुत्रों का भी निर्माण किया। अन्ततोगत्वा ब्रह्मा ने अपने शरीर के दो भाग कर स्त्री और पुरुष का सृजन किया। इस प्रकार स्त्री और पुरुष के द्वारा मैथुनजन्य सृष्टि हुई।[1]

जहाँ तक सृष्टि के सामान्य रचना का सम्बन्ध है, वहाँ तक अ० पु० ने इस विषय की एक संक्षिप्त झाँकी प्रस्तुत की है, किन्तु सर्ग का सांगोपांग विवेचन और विभाग बीसवें अध्याय में निहित है। इस अध्याय में नौ प्रकार के सर्गों की चर्चा हुई है जिसको निम्न तालिका से स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है :

सर्गविषयक विभाग[2]

१—महत् तत्व वाली सृष्टि	ब्राह्म सर्ग	प्राकृत सर्ग
२—तन्मात्र ,, ,, ,,	भूत सर्ग	,,

१—अ० पु०, १७।१, १६.

२—अ० पु०, २०।१, ६=वि० पु०, प्रथम अंश, ५।२०, २५.

३—वैकारिक ,, ,, ,, (अहंकार)	(बुद्धि तत्व सहित)	ऐन्द्रियक सर्ग	
४—मुख्य तत्व वाली सृष्टि (=स्थावर)		मुख्य सर्ग	वैकृत सर्ग
५—तिर्यक् स्रोतस् ,, ,, (पशु, पक्षि आदि)		तैर्यग्ययोनिसर्ग	,,
६—ऊर्ध्व स्रोतस् ,, ,, (ऊर्ध्वयोनि)		दैव सर्ग	,,
७—अर्वाक् स्रोतस् ,, ,, (अधो योनि)		मानुष सर्ग	,,
८—अनुग्रह सर्ग (सात्विक + तामस) गुण युक्त		अनुग्रह सर्ग कौमार सर्ग	,,

इस उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त अग्निपुराणकार का कथन है कि कुछ लोग नित्य, नैमित्तक और प्राकृत भेद से सर्ग का तीन विभाग करते हैं। इनमें से नैमित्तक को वैकृत का पर्याय समझना चाहिये, प्राकृत तो प्राकृत ही हैं शेष नित्य सर्ग तो वह है जो प्रतिदिन होने वाले अवान्तर प्रलय से बारम्बार जन्म लेने की परम्परा का अनुसरण करता है।[1]

सांख्यकारिका की ५३वीं कारिका में भौतिक, स्थावर एवं मानुष भेद से सर्ग का तीन विभाग उपलब्ध होता है। इस कारिका की टीका लिखते हुए वाचस्पति मिश्र ने ब्राह्म, प्राजापत्य ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस एवं पैशाच इन आठ को दैव सर्ग के अन्तर्गत माना है। इसके अतिरिक्त स्थावर विभाग के अन्तर्गत पशु, मृग, पक्षी एवं सरीसृप—पाँच की स्थावर सर्ग में गणना की गई है। मानुष सर्ग को केवल एक प्रकार का ही स्वीकार किया गया है। कहने का तात्पर्य यह कि देव सर्ग आठ प्रकार का, तिर्यग्योनिसर्ग पाँच प्रकार का तथा मानुष सर्ग एक प्रकार का है और संक्षेप में यही भौतिक सर्ग है।[2]

अधिवास के माध्यम से सांख्य तत्त्व का प्रतिपादन

अ० पु० के उनसठवें अध्याय में अधिवास विधि के वर्णन के अन्तर्गत कुछ अंशों में सांख्य दर्शन का निरूपण हुआ है।

१—अ० पु०, २०।६, ८.

२—अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुषकश्चैकविधः, समासतो भौतिकसर्गः॥ सां० कारि० ५३.

भगवान् विष्णु (हरि) का सानिध्यकरण ही अधिवास कहा जाता है। साधक को यह चिन्तन करना चाहिये कि मैं अथवा मेरी आत्मा सर्वज्ञ, सर्वव्यापी एवं पुरुषोत्तम रूप है। इस प्रकार की भावना करके आत्मा को ओम्कार इस नाम के द्वारा प्रतिपादित होने वाले परमात्मा के साथ एकता स्थापित करनी चाहिये। तदनन्तर अभिमानी जीव शक्ति को पृथक् करके आत्मा के साथ उसकी एकता स्थापित करनी चाहिये। इस प्रकार उसे स्वात्मा रूप सर्वव्यापी परमेश्वर से जोड़ देना चाहिये। तत्पश्चात् उसे प्राणवायु द्वारा ('ल' बीजात्मक) पृथ्वी को अग्नि बीज (रं) के चिन्तन द्वारा प्रकट हुई अग्नि में जला देना चाहिये। पुनः वायु को अग्नि में विलीन कर आकाश में वायु का लय प्रदर्शित करना चाहिये। अधिभूत, अधिदैव तथा अध्यात्म वैभव के साथ समस्त भूतों का तन्मात्रा में विलीन करके उन सबका क्रमशः संहार करना चाहिए। इसके पश्चात् आकाश का मन में, मन का अहंकार में, अहंकार का महतत्त्व में और महत्तत्त्व का अव्याकृत लय करना चाहिए।[1]

उपर्युक्त वर्णन सांख्योक्त २४ तत्त्वों के प्रलय का संक्षिप्त चित्रण प्रस्तुत करता है जहाँ तक तत्त्वों के लय का प्रश्न है वे सभी प्रचलित पंचविंश तत्त्ववादी सांख्य के साथ पर्याप्त सामञ्जस्य प्रस्तुत करते हैं। मूल प्रकृति को ही अ० पु० ने अव्याकृत पृथ्वी कहा है और इस अव्याकृत पृथ्वी को ज्ञान स्वरूप परमात्मा में विलीन करने का विधान इसी अग्नि पुराणोक्त ऐश्वर सांख्य में है, अन्यत्र अन्य समान के प्रस्थान में नहीं।

परमात्मा को वासुदेव कहा गया है। जहाँ तक अधिदेवता के विचार का प्रश्न है, उसका स्पष्टीकरण अ० पु० में नहीं हुआ है इसका विशद निरूपण महाभारत और सुश्रुत संहिता में (शा० १।४) हुआ है। इन्हें निम्नांकित तालिका से समझा जा सकता है :—

अधिदेवता

इन्द्रिय		देवता
	ज्ञानेन्द्रिय	
१— मन	,,	चन्द्रमा
२—श्रोत्र	,,	दिक्
३—त्वक्	,,	वायु
४—चक्षु	,,	सूर्य

१—अ० पु०, ५९।१५.

५—रसना	ज्ञानेन्द्रिय	जल
६—घ्राण	,,	पृथ्वी
	कर्मेन्द्रिय	
१—वाक्	,,	अग्नि
२—हस्त	,,	इन्द्र
३—पाद	,,	विष्णु
४—पायु	,,	मित्र
५—उपस्थ	,,	प्रजापति

वासुदेव ने अव्याकृत माया का आश्रय लेकर सृष्टि निर्माण की इच्छा से शब्द तन्मात्रा की उत्पत्ति की, इस प्रकार शब्द तन्मात्रा का सम्बन्ध वासुदेव के साथ स्थिर हुआ। इसके अनन्तर क्रम प्राप्त स्पर्शतन्मात्ररूप संकर्षण की उत्पत्ति हुई और इसी प्रकार उपर्युक्त संकर्षण रूप स्पर्शतन्मात्र ने तेजोरूप प्रद्युम्न की सृष्टि की। प्रद्युम्न ने रसरूप अनिरुद्ध को और अनिरुद्ध ने गन्धस्वरूप ब्रह्मा को जन्म दिया। ब्रह्मा ने सर्वप्रथम जल की सृष्टि की और उन्होंने उस जल में पाँच भूतों से युक्त हिरण्यमय अण्ड की उत्पत्ति की, इसी अण्ड में जीव शक्ति का संचार हुआ। यह वही जीव शक्ति है जिसका आत्मा में सर्वप्रथम उप-संहार कहा गया है। जीव के साथ प्राण का संयोग होने पर वह वृत्तिमान कह-लाता है। व्याहृति संज्ञक जीव प्राणों में स्थित होकर आध्यात्मिक पुरुष कहलाते हैं और उन्हीं से आठ वृत्ति वाली प्राणयुक्त बुद्धि उत्पन्न होती है, उस बुद्धि से अहंकार का और अहंकार से मन का प्रादुर्भाव हुआ। मन से संकल्पादि पाँच विषय प्रगट हुए जो शब्द, स्पर्श रूप, रस एवं गन्ध नाम से प्रख्यात है।[1]

इस प्रसंग में यह सर्वथा चिन्तनीय है कि अ० पु० जहाँ एक ओर सत्रहवें अध्याय में सर्ग निरूपण के प्रसंग में ब्रह्मा को जलगत अण्ड से उत्पन्न बताया है वहाँ दूसरी ओर उससे अण्ड की उत्पत्ति प्रस्तुत करता है। यहाँ पर उत्पन्न हुई सभी तन्मात्रायें परस्पर एक-एक देवता का आश्रय लेकर क्रमशः एक दूसरे से उत्पन्न हुई प्रदर्शित हैं। जहाँ तक गुणों के परस्पर अन्योऽन्यानुप्रवेश का प्रश्न है वहाँ तो यह कथन सर्वथा पूर्ववत विचारधारा से संगत बैठ जाता है पर ब्रह्मा से जल वाली उत्पत्ति और उससे पञ्च महाभूत हिरण्य अण्ड का प्रादुर्भाव कुछ विसदृशता को ही प्रस्तुत करता है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध से ही पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ प्रगट हुई है

१—अ० पु०, ५९।६।१२.

जिनका सम्बन्ध पाँचों महाभूतों से है और इनके द्वारा ही सबका आधारभूत स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ।

प्रलय निरूपण

अ०पु० ने प्रलय का निरुपण एक अध्याय (३६८) में ही कर दिया है। नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत तथा आत्यन्तिक भेद से प्रलय चार प्रकार का होता है। सृष्टि में उत्पन्न हुए प्राणियों की जो सदा मृत्यु होती रहती है उसका नाम नित्य प्रलय है। एक सहस्र चतुर्युग व्यतीत होने पर जब ब्रह्मा का दिन समाप्त होता है और उस समय जो सृष्टि का लय होता है वह ब्रह्मलय या नैमित्तिक लय है। पञ्चभूतों का प्रकृति में लीन हो जाना प्राकृत प्रलय कहलाता है और ज्ञान हो जाने पर जब आत्मा परमात्मा के स्वरूप में स्थित हो जाता है तो उस स्थित को आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं। कल्प के अन्त में जब नैमित्तिक प्रलय होती है तब उस समय यह भूमण्डल प्रायः क्षीण हो जाता है और उस अवस्था में भयंकर अनावृष्टि होती है, उससे भू-तल के समस्त जीव-जन्तु विनष्ट हो जाते हैं। तदनन्तर जगत् के स्वामी भगवान् विष्णु सूर्य की सातों किरणों में स्थित हो पृथ्वी-पाताल और समुद्र आदि का सारा जल पी जाते हैं। इस प्रकार सर्वत्र जल सूख जाता है। तदनन्तर भगवान् की इच्छा से जल का आहार करने में पुष्ट हुई सातों किरणें सात सूर्य के रूप में प्रकट हो जाती हैं। वे सातों सूर्य पाताल सहित समस्त त्रिलोको को जलाने लगते हैं। उस समय यह पृथ्वी कछुए की पीठ के समान दिखाई देती है। तदनन्तर भगवान् शेष के श्वासों से कालाग्नि रुद्र का प्रादुर्भाव होता है और वे नीचे के समस्त पाताल को भस्म कर डालते हैं। पाताल के पश्चात् भगवान विष्णु भू-लोक को, पुनः भुवलोक को तथा सबके अन्त में स्वर्ग लोक को दग्ध कर देते हैं। उस समय समस्त त्रिभुवन जलता हुआ सा प्रतीत होता है। तदन्तर भुवर्लोक और स्वर्ग—इन दो लोकों के निवासी अधिक ताप से संतप्त होकर महलोक में चले जाते हैं तथा महलोक से जनलोक में जाकर स्थित हो जाते हैं। शेषरूपी भगवान् विष्णु के मुखोच्छ्वास से प्रकट हुए कालाग्नि रुद्र जब सम्पूर्ण जगत् को जला डालते हैं, तब आकाश में नानाप्रकार के रूप वाले बादल उमड़ पड़ते हैं। उनके साथ विद्युत् की की गड़गड़ाहट भी होती है। वे बादल सौ वर्षों तक वर्षा करके दग्ध अग्नि को शान्त करते हैं। जब सप्तर्षियों के स्थान तक जल पहुँच जाता है तब विष्णु के निकली हुई श्वास से सौ वर्षों तक प्रचण्ड वायु चलती है जो उन बादलों को

१—अ० पु०, ५९।१३-१५.

नष्ट कर देती है। इस प्रकार ब्रह्म रूपधारी भगवान् विष्णु उस वायु को पीकर एकार्णव के जल में शयन करते हैं। उस समय सिद्ध और महर्षिगण जल में स्थित होकर भगवान् की स्तुति करते हैं और भगवान् मधुसूदन अपने वासुदेव संज्ञक आत्मा का चिन्तन करते हुए अपनी ही दिव्य मायामयी योग निद्रा का आश्रय लेकर एक कल्प तक सोते रहते हैं। तदनन्तर जागने पर वे ब्रह्मा के रूप में स्थित होकर पुनः जगत् की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार जब ब्रह्मा की दो परार्द्ध की आयु समाप्त होती है, तब यह सारा स्थूल प्रपञ्च प्रकृति में लीन हो जाता है। इकाई-दहाई के क्रम से एक के बाद दस गुना स्थान नियत करते यदि गुणा करते चले जायें तो अठारहवें स्थान तक पहुँचने पर जो संख्या बनती है, उसे परार्द्ध[1] कहते हैं। परार्द्ध से दूना समय व्यतीत हो जाने पर 'प्राकृत प्रलय' होता है। उस समय वर्षा के अकस्मात् अवरुद्ध हो जाने और सब ओर प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित होने के कारण सब कुछ भस्म हो जाता है। महत्तत्व से लेकर विशेष पर्यन्त सभी विकारों (कार्यों) का नाश हो जाता है। भगवान् के संकल्प से होने वाले उस प्राकृत प्रलय के प्राप्त होने पर जब पहले पृथ्वी के गन्ध आदि गुणों को ग्रस लेता है तब गन्धहीन पृथ्वी का प्रलय हो जाता है। उस समय जल में विहीन होकर वह जलरूप हो जाती है ती उसके पश्चात् रस मय जल की स्थिति रहती है। फिर तेजस्तत्व जल के गुण रस को पी जाता है। जल के लीन हो जाने पर अग्नितत्त्व से प्रज्वलित होता है। तत्पश्चात् तेज के प्रकाशमय गुण रूप को वायु तत्त्व ग्रस लेता है। इस प्रकार तेज के शान्त हो जाने पर अत्यन्त प्रबल एवं प्रचण्ड वायु बड़े वेग से चलती है। वायु के गुण स्पर्श को आकाश अपने में लीन कर लेता है। गुण के साथ ही वायु का नाश होने पर केवल नीरव आकाश मात्र रह जाता है। तदनन्तर भूतादि (तामस अहंकार) आकाश के गुण शब्द को ग्रस लेता है इसके पश्चात् महतत्व से अभिमान स्वरूप भूतादि एवं तैजस अहंकार को ग्रस लेता है। इस तरह पृथ्वी जल में लीन होती है, जल तेज में समा जाता है, तेज का वायु में, वायु का आकाश में और आकाश का अहंकार में लय होता है। अहंकार महत्तत्व में प्रवेश कर जाता है और उस महतत्त्व को भी प्रकृति ग्रस लेती है। प्रकृति के दो स्वरूप हैं—'व्यक्त' और 'अव्यक्त'। इनमें व्यक्त प्रकृति का अव्यक्त प्रकृति में लय होता

१—इन अठारह संख्याओं में यदि एक को भी गिन ले अर्थात् एक के बाद सत्ररह शून्य लगावें तो वर्तमान गणना के अनुसार यह संख्या एक शंख के बराबर होता है। यदि एक के बाद अठारह शून्य लगाये जायें तो महाशंख के बराबर होती है। ये शंख और महाशंख ही परार्द्ध हैं।

है। एक अविनाशी और शुद्ध स्वरूप जो पुरुष है वह ही परमात्मा का अंश है। अतः प्रकृति और पुरुष ये दोनों परमात्मा में लीन हो जाते हैं। परमात्मा सत्स्वरूप ज्ञेय और ज्ञानमय है। वह आत्म (बुद्धि आदि) से सर्वथा परे है वही सबका सर्वेश्वर कहलाता है जिसमें नाम और जाति आदि की कल्पनाएँ नहीं है।[1]

इसी प्रसंग को तीन सौ उनहत्तरवें अध्याय में गर्भ की उत्पत्ति के निरूपण के वर्णन को आत्यन्तिक प्रलय के माध्यम से स्पष्ट किया गया है।

जब जगत के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक संतापों को जान कर मनुष्य को अपने से भी वैराग्य हो जाता है, उस समय उसे ज्ञान होता है और ज्ञान से इस सृष्टि का आत्यन्तिक प्रलय होता है (यही जीवात्मा का मोक्ष है)।[2]

यद्यपि इस अध्याय में सृष्टि एवं प्रलय का निरूपण सांख्य की विचार-धारा के अनुसार हुआ है किन्तु पुरुष को विष्णु के रूप में प्रस्तुत कर जगत को उसकी क्रीड़ा माना गया है। अव्यक्त से महाभूत पर्यन्त सभी तत्व सांख्यवत् ही उद्भूत माने गये हैं। सृष्टि के निर्माण की पहेली को अ० पु० ने पौराणिक शैली में प्रस्तुत कर इस सम्बन्ध में अनेक विचारधाराओं का उपस्थापन किया है। विवर्तवाद एवं परिणामवाद जैसे सिद्धान्तों को अंगीकार करके इस पुराण ने चार विचार-धारायें रखी हैं जिनमें से प्रथम के अनुसार गुणों में संक्षोभ होने के कारण प्रकृति सृष्टि का निर्माण आरम्भ करती है। द्वितीय विचारधारा के अनुसार ईश्वर का वीर्य जल में विकसित हो हिरण्मय अण्ड का रूप धारण कर लेता है, जिससे स्वयम्भू ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है। तृतीय विचारधारा में प्रजापति को ही सृष्टि का स्रष्टा प्रदर्शित किया गया है। चतुर्थ मैथुनिक सृष्टि विचारधारा है जिसके अनुसार ब्रह्मा अपने शरीर को नर एवं नारी इन दो रूपों में विभक्त कर देता है और सृष्टि दोनों के संयोग से आरम्भ होती है। अ० पु० का प्रलयपरक वर्णन चरक एवं सुश्रुतवत् ही है। सांख्यकारिका की सृष्टि निर्माण अवस्था से अ० पु० में कुछ भिन्नता आ गई है यद्यपि एक विचारधारा के अनुसार समानता है तो दूसरे के अनुसार विषमता है। नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत एवं आत्यन्तिक भेद से प्रलय का चतुर्विध विभाग जो अ० पु० में उपलब्ध है वह चरक या सुश्रुत में नहीं है।

अ० पु० ने सेश्वर सांख्य का विभिन्न विचारधाराओं के सम्मिश्रण से प्रतिपादन किया है।

१—अ० पु०, ३६८।१।२७.

२—अ० पु०, ३६९।१.

तृतीय अध्याय

योग दर्शन विषयक सामग्री

अष्टांग योग

योग की परिभाषा

अग्निपुराण ने अष्टाङ्ग योग का विशद वर्णन पाँच अध्यायों (३७२ से ३७६ तक) में किया है। यह अष्टाङ्गयोग संसार के (त्रिविध) तापों से मुक्त कराने का एक साधन है। ब्रह्म को प्रकाशित करने वाला यह ज्ञान भी 'योग' से ही सुलभ है। चित्त की एकाग्रता को योग कहते हैं।[1] दूसरे शब्दों में योग चित्त की वृत्ति का निरोध है।[2] जीवात्मा एवं परम (ब्रह्म) आत्मा में अन्तःकरण की वृत्तियों का स्थापन 'उत्तम योग' है।[3] अ० पु० की योग विषयिणी द्वितीय परिभाषा पतञ्जलि के योगसूत्र[4] की अविकल अनुकृति है।

अष्टाङ्गयोग का परिगणन

योगसूत्र के समान ही अ० पु० ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा एवं समाधि—इस प्रकार योग के आठ अंगों का नाम लिया है।[6]

१—यम

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह ये पाँच यम हैं।[7] इस प्रसंग में यह सर्वथा ध्यातव्य है कि अ० पु० के समान योग में यम के पाँचों घटकों का परिसंख्यान तो है पर प्रत्येक की व्याख्या योगसूत्र में नहीं है। अग्निपुराणकार ने इन पाँचों का अतिविस्तार से प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार यह भोग एवं मोक्ष का सतत प्रदाता है। अहिंसा आदि इन पाँचों का निरुपण इस प्रकार है—

१—...... योगतस्त्वैकचित्तता। अ० पु०, ३७२।१.

२—चित्तवृत्तिनिरोधश्च... । तदेव, ३७२।२.

३—जीवब्रह्मात्मनोः परः। तदेव,

४—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगसूत्र, १।१.

५—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। यो० सू०, २।२९.

६—अ० पु०, ३७२।१.

७—अ० पु०, ३७३।३;=अ० पु०, १९, २० (अ).

(क) अहिंसा

किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है।[1] योगसूत्र के व्यास भाष्य में अहिंसा की परिभाषा बतलाई गई है। उनके अनुसार सब प्रकार से सर्वदा समस्त प्राणियों के चित्त में द्रोह न करना अहिंसा है।[2] अ० पु० के अनुसार अहिंसा उत्तम धर्म है। इसके महत्त्व का प्रतिपादन एक उदाहरण के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। जिस प्रकार पथ पर चलने वाले प्राणियों के पद चिन्ह हाथी के पदचिन्हों में समाविष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार धर्म के सभी साधन अहिंसा में गतार्थ माने जाते हैं।

अहिंसा को सम्यक् समझने के लिए हिंसा का ज्ञान करना आवश्यक है यही कारण है कि अ० पु० कार ने हिंसा के दस भेद किये हैं और वे हैं—(१) किसी को उद्वेग में डालना, (२) किसी को संताप देना, (३) रोगी बनाना, (४) शरीर से रक्त निकालना, (५) चुगली खाना, (६) किसी के हित में अत्यन्त बाधा डालना, (७) किसी के मर्म का उद्घाटन कर देना, (८) किसी को सुख से वंचित कर देना, (९) अकारण किसी को रोक रखना तथा (१०) किसी का वध कर देना।[3]

(ख) सत्य

प्राणियों के लिये अत्यन्त हितकारी वाणी का प्रयोग करना ही सत्य का लक्षण है।[4] व्यास भाष्य के अनुसार अर्थानुकूल वाणी एवं मन का व्यवहार होना ही सत्य है, इतना ही नहीं उन्होंने इसकी परिधि में अनेक तथ्यों का समावेश कर लिया है[5] हितकर वाणी के प्रयोग का महत्त्व उन्होंने आकण्ठरव स्वीकार किया है :—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्म्मः सनातनः॥
(अ० पु०, ३७२।८)।

१—भूतापीडा ह्यहिंसा·······। अ० पु०, ३७३।४.

२—तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। योगसूत्र २।३० पर व्यास भाष्य)।

३— अ० पु०, ३७२।५-७.

४—यद्भूत हितमत्यन्तं वचः सत्यस्य लक्षणम्। (अ० पु०, ३७२।७).

५—सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। तथा दृष्टं यथाऽनुमितं तथा श्रुतं तथा वाङ्-मनश्चेति। परत्र स्वबोध संक्रान्तये वागुक्ता, सा यदि न वञ्चिता

(ग) ब्रह्मचर्य

अ० पु० ने मैथुन के परित्याग को ब्रह्मचर्य कहा है।[१] व्यास भाष्य के अनुसार गुप्त इन्द्रिय उपस्थ का संयम करना ब्रह्मचर्य है।[२] अ० पु० ने मैथुन को आठ विभागों में विभक्त कर दिया है और वे इस प्रकार हैं :—

स्त्री का स्मरण, उसकी चर्चा, उसके साथ क्रीडा करना, उसकी ओर देखना, उससे लुक-छिप कर बातें करना, उसे पाने का संकल्प, उसके लिये उद्योग तथा क्रिया-निर्वृत्ति (स्त्री से साक्षात् समागम)।[३] यही ब्रह्मचर्य समस्त शुभ कर्मों की सिद्धि का मूल है और इसके अभाव में समस्त क्रियाए निष्फल हो जाती हैं। जहाँ तक स्त्री से मोहित होने का प्रश्न है उस विषय में अग्निपुराण ने वशिष्ठ, चन्द्रमा, शुक्र, बृहस्पति और ब्रह्मा जैसे तपोवृद्ध एवं वयोवृद्ध व्यक्तियों के स्त्रियों के मोहपाश में निबद्ध हो जाने के उदाहरण को प्रस्तुत किया है। स्त्रियों की मादकता की तुलना उन्होंने सुरा से की है और इसी प्रसंग में गौड़ी, पैष्टी और माध्वी इस प्रकार त्रिविध सुरा के अतिरिक्त एक चौथी सुरा स्त्री को माना है जिससे यह समस्त संसार मोहित है। मदिरा एवं स्त्री के मद का पार्थक्य प्रदर्शित करते हुए उन्होंने यह परिवेक्षण किया है कि जहाँ मदिरा के पान करने पर मनुष्य मतवाला हो जाता है वहाँ केवल मात्र स्त्री को देखते ही उन्मत्त हो जाता है। नारी देखने मात्र से ही मन में उन्माद उत्पन्न करती है इसलिये उसका अवलोकन नहीं करना चाहिये।[४]

भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिर्वन्ध्या वा भवेदिति। एषा सर्व-भूतोपकारार्थ-प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। (योग सूत्र २-३० पर व्यास भाष्य)।

१—अ० पु०, ३७।९.

२—ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः। (योग सूत्र २।३० पर व्यास भाष्य)।

३—अ० पु०, ३७।९,१०.

४—तदेव, ३७।१०।१४.

इस अध्याय में अ० पु० द्वारा उद्धृत १२वें श्लोक का उत्तरार्द्ध—गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेयास्त्रिविधाः सुराः, मनुस्मृति (११।९४ अ) से अवतारित प्रतीत होता है। डा० बी० वी० मिश्र (पालिटी इन दि अग्निपुराण, अपेण्डिक्स, पृ० ३१) को यह सन्दर्भ मनुस्मृति के कुल्लूकभट्ट भाष्य में दृष्टिगत नहीं हुआ किन्तु मुझे यह सन्दर्भ उपलब्ध हो गया।

अग्निपुराणकार ने क्रम से प्राप्त अस्तेय का उल्लेख न कर ब्रह्मचर्य का उससे पूर्व सहेतुक उल्लेख किया है। यतः इस प्रकरण में विवेच्य सामग्री अधिक थी अतएव उसका प्रथम निर्देश करना आवश्यक समझा गया।

(घ) अस्तेय

अग्निपुराणकार ने अस्तेय की परिभाषा का कहीं भी निर्देश नहीं किया है। इस विषय में व्यास भाष्य ने अवश्य प्रकाश डाला है। उनके अनुसार शास्त्र आज्ञा के विरुद्ध दूसरों से धनादि द्रव्यों का स्वीकार करना 'स्तेय' है। इतना ही नहीं अपितु किसी वस्तु के प्रति स्पृहा को व्यक्त करना भी 'स्तेय' है, स्तेय से विपरीत ही अस्तेय है जिसका सामान्य अर्थ है चोरी न करना।[1]

स्तेय करने के परिणामों पर भी अग्निपुराण ने प्रकाश डाला है। उनका कथन है कि यदि मनुष्य बलपूर्वक किसी भी वस्तु का अपहरण करता है तो उसे तिर्यग्योनि में जन्म लेना पड़ता है, यही स्थिति उसकी भी होती है जो हवन किये बिना ही (बलिवैश्व देव के द्वारा देवता आदि का भाग अर्पण किये बिना ही) हविष्य (भोज्य पदार्थ) का भोजन कर लेता है।

(ङ) अपरिग्रह

अस्तेय के समान ही अ० पु० ने अपरिग्रह की भी परिभाषा नहीं की है। व्यास भाष्य के अनुसार विषयों का प्राप्त करना पुनः उनकी रक्षा करने की चिन्ता, तदनन्तर उनके नाश से चित्त में क्षोभ, पुनः उनका संग और अन्ततोगत्वा हिंसा के विचार से उनका स्वीकार न करना अपरिग्रह है।[2] भोज ने भोग के साधनों को स्वीकर न करने को 'अपरिग्रह' कहा है।[3] इसी अपरिग्रह के विषय में उदाहरण देते हुए अग्निपुराणकार ने अपने साथ सीमित वस्तुओं के रखने की इयत्ता को प्रदर्शित किको है उनके अनुसार कौपीन, शरीर ढकने वाला वस्त्र, शीत निवारण करने वाली कथरी (कन्था) और चरण-पादुका ही संग्रहणीय होती हैं। इन उपर्युक्त वस्तुओं के अतिरिक्त किसी अन्य सामग्री का संग्रह नहीं करना चाहिये केवल शरीर की रक्षा के साधनभूत वस्त्र आदि का संग्रह

१—स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं, तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति। (योगसूत्र २।३० पर व्यास भाष्य)।

२—विषयाणामर्जनरक्षणयसङ्गर्हिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः। (योगसूत्र २।३० पर).

३—अपरिग्रहो भोगसाधनानामनङ्गीकारः। (योगसूत्र २।३० पर).

किया जा सकता है। वस्तुतः धर्म के अनुष्ठान में व्यापृत शरीर की यत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिये।[1]

२—नियम

अ० पु० ने यम के साथ ही नियम की भी चर्चा एक ही अध्याय में कर दी है। जिस प्रकार यम को भोग एवं मोक्ष का सतत प्रदाता कहा गया था उसी प्रकार यह नियम भी है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान-ये पाँच नियम हैं।[2] यम के समान नियम के पाँचों घटकों का परिसंख्यान तो योगसूत्र में है पर उनकी व्याख्या न तो योगसूत्र में है और न ही अग्निपुराण में। इसकी विषय सामग्री उपर्युक्त पुराण में योग सूत्र की अपेक्षा कहीं अधिक है। शौचादि इन पाँचों नियमों का निरुपण क्रमशः इस प्रकार है :—

(क) शौच

शौच शब्द का सामान्य अर्थ शुद्धि है। यह बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है। इनमें से मृत्तिका और जल से होने वाली शुद्धि बाह्य तथा भावों से होने वाली शुद्धि को आभ्यन्तर शुद्धि कहा जाता है। दोनों ही प्रकार से जो शुद्ध है वही शुद्ध कहलाता है। इनमें किसी एक की भी न्यूनता होने पर शुद्धि नहीं मानी जा सकती है।[3] व्यास[4] और भोज[5] ने अ०पु० के समान ही शौच का इन्हीं दो भेदों के अन्तर्गत प्रतिपादन किया है।

(ख) संतोष

प्रारब्ध के अनुसार जैसे-तैसे जो कुछ भी प्राप्त हो जाये उसी में हर्ष मानना

१—अ०पु०, ३७२।१५।१७.

२—शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

योo सूo, २।३२.

तथा 'शौचं सन्तोषतपसी स्वाध्यायेश्वरपूजने'

(अ० पु०, ३७२।३ = ३६१).

३—अ० पु०, ३७२।१७, १८.

४—तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्। योo सूo २।३२ पर).

५—''''बाह्यं मृज्जलादिभिः कायादिप्रक्षालनम्। आभ्यन्तर मैत्र्यादिभिश्चित्त मलानां प्रक्षालनम्। (उपर्युक्त पर)।

संतोष है, इसी का दूसरा नाम तुष्टि भी है।[1] व्यास के अनुसार समीपस्थ साधनों के होते हुये भी अधिक प्राप्ति की इच्छा न करना संतोष है।[2] भोज अ०पु० के समान ही संतोष पद से तुष्टि का ग्रहण करते हैं।[3]

(ग) तप

मन और इन्द्रियों की एकाग्रता को अ०पु० ने तप कहा है[4] और इन्हीं पर विजय पाना सब धर्मों से श्रेष्ठ धर्म माना जाता है। व्यास के अनुसार शीत, उष्ण, क्षुधा, तृष्णा जैसे द्वन्द्व को सहन करना ही तप है।[5]

यह तप वाचिक, मानस एवं शारीरिक भेद से तीन प्रकार का है। इनमें से मन्त्र, जप आदि वाचिक, राग या आसक्ति का त्याग मानसिक तथा देवपूजन आदि शारीरिक तप कहलाते हैं। ये त्रिविध तप सब कुछ प्रदान करने वाले कहे गये हैं।[6]

(घ) स्वाध्याय

अ०पु० ने स्वाध्याय पद की व्याख्या प्रस्तुत नहीं की है किन्तु उसका निरुपण अति सूक्ष्मता से किया है। व्यास भाष्य के अनुसार मोक्षविषयक शास्त्रों का अध्ययन करना या ओंकार (प्रणव) का जप करना स्वाध्याय है।[7] यतः वेद प्रणव से आरम्भ होते हैं अतः प्रणव में सम्पूर्ण वेदों की स्थिति मानी जाती है। वाणी का जितना भी विषय है वह सब प्रणव ही है अतएव प्रणव का अभ्यास विहित है।

(ङ) ईश्वर प्रणिधान

स्वाध्याय के समान ही अ० पु० ने ईश्वर-प्रणिधान की कोई परिभाषा नहीं की है पर उसका विशद विवेचन किया है। व्यास[8] के अनुसार उस परम

१—यथा कथञ्चित्प्राप्त्या च सन्तोषस्तुष्टिरुच्यते। (अ० पु० ३७२।१९).
२—सन्तोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। (योगसूत्र, २।३२ पर).
३—सन्तोषस्तुष्टिः (योगसूत्र २।३२ पर).
४—अ० पु०, ३७२।१९.
५—तपो द्वन्द्वसहनम्। (योगसूत्र २।३२ पर).
६—अ० पु०, ३९२।२०-२१.
७—स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। (योग सूत्र, २।३२ पर).
८—ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्। (योग सूत्र, २।३२ पर).

गुरु परमात्मा में सभी कर्मों का अर्पण करना 'ईश्वर प्रणिधान' है। प्रणव की विशद व्याख्या करते हुए पुनः अ० पु० का कथन है कि अकार, उकार तथा अर्धमात्रा युक्त मकार ही ओम् या प्रणव है। तीन मात्राएँ, तीनों वेद, भूः आदि लोक, तीन गुण, जागृत, स्वप्न एवं सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ तथा ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश ये सभी प्रणव रुप हैं। इसी प्रणव के अन्तर्गत प्रद्युम्न श्री और वासुदेव भी आते हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें ओंकार कहा जाता हैं। यह ओंकार मात्रा से रहित या नष्ट द्वैत की निवृत्ति कराने वाला तथा शिव स्वरुप हैं। वस्तुतः मुनि उसी को कहना चाहिए जिसने ओंकार को सम्यग् रीति से समझ लिया है। इसी प्रणव की चतुर्थ मात्रा (अर्ध मात्र के नाम से भी प्रसिद्ध) गान्धारी कहलाती है जो प्रयुक्त होने पर मूर्धा में लक्षित होती है। वस्तुतः यही तुरीय नाम से प्रसिद्ध परम ब्रह्म है। यह एक ज्योतिर्मय है। यह घट-स्थितदीप के समान मूर्धा में स्थित होकर अपनी ज्ञानमयी ज्योति प्रदीप्त किये रहता है। मनुष्य को चाहिये हृत् कमल में स्थित ब्रह्म का ध्यान करे और उसका नित्य जप करता रहे। मुण्डकोपनिषद् (२,२।४,) के निम्न मन्त्र को उद्धृत करते हुए अ०पु० ने प्रणव की सार्थकता का उत्तम उदाहरण दिया है—

> प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
> अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥
>
> (अ०पु०, ३७२।२७)

अर्थात् प्रणव धनुष, जीवात्मा वाण तथा ब्रह्म उसका लक्ष्य है अतएव साधक को चाहिये कि सावधान होकर उस लक्ष्य का वेधन करे तथा बाण के समान उसमें तन्मय हो जाये। एकाक्षर प्रणव ही ब्रह्म है और यही एक मन्त्र परम तत्त्व हैं। इसी एकाक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर जो व्यक्ति किसी अन्य वस्तु की इच्छा करता है उसको वह वस्तु उपलब्ध हो जाती है। इस प्रणव का देवी गायत्री छन्द है, अन्तर्यामी ऋषि है, परमात्मा देवता है तथा भोग और मोक्ष की सिद्धि के लिये इनका विनियोग किया जाता है।

इससे सम्बन्धित अङ्गन्यास की विधि अग्निपुराणकार ने इस प्रकार दी है:—

ॐ भूः अग्न्यात्मने हृदयाय नमः—इस मन्त्र से हृदय का स्पर्श करना चाहिए।

ॐ भुवः प्राजापत्यात्मने शिरसे स्वाहा—ऐसा कहकर मस्तक का स्पर्श करना चाहिए।

ॐ स्वः सर्वात्मने शिखायै वषट्—इस मन्त्र से शिखा का न्यास करना चाहिए।

'ॐ भूर्भुवः स्वः सत्यात्मने कवचाय हुम्'—इस मन्त्र से दाहिने हाथ की अंगुलियों द्वारा बायी भुजा के मूल भाग और बायें हाथ की अँगुलियों से दाहिनी भुजा के मूल भाग का एक ही साथ स्पर्श करना चाहिए। तत्पश्चात् पुनः 'ॐ भूर्भुवः स्वः सत्यात्मने अस्त्राय फट्'—कहकर चुटकी बजानी चाहिए। इस प्रकार अङ्गन्यास करके भोग और मोक्ष की सिद्धि के लिये भगवान् विष्णु का पूजन उनके नामों का जप तथा उनके उद्देश्य से तिल और घी आदि का हवन करना चाहिये। इससे मनुष्य की समस्त कामनाएँ पूर्ण होती हैं (यही ईश्वर प्रणिधान है)।[1]

प्रणव जप के महत्त्व को और भी विशद करते हुए अग्निपुराण ने यह भी कहा है कि प्रतिदिन १२ हजार प्रणव के जाप से १२ मास में परम ब्रह्म का ज्ञान, एक करोड़ जप करने से अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति तथा एक लाख जप से सरस्वती आदि की कृपा प्राप्त हो जाती है।[2]

पूजा का एक माध्यम यज्ञ (मख) भी है और यह वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र भेद से तीन प्रकार का माना गया है। इन तीनों में से जो अभीष्ट हो उसी एक विधि का आश्रय लेकर श्रीहरि का अर्चन करना चाहिये।[3]

यज्ञ से भी अधिक महत्वपूर्ण भक्ति नमस्कार के द्वारा अग्निपुराण ने मानी है और उसके अनुसार जो मनुष्य दण्ड की भाँति पृथ्वी पर लेट कर भगवान् को साष्टाङ्ग प्रणाम करता है उसे वह उत्तम गति प्राप्त होती है जो कि सैकड़ों यज्ञ द्वारा दुर्लभ है इसी की पुष्टि करते हुए अग्निपुराण ने कहा है कि जिसकी आराध्य देव में परा भक्ति है और उसकी भक्ति देवतावत् गुरु में भी है ऐसे महात्माओं को इन कहे गये विषयों का यथार्थ ज्ञान होता है।[4]

अग्निपुराण ईश्वर प्रणिधान के विषय में सर्वाधिक सामग्री प्रस्तुत करता है और इस प्रसंग में वह निर्गुण योग से सगुण योग में प्रविष्ट हुआ प्रतीत होता है।

१—अ०पु०, ३७२।२२-२१.
२—अ०पु०, ३७२।३२,३३.
३—अ०पु०, ३७२।३४.
४—अ०पु०, ३७२।३५,३६.

३—आसन

अग्निपुराण ने आसन की कोई परिभाषा नहीं की है। पातंजल योग सूत्र[१] के अनुसार जिसमें स्थिरता और सुख हो वही आसन है। भोज ने "अस्येतेऽनेनत्यासनम्" इस प्रकार आसन को स्पष्ट किया है। अ० पु० ने कमलादि आसन कहकर आसन के विविध भेदों का निरुपण करना उचित नहीं समझा। योगसूत्र के व्यासभाष्य[२] एवं भोजवृत्ति[३] में अनेक प्रकार के आसनों की संक्षिप्त नामावलि निहित है। अपनी सुविधा अनुसार साधक को किसी एक आसन का आश्रय लेकर परमात्मा का चिन्तन करना चाहिये। सर्वप्रथम किसी पवित्र स्थान में न अधिक ऊँचा न अधिक नीचा स्थिर आसन बिछाना चाहिये। आसन के लिये वस्त्र या मृग चर्म का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु उनके ऊपर कुशासन का होना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार के आसन पर बैठ कर मन और इन्द्रियों की चेष्टाओं को रोकता हुआ योगी चित्त को एकाग्र कर सकता है जिसके द्वारा आत्म शुद्धि सम्भव है। स्थिर या अचल भाव का तात्पर्य अग्नि पुराण ने काय, शिर और ग्रीवा को एक सीध में रखना माना है। इस प्रकार स्थिर आसन से बैठकर अपनी नासिका के अग्रभाग को देखना चाहिये उसके लिये अन्य दिशाओं का अवलोकन निषिद्ध है। सुखासन के लिये यह आवश्यक है कि योगी अपने दोनों पाँव की एड़ियों से अण्डकोष और लिङ्ग की रक्षा करते हुए दोनों ऊरुओं (जाघों) के ऊपर भुजाओं को यत्नपूर्वक तिरछा करके रक्खे तथा बाये हाथ की हथेली पर दाहिने हाथ के पृष्ठ भाग को स्थापित करें और मुँह को कुछ ऊँचा करके सामने की ओर स्थिर रक्खे। जबतक इस प्रकार का आसन नहीं होगा तबतक प्राणायाम करना सम्भव नहीं है।[४]

४—प्राणायाम

अ०पु० ने प्राणायाम शब्द की वैज्ञानिक व्याख्या की है उनके अनुसार

१—स्थिरसुखमासनम्। (यो०सू० २।४६).

२—तद्यथा पद्मासनं वीरासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं····
(उपर्युक्त सूत्र के व्याख्यान में)

३—पद्मासनदण्डासनस्वस्तिकासनादि। (उपर्युक्त सूत्र के व्याख्यान में)

४—३७३।२१-६ अ०पु० (३७३।४) में उद्धृत 'सम्प्रेक्ष्य····प्रजननं पुनः'—वाला श्लोक वायुपुराण (११।१६ आ; ११।१५ आ) में अक्षरशः उपलब्ध है,

शरीर में बहने वाली वायु ही प्राण है और उसके निरोध का नाम आयाम है[1] इस प्रकार प्राणायाम का सामान्य अर्थ प्राणवायु का रोकना होता है। पतञ्जलि ने आसन के होते हुए श्वास-प्रश्वास की गति के रोकने को प्राणायाम कहा है[2]। व्यासभाष्य ने श्वास और प्रश्वास पद की शरीर क्रियापरक व्याख्या की है उनके अनुसार बाह्य वायु का आभ्यन्तर खींचना श्वास तथा कोष्ठगत वायु का बाहर निकालना प्रश्वास है तथा उन दोनों की गतियों को रोक देना ही प्राणायाम है[3]। इसी को अ०पु० ने अन्यत्र (१६१-२२,२३) प्राणायाम के त्रिविध भेद के रूप में प्रस्तुत किया है। अ०पु कार ने प्राणायाम की विधि का भी निर्देश किया है। इसके सम्पादन में रेचक, पूरक एवं कुम्भक इन तीन क्रियाओं का सन्निवेश है योग सूत्र में रेचक आदि नाम दृष्टिगत नहीं होते और उनके स्थान में क्रमशः बाह्य (प्रश्वास), आभ्यन्तर (श्वास) एवं स्तम्भवृत्ति का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त एक चतुर्थ प्रक्रिया का भी उल्लेख पतञ्जलि ने किया है।[4] प्राणायाम की विधि के सम्पादन के प्रसंग में अग्निपुराण का कथन है कि साधक को अपनी अँगुली से नासिका के एक छिद्र को दबा कर दूसरे छिद्र द्वारा उदर स्थित वायु को बाहर निकालना चाहिए, इस उदर स्थित वायु का बाहर निकालना ही रेचन है। इस कारण इस क्रिया को रेचक कहा गया है तदनन्तर चमड़े की धोकनीं (दृति) के समान शरीर का बाह्य वायु से पूरण करना चाहिये जब वायु से परिपूर्ण शरीर हो जाये तो कुछ समय तक साधक को स्थिर भाव तक बैठे रहना चाहिये। बाह्य वायु को आभ्यन्तर शरीर में पूरण करने के कारण इस क्रिया का नाम पूरक है इस प्रकार शरीर में जब वायु भर जाये या शरीर वायु से परिपूर्ण हो जाये तब साधक न तो आभ्यन्तर वायु को ही छोड़ता है न ही आभ्यन्तर वायु को ग्रहण करता है अपितु भरे हुए घड़े की भाँति (पूर्ण कुम्भ)

१—प्राणः स्वदेहजो वायुस्तस्यायामो निरोधनम्। (अ०पु० ३७३।६).

२—तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः (योग० २।४९).

३—सत्यासने बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः, कोष्ठस्थस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः, तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः (उपर्युक्त सूत्र के व्याख्यान में)

४—बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिदेशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। (योग० सूत्र, २।५०). इस सूत्र के व्याख्या में व्यासभाष्य विमर्शार्ह है—बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। (योग०सू०, २।५१).

अविचल भाव से स्थिर रहता है। उस समय कुम्भवत् स्थिर रहने के कारण उसकी वह चेष्टा 'कुम्भक' कहलाती है[1]। जहाँ तक रेचक आदि तीन क्रियाओं के उल्लेख का प्रश्न है उस प्रसंग में यह निर्देश करना अनुपयुक्त न होगा कि ये तीनों नाम भोज वृत्ति में उपन्यस्त हैं[2]। अ०पु० कार ने इस प्रसंग में प्राणायाम की श्रेणी का भी निरुपण उपस्थित किया है जो कि पातञ्जल दर्शन के किसी भी सम्प्रदाय ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होती। प्राणायाम की श्रेणी का परिसंख्यान करते हुए अ०पु० का कथन है कि बारह मात्रा (पल) का एक उद्‌घात होता है और इतनी अवधि तक वायु का रोकना कनिष्ठ श्रेणी का प्राणायाम कहा जाता है। दो उद्‌घात अर्थात् २४ मात्रा तक किया जाने वाला कुम्भक मध्यम श्रेणी का एवं ३ उद्‌घात (३६ मात्रा) उत्तम श्रेणी का प्राणायाम माना गया है। ताल या ह्रस्व अक्षर को मात्रा कहा गया है—'तालो लघ्वक्षरो मात्रा' (अ०पु० १६१।२४)। प्राणायाम में प्रणव आदि का जाप शनैः शनैः करना आवश्यक है (अ०पु० १६१।१४)। वस्तुतः उत्तम प्राणायाम वह है जिसके करने पर शरीर से स्वेद निकलने लगे, कपकपी छा जाये और साधक को अविघात लगने लगे[3]।

प्राणायाम की भूमिकाओं में से जिस पर भलीभाँति अधिकार न हो जाये उनपर सहसा आरोहण नहीं करना चाहिये अर्थात् क्रमशः अभ्यास बढ़ाते हुए उत्तरोत्तर भूमिका द्वारा आरुढ़ होने का अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम के लाभ की चर्चा करते हुए अ०पु० कार ने अपने मौलिक वैशिष्ट्य का परिचय दिया है उनका कथन है कि प्राण के जप कर लेने पर हिक्का और श्वास आदि रोग दूर हो जाते हैं इतना ही नहीं अपितु इनसे मल-मूत्र आदि के दोष भी शनैः-शनैः समाप्त होने लग जाते हैं। आरोग्य, शीघ्रगामिता, उत्साह, स्वर-माधुर्य, बल और वर्ण स्वच्छता का आ जाना तथा सब प्रकार के दोषों का दूर हो जाना प्राणायाम के अद्‌भुत लाभ हैं।[4] सगर्भ और अगर्भ भेद से प्राणायाम के दो विभाग अ० पु० (२६१।२१) ने किये हैं। जो प्राणायाम जप और ध्यान के बिना किया जाता है उसका नाम अगर्भ है तथा इसके विपरीत इन दोनों के साथ किये जाने वाले प्राणायाम का नाम सगर्भ हैं। इन्द्रियों पर

१—अ०पु०, ३७३।७-९=१६१।२२,२३.

२—२।४९ पर भोज वृत्ति.

३—अ०पु ३७३।१०, ११=१६१।२३,२४.

४—अ०पु०, ३७३।१२, १३.

विजय पाने के लिये सगर्भ प्राणायाम ही उत्तम माना गया है तथा उसी का अभ्यास करना विहित है। ज्ञान और वैराग्य से युक्त होकर प्राणायाम के अभ्यास से इन्द्रियों पर विजय कर लेने पर सब प्रकार की विजय प्राप्त हो जाती है यहीं स्वर्ग और नरक है यही इन्द्रियाँ जब वश में हो जातीं हैं तब व्यक्ति को स्वर्ग में पहुँचा देती हैं और जब स्वतन्त्र हो जाती हैं तो नरक में पहुँचा देती है। इस विषय में अ०पु० कार के इस प्रसंग में कठोपनिषद् के भाव को एक उदाहरण के माध्यम से पुष्ट किया है। कथानक के अनुसार शरीर की तुलना रथ से, इन्द्रियों की घोड़ों से, मन की सारथि से एवं प्राणायाम की कश (चाबुक) से तुलना की गयी है। ज्ञान और वैराग्य की रश्मि से बंधे हुए मन रुपी घोड़े को प्राणायाम से आबद्ध करके जब सम्यक् प्रकार से नियन्त्रण में कर लिया जाता है तब मन शनैः शनैः स्थिर हो जाता है। जो मनुष्य १०० वर्षों से कुछ अधिक काल तक कुश के अग्रभाग से जल की एक बूंद लेकर उसका पान करता रहता है उसकी वह तपस्या और प्राणायाम समान माने गये हैं[1]। पतञ्जलि ने भी प्राणायाम के अनेक लाभ बतायें हैं उनके अनुसार इसके अभ्यास से ज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है और मन की धारणा शक्ति में वृद्धि होती है[2]।

५—प्रत्याहार

प्रत्याहार की व्याख्या योग दर्शन के समान ही अ० पु० में प्रतिपादित है। उसके अनुसार विषय रुपी समुद्र में प्रसक्त इन्द्रियों को उनके विषयों से हटा कर अपने अधीन करना प्रत्याहार कहलाता है।[3] योग-सूत्र ने इन्द्रियों का अपने विषयों के त्याग के अनन्तर चित्तस्वरूप के अनुकूल होना प्रत्याहार बताया है।[4]

व्यास और भोज ने उपर्युक्त योग सूत्र (२।५४) के व्याख्यान में प्रत्याहार

१—३७३।१४-१९ इस प्रसंग में यह ध्येतव्य है कि अ० पु० का 'जल-विन्दु तत्समः' (३७३।१९) यह श्लोक वायुपुराण (१०।९२) में आनुपूर्वी उद्धृत है।

२—ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् (योग सूत्र २।५२).

३—इन्द्रियाणि प्रसक्तानि प्रविश्य विषयोदधौ। आहृत्य यो निगृह्णाति प्रत्याहारः स उच्यते ॥ अ० पु०, ३७३।२० तथा प्रत्याहारो जापकानाम् (अ० पु० १६१।२४).

४—स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। यो० सू०, २।५४.

को और भी स्पष्ट किया है। व्यास के अनुसार अपने विषय के संयोग से रहित चित्तस्वरूप के अनुकूल ही होना इन्द्रियों का प्रत्याहार कहलाता है। उन्होंने मधुनिर्मात्री मक्षिका के उदाहरण से इस विषय को और भी अवदात कर दिया है। जिस प्रकार उस बड़ी मक्षिका के पीछे अन्य सभी मक्षिकाये उड़ती हैं और उसी का अनुसरण करती है उसी प्रकार इन्द्रियाँ चित्त के निरोध होने पर निरुद्ध हो जाती हैं और इसी का नाम प्रत्याहार है।[1] भोज के अनुसार इन्द्रियों का विषयों से उल्टा हटाया जाना प्रत्याहार है। इनके अनुसार इन्द्रियों का अपने शब्द आदि विषयों से निवृत्त होकर चित्त के अनुरूप हो जाना उसका लक्षण है।[2] इस प्रत्याहार के सिद्ध होने से इन्द्रियाँ साधक के वश में पूर्णतया हो जाती हैं।[3] अ० पु० कार ने प्रत्याहार की उपादेयता पर प्रकाश डालते हुये कहा है कि जिस प्रकार जल में मग्न व्यक्ति उससे निकलने का प्रयास करता है उसी प्रकार साधक को चाहिये कि भोग रूपी नदी के अतिवेग से संचित संसार रूपी समुद्र के आभ्यन्तर से अपने को बचाने के लिये ज्ञान रूपी वृक्ष का आश्रय ले।[4]

६—ध्यान

ध्यै-चिन्तायाम्' धातु से ध्यान शब्द निष्पन्न होता है। स्थिर चित्त (अनाक्षिसमन) से भगवान् विष्णु का बारम्बार चिन्तन करना ही ध्यान है।[5] अन्यत्र इसी पुराण (१६१।२४) में जप करने वाले साधकों द्वारा ईश्वर चिन्तन को ध्यान कहा गया है—'ध्यानमीश्वरचिन्तनम्'। योगसूत्र में इसकी व्याख्या अग्निपुराण की अपेक्षा कुछ भिन्न ही हुई है। उसके अनुसार जिस विषय में धारणा की गई है उसी ध्येय विषयक वृत्तियों का समान प्रवाह ध्यान हैं।[6] इसमें यह आवश्यक है कि इस प्रवाह में कोई व्यवधान न हो।[7] व्यास और भोज दोनों ने ध्यान पद की विशद व्याख्या की है। अग्निपुराण ने ध्यान की चतुर्विध परिभाषा की है जो कि योग सूत्र आदि किसी भी ग्रन्थों में उपलब्ध

१—योगसूत्र, २।५४ पर व्यास,

२—योगसूत्र, २।५४ पर भोज वृत्ति।

३—ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। योग सूत्र० २।५५।

४—अ० पु०, ३७३।२१.

५—अ० पु०, ३७४।१.

६—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। योगसूत्र ३।२

७—तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्। (उपर्युक्त पर व्यास भाष्य)।

नहीं है। समस्त उपाधियों से मुक्त मन सहित आत्मा का ब्रह्म विचार में पारायण होना भी ध्यान ही है। इतना ही नहीं अपितु ध्येयरूप आधार में स्थित एवम् सजातीय प्रतीतियों से युक्त चित्त को जो विजातीय रहित प्रतीति होती है उसको भी ध्यान कहा गया है। अन्तिम परिभाषा के अनुसार जिस किसी प्रदेश में ध्येय वस्तु के चिन्तन में एकाग्र हुए चित की प्रतीति के साथ जो अभेद भावना होती है उसका नाम भी ध्यान है यह परिभाषा योग सूत्र से मिलती-जुलती प्रतीत होती है।[1] जो साधक उपर्युक्त प्रकार से ध्यान परायण होकर अपने शरीर का परित्याग करता है वह अपने कुल स्वजन एवं मित्रों का उद्धार करके स्वयं भगवत्स्वरूप हो जाता है। इस तरह जो प्रतिदिन एक या आधे मुहूर्त तक भी श्रद्धापूर्वक श्री हरि का ध्यान करता है, वह भी जिस गति को प्राप्त करता है, उसे सम्पूर्ण महायज्ञों के द्वारा भी कोई नहीं पा सकता। तत्ववेत्ता योगी को चाहिये कि वह ध्याता, ध्यान, ध्येय तथा ध्यान का प्रयोजन—इन चार वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करके योग का अभ्यास करें।[2]

योगाभ्यास से मुक्ति तथा अष्टविध महत् ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। यही अष्टविध ऐश्वर्य के प्रसंग में यह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि योग सूत्र के व्यास भाष्य में अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व एवं इशित्व इस प्रकार आठ सिद्धियाँ या ऐश्वर्य बताये गये हैं।[3] भोज ने अष्ट-सिद्धियों की संक्षिप्त व्याख्या की है।[4] चरक ने सिद्धि के स्थान पर ऐश्वर्य पद का उल्लेख

१—तत्र तस्मिन् प्रदेशे यत्र चित्तं धृतं तत्र प्रत्ययस्य ज्ञानस्य यैकतानता विसदृशपारिणामपरिहारद्वारेण यदेव धारणायामालम्बनीकृतं तदालम्बनतयैव निरन्तरमुत्पत्तिः सा ध्यानमुच्यते। (उपर्युक्त पर भोज वृत्ति)।

२—आत्मनः समनस्कस्य मुक्ताशेषोपथस्य च। ब्रह्म चिन्तासमा शक्तिर्ध्यानं नाम तदुच्यते॥ ध्येयालम्बनसंस्थस्य सदृशप्रत्ययस्य च। प्रत्ययान्तरनिर्मुक्तः प्रत्ययो ध्यानमुच्यते॥ ध्येयावस्थितचित्तस्य प्रदेशे यत्र कुत्रचित्। ध्यानमेतत्समुद्दिष्टं प्रत्ययस्यैकभावना॥ अ० पु०, ३७४।२,४.

३—अ० पु०, ३७४।५-८.

४—ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च। योगसूत्र ३।४५ एवं इस पर व्यास भाष्य)।

५—अणिमा परमाणुरुपतापत्तिः। महिमा महत्त्वम्। लघिमा तूलपिण्ड-

किया है ।[1] ध्याता, ध्यान, ध्येय तथा ध्यान-प्रयोजन इन वस्तुचतुष्टय का ज्ञान योग के द्वारा ही सुलभ बताया गया है और इन सभी की व्याख्या अग्निपुराण ने इसी ध्यान के प्रसंग में अतिविस्तार से की है । ज्ञान वैराग्य से सम्पन्न, श्रद्धालु, क्षमाशील, विष्णुभक्त एवं सतत उत्साह युक्त पुरुष को अग्नि पुराण ने "ध्याता" कहा है । व्यक्त (मूर्त)-अव्यक्त (अमूर्त) जो कुछ भी प्रतीत होता है वह सब परमब्रह्म परमात्मा का ही स्वरुप है । इस प्रकार विष्णु का चिन्तन करना "ध्यान" है । सर्वज्ञ परमात्मा श्री हरि को सम्पूर्ण कलाओं से युक्त तथा निष्कल माना गया है । अणिमा आदि ऐश्वर्यों की प्राप्ति तथा मोक्ष ये ही "ध्येय" या ध्यान के प्रयोजन हैं । भगवान् विष्णु ही कर्मों के फल की प्राप्ति कराने वाले हैं अतः उनका ध्यान करना विहित है और दूसरे शब्दों में वे ही ध्येय कहे गये हैं । ऐसे परमेश्वर का ध्यान चलते-फिरते, खड़े होते, सोते-जागते, आँख खोलते और बंद करते समय तथा शुद्ध या अशुद्ध अवस्था में भी करना चाहिये ।[2]

अग्निपुराण ने इसी ध्यान के व्याख्यान के प्रसंग में ध्यान योग के द्वारा ही भगवान के पूजन के विधान का भी निरुपण कर दिया है । उसके अनुसार साधक को चाहिये वह अपने देह रूपी मंदिर के आभ्यन्तर मन स्थित हृदय कमल रूपी पीठ के मध्य भाग में भगवान् केशव की स्थापना कर ध्यान योग के द्वारा उनका पूजन करे ये ध्यान यज्ञ श्रेष्ठ, शुद्ध तथा सबप्रकार के दोषों से विहीन एवं मोक्ष प्रद है । वाह्य शुद्धि से युक्त यज्ञ द्वारा फल की प्राप्ति नहीं हो सकती हिंसा आदि दोषों से मुक्त होने के कारण ही ध्यान अन्तःकरण की शुद्धि का प्रमुख कारण और चित्त में वश करने वाला कहा गया है अतएव ध्यान यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ और मोक्षप्रद कहा गया है अतः अशुद्ध एवं अनित्य बाह्य साधन भूत यज्ञ आदि कर्मों का त्याग कर योग का ही विशेष रूप से अभ्यास करना युक्ति-युक्त है । इस विषय में अग्निपुराण ने कुछ विशिष्ट बातें बतायी हैं ।[3]

वल्लघुत्वप्राप्तिः । गरिमा गुरुत्वम् । प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेण चन्द्रादिस्पर्श-नशक्तिः । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । शरीरान्तः करणेश्वरत्वमीशित्वम् । सर्वत्र प्रभविष्णुता वशित्वम् । (उपर्युक्त सूत्र पर) ।

१—आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया । दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥ इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम् । शुद्धसत्त्वसमाधानात तत् सर्वमुपजायते ॥ चरक शा०, १।१४०, १४१ तथा याज्ञ० स्मृ० (प्राय०, २०२,२०३).

२—अ० पु०, ३७४।४-१२.

३—अ० पु०, ३७४।९-१६.

साधक को चाहिए कि वह सर्वप्रथम विकास मुक्त अव्यक्त तथा भोग्य एवं भोग से युक्त तीनों गुणों को क्रमशः अपने हृदय में ध्यान करे। तमोगुण को रजोगुण से एवं रजोगुण को सत्वगुण में प्रच्छादित करना चाहिए। इसके अनन्तर कृष्ण, रक्त एवं श्वेतमण्डल का क्रमशः ध्यान करना चाहिए। २५ तत्व वाला पुरुष सत्त्व उपाधि के गुण से सर्वथा परे माना गया है अतएव अशुद्ध ध्येय का त्याग कर शुद्ध ध्येय का चिन्तन करना चाहिए और यही उपरि वर्णित पुरुष ही शुद्ध ध्येय हैं। पुरुष के ऊपर इसी की नाभि से प्रगट हुआ एक दिव्य कमल स्थित है, जिसका विस्तार बारह अँगुल है और जो शुद्ध, विकसित तथा श्वेत वर्ण का कहा गया है उसका नाल आठ अंगुल का है उस कमल के आठ पत्तों की अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों से तुलना की गयी है। उसकी कर्णिका का केसर ज्ञान तथा नाल उत्तम वैराग्य है विष्णु धर्म ही उसका मूल है इस प्रकार उस कमल का चिन्तन करना चाहिए। भगवत् आसन के रूप में धर्म, ज्ञान एवं वैराग्यमय ऐश्वर्य स्वरूप उस श्रेष्ठ कमल का ज्ञान प्राप्त कर साधक अपने सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है उसे कमल कर्णिका के मध्य भाग में ओंकारमय ईश्वर का ध्यान करना चाहिये उसकी आकृति शुद्ध दीप शिखा के समान देदीप्यमान एवं अंगुष्ठ के समान बताई गई है, वह अत्यन्त निर्मल है। कदम्ब पुष्प के समान उसका गोलाकार स्वरूप तारा के भाँति स्थित है अथवा कमल के ऊपर प्रकृति और पुरुष से भी श्रेष्ठ परमेश्वर विराजमान है। ऐसा ध्यान करता हुआ परम अक्षर ओंकार का निरन्तर जप करना चाहिए। साधक को अपने मन को स्थित करने के लिए सर्वप्रथम स्थूल का तदनन्तर मन के स्थिर हो जाने पर सूक्ष्म तत्व का चिन्तन करना चाहिए।[1]

नाभि-मूल में स्थित जो कमल की नाल का विस्तार दस अंगुल है नाल के ऊपर अष्ट दल कमल है जो बारह अंगुल विस्तृत हैं। उसकी कर्णिका के केसर में सूर्य, सोम तथा अग्नि इन तीन देवताओं का मण्डल है। इसी अग्नि मण्डल के आभ्यन्तर शंख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण करने वाले चतुर्भुज विष्णु अथवा अष्टभुज भगवान् श्री हरि विराजमान हैं। इस अष्टभुज हरि के हाथ में उपर्युक्त शंख आदि के अतिरिक्त शार्ङ्ग, धनुष, अक्षमाला, पाश तथा अङ्कुश शोभा पाते हैं। इनका शरीर श्वेत एवं स्वर्ण वर्ण के समान, वक्षःस्थल श्री वत्स चिन्ह से युक्त और कौस्तुभमणि से अलंकृत है। उनके गले में वनमाला तथा स्वर्ण हार विराजमान है। कर्ण मकराकार कुण्डल से उदीप्त है मस्तक पर रत्न जटित

१—अ० पु०, ३७४।१६-२१.

उज्जवल मुकुट सुशोभित है। श्री हरि ने पीत वस्त्र धारण कर रखा है। वे सब प्रकार के आभूषणों से अलंकृत यथेच्छ आकार धारी अथवा एक वितस्ता की आकृति वाले माने गये हैं। ध्यान के समय ऐसी भावना करनी चाहिये कि साधक साक्षात ज्योतिर्मय ब्रह्म है इतना ही नहीं अपितु उसे अपने को नित्य एवं मुक्त प्रणव स्वरूप परमात्मा समझना चाहिये। इस प्रकार के ध्यान से जब साधक श्रान्त हो जाये तब मन्त्र का जप करना चाहिए। इसी प्रकार जप से श्रान्त होने पर ध्यान करना विहित है। इस प्रकार के आचरण से (जप एवं ध्यान आदि से युक्त) भगवान विष्णु शीघ्र ही साधक के प्रति प्रसन्नता व्यक्त करते हैं। दूसरे अन्य यज्ञ जप यज्ञ की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है। इस प्रकार जप करने वाले पुरुष के निकट आधि (मानसिक व्याधि) व्याधि (शारीरिक व्याधि) एवं ग्रह फटक नहीं पाते। जप करने से भोग मुक्ति एवं मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है।[1]

अग्निपुराण ने योग सूत्र के क्रम का उलंघन कर धारणा से पूर्व ध्यान का अति विशद विवेचन भगवान् विष्णु की आराधना के रूप में प्रस्तुत किया है इतना विस्तृत निरूपण अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है।

७—धारणा

अग्निपुराण ने धारण अङ्ग का विवेचन ३७५वें अध्याय में योग दर्शन की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत रूप में किया है। ध्येय वस्तु में मन की स्थिति को धारणा कहा गया है।[2] अन्यत्र इसी पुराण (१६१-२५) में मन को धारण करने के कारण इसे धारणा कहा है 'मनोधृतिर्धारणा'। योगसूत्र के अनुसार[3] चित्त की वृत्ति का देश विशेष में बाधना या ठहराना धारणा है। व्यास ने नाभि-चक्र, हृदय कमल, शिर, चक्षु, नासिकाग्र, जिह्वाग्र आदि शरीर के आभ्यन्तर अङ्गों में मन की वृत्ति के अवरोध को धारणा पद से व्यक्त किया हैं।[4] भोज वृत्ति में इस विषय पर अति विस्तार से मीमांसा हुई है।[5]

अग्निपुराण ने ध्यान की ही भाँति उसके भी दो भेद किये हैं—साकार (मूर्त्त) एवं निराकार (अमूर्त)। भगवान् का ध्यान करना मूर्त्त तथा मन के

१—अ० पु०, ३७४।२६-३४.
२—अा० पु०, ३७५।१.
३—योगसूत्र, ३।१.
४—उपर्युक्त सूत्र पर व्यास भाष्य।
५—उपर्युक्त सूत्र पर भोज-वृत्ति।

द्वारा चिन्तन करना अमूर्त्त कहा जाता है। इस प्रकार की धारणा से ही भगवान् की प्राप्ति होती है। बाह्य वातावरण में स्थित लक्ष से मन का विचलित न होना और उसका किसी भी प्रदेश में स्थित हो जाना धारणा कहा गया है। देह के आभ्यन्तर नियत समय तक जो मन को रोक कर रखा जाता है और वह अपने लक्ष से विचलित नहीं होता यही अवस्था धारणा कही गयी है। बारह आयाम की धारणा होती है और बारह धारणा का एक ध्यान होता है इस प्रकार बारह ध्यान पर्यन्त मन की एकग्रता को समाधि कहा गया है। वैसे समाधि की परिभाषा अग्निपुराणकार ने पृथक् दी है जिसका यथा स्थान विवेचन किया जायेगा। धारणा के अभ्यास से युक्त अवस्था में यदि साधक का प्राणान्त हो जाये तो वह व्यक्ति अपने इक्कीस कुल का उद्धधार कर अत्यन्त उत्कृष्ट स्वर्ग पद को प्राप्त करता है।[1]

योगियों के जिस-जिस अङ्ग में व्याधि के होने की सम्भावना हो उस-उस अङ्ग को बुद्धि से व्याप्त करके तत्वों की धारणा करनी चाहिये। आग्नेयी, वारुणी, ऐशानी तथा अमृतात्मिका इस प्रकार विष्णु की चर्तुविध धारणा करणीय है। ऐसे अवसर पर अग्नि युक्त शिखा यन्त्र का जिसके अन्त में फट् शब्द का प्रयोग होता हो, जप करना उचित है। साधक को चाहिए कि नाड़ियों कें माध्यम से विकट दिव्य एवं शूलाग्र का वेधन करे। पाद के अगुंष्ठ से कपाल-पर्यन्त तक शरीर अवयव किरणों के मण्डल से आवृत हैं और यह रश्मि मण्डल अति गति से तिर्यक्, अधः एवं ऊर्ध्व भाग इन तीनों और गति करता रहता है। श्रेष्ठ साधक को तब तक रश्मि मण्डल का चिन्तन करना चाहिये जब तक कि वह अपने सम्पूर्ण शरीर को उसके आभ्यन्तर भस्मीभूत होता न देख ले। इसके पश्चात् इस धारणा का उपसंहार करना चाहिये। इसके द्वारा व्रज गण, शीत और श्लेष्मा आदि रोग तथा अपने पापों का विनाश करते हैं। इस प्रकार यह 'आग्नेयी' धारणा है। इसके अनन्तर धीर भाव से विचार करते हुए मस्तक और कण्ठ के अधोमुख होने का चिन्तन करे, ऐसी अवस्था में साधक का चित्त नष्ट नहीं होता। साधक को पुनः अपने अन्तःकरण द्वारा ध्यान में लग जाना चाहिये कि जल के अनंत कण प्रगट होकर एक दूसरे से मिलकर हिमराशि को उत्पन्न कर दें और उसके द्वारा पृथ्वी पर जल की धारायें प्रवाहित हो सम्पूर्ण विश्व को आप्लावित कर दे। इस प्रकार साधक को चाहिये उस हिम स्पर्श से से शीतल अमृत स्वरूप जल के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र से मूलाधार पर्यन्त सम्पूर्ण चक्र

१—अ० पु०, ३७५।२-५.

मण्डल को आप्लावित करके सुषुम्णा नाड़ी के अन्दर प्रविष्ट हो पूर्ण चन्द्र मण्डल का चिन्तन करे। क्षुधा, पिपासा आदि के क्रम से प्राप्त होने वाले क्लेशों से अत्यन्त पीड़ित होकर अपनी तुष्टि के लिये साधक "वारुणी" धारण का चिन्तन करे। उस समय उसे आलसविहीन होकर विष्णु मन्त्र का जप करना चाहिए इस प्रकार यह वारुणी धारणा है।

प्राण और अपान का क्षय होने पर हृदय काश में ब्रह्ममय कमल के ऊपर विराजमान भगवान् विष्णु के प्रसाद का (अनुग्रह) का तब तक चिन्तन करें जबतक सारी चिन्ता का नाश न हो जाय। तत्पश्चात् व्यापक ईश्वर रूप से स्थित होकर परम शान्त, निरञ्जन, निराभास एवं अर्द्धचन्द्रस्वरूप सम्पूर्ण महाभाव का जप और चिन्तन करें। जब तक गुरु के मुख से जीवात्मा को ब्रह्म का ही अंश (या साक्षात ब्रह्म रूप) नहीं जान लिया जाता तब तक वह सम्पूर्ण चराचर जगत असत्य होने पर भी सत्यवत प्रतीत होता है। उस परम-तत्व का साक्षात्कार हो जाने पर ब्रह्मा से लेकर यह सारा चराचर जगत असत्य होने पर भी सत्यवत् प्रतीत होता है। उस परम तत्व का साक्षात्कार हो जाने पर ब्रह्मा से लेकर यह सस्पूर्ण चराचर जगत, प्रमाता, मान और मेय (ध्याता, ध्यान और ध्येय) सब कुछ ध्यानगत हृदय कमल में लीन हो जाता है। उस जप होम और पूजन आदि को माता की दी हुई मिठाई की भाँति मधुर एवं लाभकर जनकर विष्णुमन्त्र के द्वारा उसका श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये यह 'ऐशानी धारणा' है।

साधक को चाहिए की वह मस्तक की नाड़ी के केन्द्रस्थान में पूर्ण चन्द्रमा के समान आकार वाले कमल का ध्यान करे तथा प्रयत्न पूर्वक यह भावना करे कि 'आकाश में दस हजार चन्द्रमा के समान प्रकाशमान् एक पूर्ण चन्द्रमण्डल उदित हुआ है, जो कल्याणमय कल्लोलों से परिपूर्ण है ऐसा ही ध्यान अपने हृदय कमल में भी करना चाहिए और उसके मध्य भाग में अपने शरीर को स्थिर कर देना चाहिए यही "अमृतमयी धारणा है।" धारणा आदि के द्वारा साधक के सभी क्लेश दूर हो जातें हैं।

योग-सूत्र में धारणा का उल्लेख क्रमानुसार ध्यान से पूर्व हुआ है, किन्तु यहाँ पर उस क्रम का पालन न कर ध्यान के पश्चात् धारणा को अग्निपुराणकार ने प्रस्तुत किया है।

८—समाधि

अ० पु० में अष्टांग योग के अन्तिम घटक समाधि का विवेचन ध्यान के ही

समान अति विशद रूप से हुआ है। इसके अनुसार उस ध्यान को समाधि कहा गया है जो चैतन्य स्वरूप से युक्त, कल्लोल विहीन समुद्र के समान स्थिर एवं जिसमें आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की प्रतीति न होती हो।[1] योग सूत्रकार पतञ्जलि ने समाधि की परिभाषा इसी प्रकार दी है और सम्भवतः इसी के आधार पर अ० पु०कार ने अपनी परिभाषा का सृजन किया हो। इनके अनुसार यह ध्यान की वह अवस्था है जिसमें केवल मात्र ध्येय का स्वरूप ही भासित हो और योगी का अपना स्वरूप शून्यवत् प्रतीत हो।[2] उपर्युक्त सूत्र पर भाष्य करते हुए व्यास ने ध्यान और समाधि के सूक्ष्म पार्थक्य को प्रदर्शित किया है। उनके अनुसार ध्याता, ध्येय, ध्यान-इन तीनों के संयोग से ध्यान में भेद बना रहता है जबकि समाधि इन तीनों से रहित होती है।[3] योग वृत्तिकार ने समाधि की द्विविध व्याख्या अति उत्तमता से की है।[4]

अग्नि पुराण ने समाधिस्थ योगी का विवेचन दो प्रकार से किया है। इनमें से प्रथम के अनुसार जो ध्यान के समय अपने मन को ध्येय में लगाकर निर्वात प्रदेश में प्रज्वलित अग्नि शिखा की भाँति अविचल एवं स्थिर भाव से बैठा रहता है वह समाधिस्थ योगी कहा गया है। दूसरी परिभाषा इससे कुछ अधिक विशद एवं स्पष्ट है जिसमें समाधिस्थ योगी के क्रिया-कलाप-विहीनता को प्रस्तुत किया गया है। जो न सुनता है, न सूँघता है, न रसास्वादन करता है, न स्पर्श का अनुभव करता है, न मन में संकल्प उठने देता है, न अभिमान करता है और न बुद्धि से दूसरी किसी वस्तु को जानता ही है अपितु काष्ठ की भाँति अविचल भाव से ध्यान में स्थित रहता है, ऐसे ईश्वर-चिन्तनपरायण पुरुष को समाधिस्थ कहा गया है। इस समाधिस्थ पुरुष की तुलना उस निवास स्थान में

१—यदात्ममात्रं निर्भासं स्तिमितोदधिवत् स्थितं। चैतन्यरूपवद्ध्यानं तत् समाधिरिहोच्यते॥ (अ० पु०, ३७६।१) अन्यत्र इसी पुराण (१६१।२५) में ब्रह्म में स्थिति को समाधि कहा गया है—'समाधिर्ब्रह्मणि स्थितिः'।

२—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः॥ योग सूत्र ३।३.

३—उपर्युक्त सूत्र पर व्यास भाष्य।

४—तदेवोक्तलक्षणं ध्यानं यत्रार्थमात्रनिर्भासमर्थाकारसमावेशादुद्भूतार्थ-रूपं न्यग्भूतज्ञानस्वरूपत्वेन स्वरूपशून्यतामिवापद्यते स समाधि-रित्युच्यते। सम्यगाधीयत एकाग्रीक्रियते विक्षेपान्परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः॥ उपर्युक्त सूत्र पर भोज वृत्ति।

स्थित दीपक से की गई है जिसकी शिखा किंचित् मात्र भी कम्पित नहीं होती :—

'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
ध्यायतो विष्णुमात्मानं समाधिस्तस्य योगिनः ॥
(अ० पु० ३७६।५)।

यह श्लोक प्रथम शताब्दी के बौद्ध कवि अश्वघोष के सौन्दरनन्द महाकाव्य से अवतारित प्रतीत होता है। यही उस समाधिस्थ योगी के लिए उपमा मानी गयी है जो अपने आत्मास्वरूप श्री विष्णु के ध्यान में संलग्न रहता है उसके समक्ष अनेक दिव्य विघ्न उपस्थित होते हैं, अनेक प्रकार के धातुओं के दर्शन होते हैं तथा उसे अपने शरीर में महती वेदना का अनुभव होता है। देवता लोग उस योगी के पास आकार उससे दिव्य भोग स्वीकार करने की प्रार्थना करते हैं। राजा पृथ्वी का राज्य देने की बात कहते हैं और बड़े-बड़े धनाध्यक्ष धन का लोभ दिखाते हैं। वेद आदि सम्पूर्ण शास्त्र स्वयं ही (बिना पढ़े) उसकी बुद्धि में स्फुटित हो जाते हैं। उसके द्वारा मनोनुकूल छन्द और सुन्दर विषय से युक्त उत्तम काव्य की रचना होने लगती है। दिव्य रसायन, दिव्य औषधियाँ तथा सम्पूर्ण शिल्प और कलाएँ तथा प्रतिभा आदि सद्गुण भी उसके पास बिना बुलाये आ जाते हैं। किन्तु जो इन सबको तृणवत निस्सार मानकर त्याग देता है उसी पर भगवान विष्णु प्रसन्न होते हैं।[1] अणिमा आदि गुणमयी विभूतियों से युक्त योगी पुरुष के लिये यह उचित है कि वह शिष्य को ज्ञान प्रदान करे। इच्छानुसार भोगों का उपभोग करके लय योग की रीति से शरीर का परित्याग करे और विज्ञानानन्दमय ब्रह्म एवम् ईश्वर स्वरूप अपने आत्मा में स्थित हो जाये। जिस प्रकार मलिन दर्पण शरीर का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में असमर्थ होने के कारण शरीर के ज्ञान करने की क्षमता नहीं रखता उसी प्रकार जिसका अन्तः करण परिपक्व (वासना शून्य) नहीं है, वह आत्म ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होता है। देह सब प्रकार के रोगों और दुःखों का आश्रय है अतएव देहाभिमानी जीव अपने शरीर में वेदना का अनुभव करता है। परन्तु जो पुरुष योगयुक्त है, उसे योग के ही प्रभाव से किसी वस्तु से क्लेश नहीं होता। यथा एक ही आकाश घट आदि भिन्न-भिन्न उपाधियों में पृथक्-पृथक् सा प्रतीत होता है औरे एक ही सूर्य अनेक जलपात्रों में अनेक सा भासित होता है उसी प्रकार आत्मा एक होती हुई भी अनेक शरीर में स्थित होने के कारण अनेकवत् प्रतीत होती है।

१—अ० पु०, २७६।२-१०.

आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ये पाँचों भूत ब्रह्म के ही स्वरूप हैं। यह सम्पूर्ण लोक आत्मा ही है, और आत्मा से ही चराचर जगत् की अभिव्यक्ति हुई है। जिस प्रकार मृत्तिका, दण्ड, और चक्र के संयोग से कुम्भकार घट का निर्माण करता है अथवा जिस प्रकार तृण, मृत्तिका और काष्ठ से गृहकार गृह का निर्माण करता है उसी प्रकार आत्मा इन्द्रियों (कारणों) को साथ लेकर कार्य-करण संघात को एकत्र कर भिन्न-भिन्न योनियों में अपने आप को उत्पन्न करता है। कर्म के द्वारा दोष, मोह तथा इच्छा से ही जीव बन्धन में पड़ता है और ज्ञान से ही उसकी मुक्ति होती है। योगी पुरुष धर्मानुष्ठान करने से क़भी भी रोग से युक्त नहीं होता। योग के साथ धर्म के साहचर्य की अनिवार्यता को अ० पु० ने एक उत्तम उदारण के माध्यम से व्यक्त किया है। जिस प्रकार वर्त्ति, तैल पात्र (आधार) एवम् तैल (स्नेह)—इन तीनों के संयोग से ही दीपक की स्थिति है उसी प्रकार रोग (विक्रिया) की प्राप्ति योग और धर्म के विना नहीं हो सकती और इस प्रकार अकाल में ही प्राणों का क्षय हो जाता है। हृदय के आभ्यन्तर दीपक की भाँति आत्मा प्रकाशमान है उसकी अनन्त रश्मियाँ सर्वत्र फैली हुई हैं। इनका वर्ण श्वेत (सित), कृष्ण (असित), पिंगल (कद्रु), नील, कपिल, पीत एवं रक्त है। उनमें से एक रश्मि ऐसी भी है जो सूर्य मण्डल को भेद कर सीधे ऊपर चली गई है और यह ब्रह्म लोक का अतिक्रमण करती करती है इस प्रकार इसी के मार्ग से योगी पुरुष परम गति को प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त और भी सैंकड़ों रश्मियाँ ऊपर की ओर स्थित हैं जिनके द्वारा मनुष्य भिन्न-भिन्न देवताओं के निवास भूत लोकों में पहुँचता है। जिस पुरुष में ये रश्मियाँ अपेक्षाकृत मृदु प्रभाव वाली हैं तथा जिनका प्रसार अधो दिशा की ओर होता है उनके द्वारा जीव इस लोक में कर्मों के उपभोग के लिये आकर संचरण करता है।[1]

क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ तथा सृष्टि विज्ञान

समस्त बुद्धीन्द्रयाँ, समस्त कर्मेन्द्रियाँ, मन, अहंकार, बुद्धि, पृथ्वी आदि पंच महाभूत तथा अव्यक्त प्रकृति-ये सभी क्षेत्र कहलाते हैं और आत्मा को इस क्षेत्र का ज्ञान रखने के कारण क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। यही क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण भूतों का नियन्ता (ईश्वर) है तथा सत्-असत् तथा सदसत्—ये सभी उसी के स्वरूप

१—अ० पु०, ३७६।११-२४.
प्रायश्चित्त अध्याय के श्लोक १४१ से १७७ तक सम्बद्ध स्थल पुरस्सर द्रष्टव्य हैं।

हैं। व्यक्त प्रकृति से समष्टि बुद्धि (महत्) की उत्पत्ति होती है उससे अहंकार और अहंकार से उत्तरोत्तर एकाधिक गुणवाले आकाश आदि (रूपादि) पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं और इन्हीं के गुण क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध हैं। इनमें से जो भूत जिसके आश्रय में होता है वह उसी में विलीन हो जाता है।[1] सत्व, रजस् एवं तमस् ये उसी अव्यक्त प्रकृति के गुण हैं और जीव इसी रजस् और तमस् गुणों से आविष्ट हो चक्र की भाँति घूमता रहता है। चरक (शा० १।६८) के ही ये शब्द अग्निपुराण द्वारा गृहीत प्रतीत होते हैं। यह जीव सब का आदि होता हुआ स्वयं अनादि है, इसी को परम आत्मा (पर-पुरुष) माना गया है और इसका ग्रहण मन और इन्द्रिय के द्वारा होता है। ऐसी स्थिति में इसको विकार के रूप में उदाहृत किया जाता है। चरक ने ख आदि पाँच, बुद्धि (महत्), अव्यक्त और अहंकार के साथ भूत की आठ संख्या बतायी है और एकादश इन्द्रिय तथा शब्द, स्पर्श आदि पंच विषयों के साथ सोलह विकार बतलाये हैं (शा० १।६३-६४)।

परम आत्मा (पर पुरुष) का परिचय देते हुए अ० पु० ने यह कहा है कि जिससे वेद पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, भाष्य एवं अन्य वाङ्मय की अभिव्यक्ति हुई है वही परम पुरुष है। चरक ने पुरुष कारणता के प्रतिपादन के अवसर पर इसी विचारधारा का प्रतिपादन किया है और अ० पु० का यह श्लोक चरक (शा० १।३९-४१) के आधार पर परिष्कृत रूप में तैयार किया गया प्रतीत होता है।[2]

पितृयान मार्ग की उपवीथी से लेकर अगस्त्य नक्षत्र के मध्य का जो मार्ग है उसके द्वारा सन्तान की कामना वाले अग्निहोत्री लोग स्वर्ग ले जाते हैं। जो सम्यक् दान में तत्पर तथा अष्ट गुणों से युक्त हैं वे भी इसी प्रकार यात्रा करते हैं। अट्ठासी सहस्र गृहस्थ मुनियों को सभी धर्मों का प्रवर्तक कहा गया है और ये ही पुनरावृत्ति के कारण (बीज) माने गये हैं। ये सभी सप्तर्षि तथा नाग-वीथी के मार्ग से देवलोक गये उतने ही मुनि और भी हैं जो सब प्रकार के आरम्भ से विहीन हैं। ऐसे मुनि तपस्या, ब्रह्मचर्य, असक्ति, त्याग तथा

१—अ० पु० ३७६।२४-२७=या० स्मृ० के प्रायश्चित्त अध्याय के श्लोक १७७ से १८० तक सम्बद्ध स्थल पुरस्सर द्रष्टव्य हैं।

२—अ० पु० ३७६।२७-३०=या० स्मृ० के प्रायश्चित्त अध्याय के श्लोक।

मेधा शक्ति के प्रभाव से कल्प पर्यन्त भिन्न-भिन्न दिव्य लोकों में निवास करते हैं।[1]

वेदों का निरन्तर स्वाध्याय, निष्काम यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप, इन्द्रिय-संयम (दंभ), श्रद्धा, उपवास तथा सत्यभाषण--इन सबको आत्म ज्ञान का हेतु कहा गया है अतएव सभी आश्रमवालों द्वारा सत्वगुण का आश्रय लेकर आत्म तत्व का श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं साक्षात्कार करना चाहिये। जो इस प्रकार का ज्ञान रखते हैं तथा जिन्होंने वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लिया है और साथ ही साथ परम श्रद्धावान् हो सत्य की उपासना की है वे क्रमशः अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, देवलोक, सूर्यमण्डल तथा बुद्धित्व के अभिमानी देवताओं के लोकों में जाते हैं। तदनन्तर मानस पुरुष वहाँ आकर अपने साथ ले जाकर उन्हें ब्रह्म लोक का निवासी बना देते हैं। ऐसे लोगों की इस लोक में पुनरावृत्ति नहीं होती। जो लोग यज्ञ, तप और दान से स्वर्ग लोक पर अधिकार प्राप्त करते हैं वे क्रमशः शुभरात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक तथा चन्द्रमा के अभियानी देवताओं के लोकों में जाते हैं और पुनः आकाश, वायु एवं जल के मार्ग से होते हुए इस पृथ्वी पर लौट आते हैं। इस प्रकार वे इस लोक में जन्म लेते हैं और मृत्यु के अनन्तर पुनः उसी मार्ग से यात्रा करते हैं। जो जीव आत्मा इन दोनों मार्गों को नहीं जानता वह सर्प, पतङ्ग और कीट या कृमि होता है। अतएव हृदयाकाश में दीपक की भाँति प्रकाशमान ब्रह्म के ध्यान करने से जीव अमृत स्वरूप हो जाता है इसके अतिरिक्त जो न्याय के द्वारा धनार्जन करने वाले, तत्वज्ञान निष्ठ, अतिथि-प्रेमी, श्राद्ध-कर्ता तथा सत्यवादी गृहस्थ हैं वे भी मुक्त हो जाते हैं।[2]

अग्निपुराण में जो भी योग विषयक सामग्री विद्यमान है उसका स्रोत पातञ्जलयोग दर्शन, मनुस्मृति, याज्ञवल्यस्मृति, वायुपुराण, शिवपुराण आदि है। योग के आठो अंगों की जो प्रायोगिक विवेचना इस पुराण मे हुई है वह अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होती। ध्यान आदि के प्रसंग में शिव भक्ति की विशद चर्चा आपाततः हो गई है।

१—अ० पु० ३७६/३१-३५=या० स्मृ० के प्रायश्चित्त अध्याय के श्लोक १८० से १८८ तक सम्बद्ध स्थल पुरस्सर दृष्टव्य है।

२—अ० पु० ३७६।३५-४४=या० स्मृ० के प्रायश्चित्त अध्याय के श्लोक १८८ से २०५ तक सम्बद्ध स्थल पुरस्सर द्रष्टव्य है।

व्रतपर्यायभूत तप और नियम

अ० पु० के १७५वें अध्याय में व्रत की परिभाषा और विवेचना के अन्तर्गत तप और नियम का भी उल्लेख हुआ है। अष्टांग योग के द्वितीय घटक नियम के अन्तर्गत तप का समावेश होने से यह विवेच्य विषय के अन्तर्गत आ जाता है।

व्रत का पर्याय तप कहा गया है और शास्त्रोक्त नियम ही व्रत है यही तप अष्टांग योग के अन्तर्गत नियम का अङ्गभूत घटक है। दम (इन्द्रिय संयम) और शम (मनोनिग्रह) ये भी व्रत के अङ्ग हैं। यतः व्रत करने वाले पुरुष का शारीरिक संताप सहन करना पड़ता है अतः व्रत को तप भी कहा गया है। इसी प्रकार व्रत में इन्द्रिय समुदाय का नियमन या संयम करना होता है, इसीलिये उसे नियम कहा गया है। जो द्विज प्रतिदिन हवन नहीं करते हैं उनके लिये व्रत, उपवास नियम आदि के द्वारा कल्याण की प्राप्ति बताई गई है।[1]

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि इस व्रत के प्रसंग में प्रतिपादित तप, जो नियम का अङ्गभूत है; योग दर्शन के क्षेत्र के लिये परम अवदान का काम करता हुआ प्रतीत होता है।

भावनात्मक पुष्प और पुष्पिकायें

अ० पु० में २०२वें अध्याय में विभिन्न प्रकार के पुष्पों की गणना की है जिनके द्वारा नैवेद्य करने से अनेक देवता सन्तुष्ट होते हैं और भक्त को अनेक प्रकार के पुण्य की प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं अपितु उन सभी पुष्पों की भी गणना की गई है जो नैवेद्य के लिये विहित और निषिद्ध हैं।

इसी वर्तमान अध्याय में अ० पु० ने आठ प्रकार के भावनात्मक पुष्प और पुष्पिकाओं का वर्णन किया है। इनमें से भावात्मक पुष्प हैं—अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, भूतदया, शान्ति, शम (ब्रह्मचर्य), तप (नियम), ध्यान एवं सत्य।[2]

पुष्पिकाओं के प्रसंग में अग्निपुराणकार ने उन्हें बाह्य पुष्पान्तर के रूप में माना है क्योंकि भक्ति और दया से युक्त होने पर ही देववृन्दारक इन पूजाओं के द्वारा संतुष्ट होता है। इस प्रकार से प्रथम वारुण सलिल माना गया है। द्वितीय सौम्य पुष्पिका के अन्तर्गत घृत, पयस् एवं दधि का समावेश है। प्रजा-

१—अ० पु०, १७५।२–४.
२—अ० पु०, २०२।१७, १८.

पत्य के अन्तर्गत अन्न आदि की गणना की गई है। धूप, दीपक वाली पूजा को आग्नेय पुष्पिका के रूप में रखा गया है। पञ्चम वानस्पत्य के अन्तर्गत पुष्प आते हैं। पार्थिव के अन्तर्गत कुशमूल आदि का सन्निवेश है। गन्ध चन्दन के द्वारा प्रस्तुत की गई पुष्पिका वायव्य कहलाती है और अन्ततोगत्वा आठवीं पुष्पिका के रूप में श्रद्धा की चर्चा है।[1]

इन पुष्प और पुष्पिकाओं के रूप में योग के अध्याय के अन्तर्गत करना इसलिए उचित समझा गया कि इसमें अष्टांग योग में यम के अन्तर्गत उपन्यस्त अहिंसा आदि का सन्निवेश था। पुष्प तो सभी यम-नियम के अन्तर्गत आ ही जाते हैं। पुष्पिकायें इस रूप में साक्षात् नहीं आ पाती और इनका भावनात्मक महत्व तो स्पष्ट है।

१—अ० पु०, २०२।१९-२२.

चतुर्थ अध्याय

वेदान्त प्रस्थानीय सामग्री एवं ब्रह्मनिरुपण

अग्निपुराण में वेदान्त प्रस्थान की सामग्री चार अध्यायों में निहित है। यह सामग्री ब्रह्मज्ञान अद्वैत तत्त्व की विचारधारा की परिचायक है। संसार रुपी अज्ञान जनित बन्धन से मुक्ति पाने के लिए ब्रह्मज्ञान नितान्त उपादेय है। आचार्य शंकर (८०० ई०) द्वारा प्रतिपादित जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य-निरुपण की छाया अग्निपुराण में प्रतिविम्बित होती प्रतीत होती है।

यह आत्मा परम ब्रह्म है और वह मैं ही हूँ ऐसा निश्चय हो जाने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है। इस शरीर को आत्मा कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि वह उससे सर्वथा भिन्न है। वस्तुतः यह देह (शरीर) घट के समान दृश्य होने के कारण आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि सुषुप्त एवं मरणावस्था में इस तथ्य का स्पष्टीकरण हो जाता है और तभी ऐसी प्रतीति होती है कि देह से आत्मा भिन्न है। इतना ही नहीं अपितु यदि देह ही आत्मा होती तो पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओं के अनन्तर इसका व्यवहार पूर्वोक्त होता रहता।[1]

इसी प्रकार इन्द्रियों (करण) को भी आत्मा नहीं माना जा सकता और यही स्थिति मन और बुद्धि (धी) की है। वे भी दीपक की भाँति प्रकाश के करण हैं। प्राण भी आत्मा नहीं है क्योंकि सुषुप्तावस्था में उसपर जड़ता का प्रभाव बना रहता है। जाग्रत और स्वप्नावस्था में प्राण के साथ चैतन्य के सम्पर्क होने के कारण उसका पृथक् बोध नहीं हो पाता किन्तु सुषुप्तावस्था में प्राण विज्ञान-रहित है, यह तथ्य स्पष्टतः प्रकाश में आ जाता है। यही कारण है कि आत्मा को देह, इन्द्रिय आदि सभी से पृथक् माना गया है। वस्तुतः इन्द्रिय आदि आत्मा के करण-मात्र हैं। जिस प्रकार उपर्युक्त सभी भाव आत्मा से पृथक् हैं उसी प्रकार अहंकार भी; क्योंकि देहवत् वह भी आत्मा से पृथक ही उपलब्ध होता है।[2]

इस प्रकार पूर्वोक्त देह आदि से भिन्न यह आत्मा सबके दृश्य में अन्तर्यामी

१—अ० पु०, ३७७।१-२.
२—अ० पु०, ३७७।३-६.

रूप में स्थित है। यह आत्मा रात्रि में प्रज्वलित दीप की भाँति सबका द्रष्टा और भोक्ता है।[1]

ब्रह्म से सृष्टि का प्राकट्य

यतः ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से सूक्ष्म शरीर प्रगट हुआ है और अपञ्चीकृत भूतों से पञ्चीकृत भूतों की उत्पत्ति हुई है। इसलिए समाधि के आरम्भ काल में इस प्रकार का चिन्तन सर्वथा आवश्यक है। पञ्चीकृत भूत का तात्पर्य यह है कि उस विशिष्ट भूत में तदात्मक भूत का ५० प्रतिशत अंश होता है शेष पचास प्रतिशत में अन्य भूत १२-१।२% के अनुपात में रहते हैं। शुद्धावस्था में भूत इस प्रकार के संयोग से विहीन होने के कारण अपञ्चीकृत कहलाते हैं। इस प्रकार के स्थूल शरीर का ध्यान करके ब्रह्म में उसके लय होने को साधना उसके साधक को करनी चाहिये। पञ्चीकृतभूत और उसके साधक को विराट् कहा गया है। आत्मा का स्थूल शरीर अज्ञान से कल्पित है। इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है उसे 'जाग्रत अवस्था' कहा गया है और इसी अवस्था के अभिमानी आत्मा का नाम 'विश्व' है। ये सभी अवस्थायें और उसके अभिमानी देवता प्रणव की प्रथम अकार मात्रा के निर्माता हैं। अपञ्चीकृत भूत और उसके कार्य को 'लिङ्ग' कहा गया है। सप्तदश तत्त्व (दस इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा, मन और बुद्धि) युक्त आत्मा का नाम सूक्ष्म शरीर है इसी को 'हिरण्यगर्भ' और 'लिङ्ग' भी कहा गया है। जाग्रत अवस्था के संस्कार से उत्पन्न विषयों की प्रतीति को 'स्वप्न' कहा गया है। उसका अभिमानी 'तेजस' नाम से प्रसिद्ध है। यह जाग्रत के संस्कार से पृथक् तथा प्रणव की दूसरी मात्रा 'उकार' के रूप में है। स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों का आत्मा ही एक करण कहा गया है। अभ्यास युक्त ज्ञान को 'अध्याहृत ज्ञान' कहा गया है। इन अवस्थाओं का साक्षी ब्रह्म न सत् है न असत् है और न ही सदसत्, यह न तो अवयव युक्त है न उससे विहीन; इसी प्रकार यह न तो अवयव से भिन्न है न ही अभिन्न इतना ही नहीं, अपितु अभिन्न भिन्न भी नहीं है। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि यह सर्वथा अनिर्वचनीय है। यही ब्रह्मात्मक आत्मा इस बन्धनभूत संसार की सृष्टि करने वाला ब्रह्म केवल एक है, उसकी प्राप्ति ज्ञान से होती है और कर्म द्वारा उसकी उपलब्धि कथमपि सम्भव नहीं है।[2]

१—अ० पु०, ३७२।६-७.

२—अ० पु०, ३७७।७-१७.

जब ब्रह्म ज्ञान के साधन भूत इन्द्रियों का सर्वथा लय हो जाता है और बुद्धि की ही स्थिति रहती है तो उस अवस्था को सुषुप्ति कहा गया है। बुद्धि और सुषुप्ति दोनों के अभिमानी आत्मा का नाम 'प्राज्ञ' है। यह तीनों प्रणव की मकार के निर्माता माने गये हैं। यह प्राज्ञ ही अकार, उकार और मकार स्वरूप है। अहम् पदात्मक चित्तस्वरूप आत्मा इन जाग्रत, स्वप्न आदि अवस्थाओं का साक्षी है। उसमें अज्ञान और उसके कार्यभूत सांसारिक भूतबन्धन नहीं हैं। मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त, सत्य, आनन्द एवं अद्वैतस्वरूप ब्रह्म हूँ। मैं ज्योतिर्मय परब्रह्म, सर्वथा मुक्तप्रणव और वाच्य स्वरूप परमेश्वर हूँ। मैं ही ज्ञान और समाधि युक्त ब्रह्म हूँ। मैं ही बन्धन का नाश करने वाला हूँ। इतना ही नहीं, अपितु चिरन्तन आनन्दमय, सत्य, ज्ञान और अनन्त आदि नामों से लक्षित परब्रह्म मैं ही हूँ। यह आत्मा परब्रह्म है और तुम ब्रह्म हो इस प्रकार गुरु द्वारा बोध कराये जाने पर जीव यह अनुभव करने लगता है कि मैं इस देह से विलक्षण ब्रह्म हूँ और सूर्यमण्डल में प्रकाशमय पुरुष हूँ। मैं ही ॐकार तथा अखण्ड परमेश्वर हूँ। इस प्रकार ब्रह्म को जानने वाला पुरुष इस असार संसार से मुक्त होकर ब्रह्म रूप हो जाता है।[1]

ब्रह्मज्ञान परक विभिन्न विचारधाराओं का संश्लेषण

उपर्युक्त ब्रह्म-निरुपण के अनन्तर अ० पु० ने तीन सौ अठहत्तरवें अध्याय में ब्रह्म के साथ ऐक्य प्रतिपादन की दृष्टि से विभिन्न विचारधाराओं का संश्लेषण किया है।

इस परब्रह्म को पंचमहाभूत, उनके कार्य और विराट् रूप से सर्वथा विहीन माना गया है। इतना ही नहीं अपितु यह जाग्रत अवस्था और विश्व भाव से भी विवर्जित है। इस प्रसंग में जो भी ब्रह्म का निरुपण अ० पु० ने उपस्थित किया है, वह ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, उनके शब्द आदि विषय, मन, बुद्धि, अहंकार, प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, जरा, मरण, शोक, मोह, क्षुधा, पिपासा आदि से उसे सर्वथा विहीन कहा गया है। यह परब्रह्म शब्दोत्पत्ति से वर्जित, हिरण्यगर्भ से विलक्षण, स्वप्नावस्था से पृथक्, अपकार आदि से हीन तथा समाज्ञान से शून्य ज्योतिर्मय परब्रह्म है। इसके अतिरिक्त उसे अध्याहार, सदसत् भाव-अवयव तथा भेदाभेद से रहित माना गया है। इसका निरुपण करते हुए अ० पु० कार इतने से ही शान्त नहीं होता अपितु वह उसे सुषुप्तावस्था, प्राज्ञ-भाव, मकार आदि, मान, भय, नीति, माता, साक्षित्व, कार्य कारण आदि से

१—अ० पु०, ३७७।१७-२४.

विहीन माना गया है। वह परब्रह्म देह, इन्द्रिय मन, बुद्धि-प्राण और अहंकार आदि से रहित तथा जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था से मुक्त तुरीय (चतुर्थ) अवस्था स्वरूप है। वह नित्य, शुद्ध-बुद्ध, मुक्त, आनन्द और अद्वैत रूप परब्रह्म है। इसी को विज्ञान युक्त ब्रह्म भी कहा गया है। यही सर्वथा मुक्त और प्रणव स्वरूप भी है। यही ज्योतिर्मय परब्रह्म ज्योति देने वाला समाधि स्वरूप परमात्मा है।

अ० पु० का यह विश्लेषण ब्रह्म की समस्त अवस्थाओं का परिचायक है जिसके माध्यम से निषिद्ध और विहित ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।[1]

भगवत्स्वरूप एवं ब्रह्म भाव की प्राप्ति

अ० पु० का तीन सौ उन्नासीवाँ अध्याय ब्रह्म भाव की प्राप्ति के उपाय की चर्चा करता है। इस पुराण के अनुसार धर्मात्मा पुरुष यज्ञ के द्वारा ब्रह्म पद को, वैराग्य से प्रकृति में लय को और ज्ञान से मोक्ष (कैवल्य) को प्राप्त करता है। इस प्रकार ये पाँच गतियाँ प्रतिपादित हैं जो साधक के लिये अनुष्ठेय हैं।[2] प्रीति, संताप, विषाद आदि से नियुत्त होना ही विरक्तता है। किये गये कर्मों का त्याग तथा जो नहीं भी किये गये हैं उन सब (आसक्ति, फलेच्छा, संकल्प) का त्याग सन्यास कहलाता है। इस प्रकार अव्यक्त से आरम्भ कर विशेष पर्यन्त सभी पदार्थों के प्रति मन में कोई विकार नहीं रह जाता। जड़ और चेतन की भिन्नता के ज्ञान के हो जाने से ही परमार्थ की प्राप्ति मान ली जाती है। परमात्मा ही सबका आधार कहा गया है। वेदों और उपनिषदों (वेदान्त) में विष्णु नाम से उसका यशोगान होता है। उन्हें यज्ञेश्वर यज्ञ पुरुष के रूप में माना जाने के कारण उनकी आराधना इसी रूप में होती है। निवृत्ति मार्ग के इच्छुक साधक ज्ञान-योग के द्वारा उस ज्ञान-स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत आदि वचन उस पुरुषोत्तम के ही स्वरूप हैं। इस प्रकार के पुरुषोत्तम की प्राप्ति के लिए ज्ञान और कर्म दो हेतु बताये गये हैं। इनमें से ज्ञान आगमजन्य और विवेकजन्य भेद से दो प्रकार का है। शब्द ब्रह्म एवं परब्रह्म भेद से ब्रह्म दो प्रकार का है। वेद आदि विद्या को शब्द ब्रह्म, अपर ब्रह्म अथवा अक्षर तत्त्व ब्रह्म कहा गया है और यह परब्रह्म ही भगवत् शब्द का मुख्य वाच्यार्थ है। पूजा आदि अन्य अर्थों में उसका प्रयोग औपचारिक

१—अ० पु०, ३७८ अध्याय.

२—अ० पु०, ३७९।१-२.

हैं। भगवत् शब्द में निहित मकार अर्थ नेता (कर्म फल की प्राप्ति कराने वाला), गमयिता (प्रेरक) और स्रष्टा अर्थ का बोधक है इस उपर्युक्त व्याख्या के अतिरिक्त अ० पु० ने परम्परा से प्राप्त भगा शब्द की परिभाषा सम्पूर्ण ऐश्वर्य, पराक्रम, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन छः पर्यायों के रूप में की है। यतः विष्णु में सम्पूर्ण भूत निवास करते हैं। अतएव उसे धाता एवं तीन रूप वाला (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) माना गया है। अतः श्री हरि में ही भगवान् पद मुख्य वृत्ति से विद्यमान है, अन्य किसी के लिये तो उसका उपचार से ही प्रयोग होता है। भगवत् पद की इतनी व्याख्या से सन्तोष न कर अ० पु० ने पुनः भगवत् पद की व्याख्या की और प्राचीनों के पद को यहाँ प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार जो सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति, प्रलय, आवागमन, विद्या तथा अविद्या को जानता है वही भगवान् कहा जाता है इतना ही नहीं अपितु हेय (दुर्गुण) आदि गुणों को त्याग कर समस्त ज्ञान, शक्ति, परम ऐश्वर्य, वीर्य तथा समग्र तेज—ये सब भगवत् शब्द के वाच्यार्थ हैं।[1]

अ० पु० में खांडिक्य जनक और केशिध्वज का योग विषयक संवाद है—वह विष्णु पुराण के षष्ठ अध्याय से संक्षिप्त रूप से गृहीत है। राजा धर्मध्वज के दो पुत्र थे अमितध्वज एवं कृतध्वज। अमितध्वज का पुत्र खांडिक्य एवं कृतध्वज का पुत्र केशिध्वज हुआ। खांडिक्य कर्ममार्ग में एवं केशिध्वज अध्यात्म शास्त्र (आत्म विद्या) में निपुण था। ये दोनों परस्पर एक दूसरे को पराजित करने का प्रयत्न करते थे अन्त में केशिध्वज ने खांडिक्य का राज्य छीन लिया। इस प्रकार खांडिक्य राज्यभ्रष्ट होकर पुरोहित एवं मन्त्रियों सहित वन में चला गया। एक बार केशिध्वज के राज्य में एक धर्म धेनु को अकस्मात् एक व्याघ्र ने मार डाला तो अन्त में उसके प्रायश्चित को पूछने के लिये वे विरक्त खांडिक्य के पास पहुँचे, यद्यपि उनके मन्त्रियों ने खांडिक्य को यह परामर्श दिया कि आप पूरा राज्य उससे माँग लें किन्तु उन्होंने उनकी यह सम्मति न मानी और स्वतः केशिध्वज पर प्रसन्न होकर उसे आत्म-विद्या-सम्बन्धी उपदेश देना आरम्भ किया। केशिध्वज ने अविद्या के स्वरूप का चित्रण प्रस्तुत किया उन्होंने कहा कि—

अनात्मा को आत्मा और जो अपना नहीं है उसे अपना मानना इस प्रकार अविद्या दो प्रकार की है। यह बुद्धिहीन प्राणी मोहान्धकार में पड़ कर पञ्चभूतात्मक शरीर में अहम् एवं मम का भाव रखता है, किन्तु आकाश आदि

१—अ० पु०, ३७९।२-१४.

पञ्चभूतों से आत्मा के नितान्त पृथक् होने के कारण कोई विवेकी पुरुष शरीर को आत्मा कथम् अपि नहीं मानेगा।[१]

इसी प्रकार जब व्यक्ति इस शरीर से उत्पन्न हुए पुत्र-पौत्र आदि से जो ममत्व की भावना बना लेता है वह एक प्रकार की अविद्या ही है। इसके विपरीत विद्वान् पुरुष अनात्मभूत शरीर में समभाव रखता है और उसके प्रति वह राग-द्वेष से वशीभूत नहीं होता। मनुष्य अपने शरीर के उपकार के लिए ही समस्त कार्य करता है परन्तु जब पुरुष से शरीर भिन्न है, तो वह समस्त कर्म केवल बन्धन का कारण ही होता है।[२] वस्तुतः आत्मा निर्वाणमय (शान्त), ज्ञानमय तथा निर्मल है। दुःखानुभव रूप धर्म प्रकृति का है वह आत्मा का नहीं। यतः जल का साक्षात्सम्पर्क अग्नि से कथपि नहीं होता। वही जल जब स्थाली के अन्दर निहित होता है और वही जलगत स्थाली जल जब अग्नि के सम्पर्क से उबलता है तब ध्वनि करता है। इसी प्रकार आत्मा भी प्रकृति के सङ्ग से से अहंकार आदि दोष को स्वीकार कर जब प्राकृत धर्मों को स्वीकार करता है तब वह उनसे सर्वथा भिन्न और अविनाशी प्रतीत होता है।[3] विषयों में आसक्त हुआ मन बन्धन का कारण है। वही जब विषयों से निवृत्त हो जाता है तो ज्ञान प्राप्ति में सहायक होता है। अतः मन को विषयों से हटाकर ब्रह्मस्वरूप श्री हरि के स्मरण में लगाना चाहिये। जिस प्रकार चुम्बक पत्थर लौह धातु को अपनी ओर आर्कषित करता है, उसी प्रकार जो ब्रह्म का ध्यान करता है, उसका उस ब्रह्म से संयोग होना ही योग है। जो पुरुष स्थिर भाव से समाधि में स्थिति होता है वही परब्रह्म को प्राप्त होता है। अतएव यम, नियम, प्रत्याहार, प्राणजय, प्राणायाम, इन्द्रियों को अपने विषयों की ओर से हटाने तथा अपने वश में करने आदि उपायों के द्वारा चित्त को किसी शुभ आश्रय में स्थापित करना चाहिये, और ब्रह्म ही चित्त का शुभ आश्रय है। वह मूर्त और अमूर्त भेद से दो प्रकार का माना गया है सनक, सनन्दन आदि मुनि ब्रह्म भावना से युक्त हैं। इसी प्रकार देवताओं से लेकर स्थावर-जङ्गम पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणी कर्म-भावना से युक्त हैं। हिरण्य आदि में ब्रह्म एवं कर्म दोनों भावना विद्यमान हैं पर समस्त भावना तीन प्रकार की कही गयी है। सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्म मानकर ब्रह्म की उपासना की जाती है। अ० पु० ने ब्रह्म की परिभाषा एक अद्भुत

१—अ० पु०, ३७९।१५ (आ)-१७ (अ)=वि० पु०, ७।११-१२.
२—अ० पु०, ३७०।१७ (आ)-१९ (अ)=वि० पु०, ७।१५-१६.
३—अ० पु०, ३७२।१९ (आ)-२२ (अ)=वि० पु०, ७।२२-२४.

रूप से प्रस्तुत की है—उनके अनुसार जहाँ समस्त भेद शान्त हो जाते हों, जो सत्तामात्र हो तथा वाणी से अगोचर हो, साथ ही साथ स्वयं संवेद्य हो—वही ब्रह्म ज्ञान है। वही रूपहीन विष्णु का उत्कृष्ट स्वरूप है जिससे अज और अक्षर भी कहा गया है। यतः अमूर्त रूप का ध्यान प्रथमतः करना कठिन होता है अतएव मूर्त आदि का चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार के कार्य को करता हुआ मनुष्य भगवत् भाव को प्राप्त हो परमात्मा के साथ एकीभूत हो जाता है और भेद की प्रतीति तो अज्ञान से होती है।[1]

इस प्रकरण में शब्द ब्रह्म और परब्रह्म की चर्चा के साथ-साथ अनात्म विद्या का परोक्ष रूप से परिचय देकर मोह के कारणों पर प्रकाश डाला गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि जब तक ब्रह्म ज्ञान नहीं होता तब तक व्यक्ति ब्रह्म भाव को प्राप्त नहीं हो सकता।

कर्म द्वारा अविद्या की उत्पत्ति एवं उसका विवेचन

अ० पु० का २८० वाँ अध्याय अद्वैत ब्रह्म का मुख्यतः प्रतिपादन करता है किन्तु इसके उपक्रम में अविद्या द्वारा कर्मोत्पत्ति की चर्चा की गई है। कथानक माध्यम से अविद्या का विवेचन विष्णु पुराण के द्वितीय खण्ड के तेरह से सोलह अध्याय के आधार पर किया गया है।

कथानक का आरम्भ शालग्राम क्षेत्र में भगवान् वासुदेव के ध्यान में निरत राजा भरत की तपश्चर्या से होता है। ये राजा भरत जब हरि-चिन्तन करने पर भी मुक्त न हो सके तो पुनः ब्राह्मण रूप में अपना शरीर धारण किया। एक दिन नदी में स्नान करने के निमित्त उपस्थित उन्हें तट पर एक प्यासी भयभीत हिरणी दृष्टिगत हुई जिसका शावक भयवश गर्भच्युत हो नदी के जल में गिर पड़ा था। वे उस मृग शावक को लेकर आश्रम में चले आये और निरन्तर उसका पालन-पोषण प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार ये सब प्रकार के मोह बन्धन से विरक्त हो एक मात्र मृगशावक के बन्धन में ग्रस्त हो गये। इस प्रकार की आसक्ति से राजा भरत की समाधि में विघ्न उपस्थित हो गया। अपने मृत्यु काल में एकटक उस मृग-शावक को देखते रह गये। मृत्यु कालकी भावना के परिणामस्वरूप वे अग्रिम जीवन में जम्बु द्वीप के एक महावन में मृग के रूप अवतरित हुए। जातिस्मर होने के कारण वह संसार से विरक्त हो उसी शाल-

---

१—अ० पु०, ३७९।२२ (आ)।१२ =वि० पु०, के षष्ठ अंश—अ० ७ के श्लोक २८ से ९५ तक सम्बद्ध स्थल पुरस्सर द्रष्टव्य हैं।

ग्राम क्षेत्र में निवास करने लगे और उस मृगयोनि में रहते हुए अपने पूर्व कर्मों का क्षय कर दिया और अन्ततोगत्वा श्रेष्ठ योगी के रूप में उन्होंने पुनः जन्म लिया उस समय वे समस्त विज्ञान से सम्पन्न, सर्वशास्त्र-मर्मज्ञ और अपनी आत्मा की प्रकृति से सर्वथा पृथक् देखने वाले सिद्ध हुए। आत्मज्ञानी होने के कारण सभी जीवों को अपने से अभिन्न ही मानते थे। उपनयन संस्कार हो जाने पर भी वह अपना व्यवहार जड़वत् ही करते थे। उन्हें जो भी उपलब्ध अन्न मिलता उसका सेवन करते हुऐ अपना समय व्यतीत करने लगे। एक बार पृष-तराज के सेवकों ने उन्हें विरूद्ध आचरण से मंस्कारहीन मानकर महाकाली के बलि के लिये उनको तैयार किया किन्तु परम योगी को इस रूप में उपस्थित देखकर स्वंय महाकाली ने उन सभी राजसेवकों का संहार कर उनका रक्तपान किया। (आ० पु०, ३८०/)

एक समय की बात है कि सौवीर नरेश महाऋषि कपिल से "दुःखमय संसार में श्रेय कहाँ है" इस जिज्ञासा के समाधान को पाने के लिये जा रहे थे। शिविकावाहकों ने इनके स्थूल शरीर को देखकर अपने साथ वाहकों में इन्हे सम्मिलित कर लिया। अन्य सभी शिविका-वाहक तीव्र गति से चलते थे पर इनकी गति चिन्तन के कारण मन्द थी। राजा ने मन्द गति के कारण को अन्य शिविका-वाहकों से पूछा और साथ ही इनसे भी यह प्रश्न कर दिया—कि जब तुम्हारा शरीर इतना मोटा है तो तुम पालकी क्यों ढो रहे हो? राजा के द्वारा इस प्रकार प्रश्न किये जाने पर उस ब्राह्मण ने यह उत्तर किया कि न तो मैं मोटा-ताजा हूँ, न ही मैंने आपकी पालकी उठायी है। इतना ही नहीं, अपितु में श्रान्त भी नहीं हूँ और न ही मुझे श्रम करने की आवश्यकता है। राजा ने इस उत्तर का पुनः प्रतिपादन किया और पुनः अपने उन्हीं प्रश्नों को दोहराया और इसके अनन्तर उस ब्राह्मण ने उनको दार्शनिक शब्दो में समझाना आरम्भ कर दिया। उसने यह कहा कि—पृथ्वी पर दोनों पाँव, पाँवों पर दोनों जांघें, जाँघों पर उदर, उदर पर वक्षःस्थल, बाहु और स्कन्ध स्थित हैं और स्कन्ध पर यह पालकी रखी हुई है। तो इस प्रकार पालकी का भार मेरे पर नहीं है क्योंकि अन्ततोगत्वा सबका भार पृथ्वी पर है इसके अतिरिक्त पालकी पर तुम्हारी देह उपस्थित है वस्तुतः तुम वहाँ हो और मैं यहाँ। निकर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि आप तथा अन्य सभी प्राणी पञ्चभूतों द्वारा ही वहन किये जाते हैं और यह भूत वर्ग गुणों के द्वारा प्रभावित हैं। यह सत्वादि गुण कर्मों के अधीन हैं और समस्त प्राणियों में कर्म की उत्पत्ति अविद्या से हुई

है।[१] इस प्रकार कर्म द्वारा अविद्या की उत्पत्ति बताकर उस जड़ भरत ने सौवीर नरेश से आत्मा के विषय में निरूपण करना आरम्भ कर दिया।

उसने कहा कि यह आत्मा शुद्ध, अक्षर, शान्त, गुण रहित तथा प्राकृति से परे है, समस्त प्राणियों में वह एक मात्र ओत-प्रोत है। न तो उस आत्मा की कभी वृद्धि होती है और न कभी क्षय। जब उस आत्मा का चय, अपचय नहीं होता तो किस आधार पर आपने मुझे मोटा-ताजा कहा। जिस प्रकार भूमि, पाद, जँघा, कटि, ऊरू, उदर पर स्थित एवं कंधे पर रखी हुई यह पालकी मेरे लिये भारभूत हो सकती है उसी प्रकार आपके लिए भी भारभूत हो सकती है। इसी प्रकार न अन्य सभी प्राणियों ने केवल यह पालकी ही धारण कर रखी है अपितु सम्पूर्ण पर्वत, वृक्ष, गृह एवं भूमि आदि का भार भी वहन कर रखा है। इस प्रकार जब प्राकृत कारणों से पुरुष का पृथक् भाव है तो मुझे कैसे श्रान्ति हो हो सकती है। जिन द्रव्यों से इस पालकी का निर्माण हुआ है उसी से आपका, मेरा एवं अन्य सभी व्यक्तियों का शरीर निर्मित है और इसमें ममता का आरोप मात्र है। इस प्रकार उस ब्राह्मण के दार्शनिक संवाद को सुन कर सौवीर नरेश पालकी से उतर आये और उनका चरण स्पर्श किया। राजा ने करबद्ध होकर उनका परिचय जानना चाहा, उसके उत्तर में ब्राह्मण ने अपनी असमर्थता बतलाई और यहाँ स्पष्ट किया कि—मैं कौन हूँ इसे मैं कैसे कह सकता हूँ, यदि मेरे यहाँ आने का कारण पूछते हैं तो उसका कारण आवागमन आदि क्रियाएँ हैं जिनसे कर्म के फल का भोग होता है सुख-दुःख का भोग शरीरादि को प्राप्त होता है और इसी धर्म-अधर्म जीवों की समस्त अवस्थाओं का कारण है। पुनः राजा ने उसी प्रश्न को दोहराया जिसको ब्राह्मण ने कहा था कि जो है वही मैं हूँ इसे क्यों नहीं स्पष्ट किया जा सकता है? वस्तुतः यह अहं शब्द आत्मा को दूषित करने के कारण है।[२]

ब्राह्मण ने बड़े ही युक्ति से उन प्रश्नों का उत्तर देना आरम्भ किया और कहा कि अहं शब्द से आत्मा में कोई दोष नहीं आता यह कथन तो यथार्थ है, किन्तु अहं शब्द अनात्मा में आत्मत्व की भ्रांति कराने वाला होने के कारण दोष का कारण हो जाता है। जब समस्त देहों में एक ही आत्मा (पुमान) स्थित

१—अ० पु०, ३८०।५–१२ = वि० पु०, द्वितीय अंश अ० १३ के श्लोक ५७ से ७० तक सम्बद्ध स्थल पुरस्सर द्रष्टव्य है।

२—अ० पु०, ३८०।१२-२२=वि० पु०, द्वितीय अंश, अ० १३. के श्लोक ७० से ८५ तक सम्बद्ध स्थल पुरस्सर द्रष्टव्य हैं।

है तब आप कौन और मैं कौन—यह निष्प्रयोजन हो जाता है आप राजा हैं, यह पालकी है और हम सब इसके ढोने वाले व्यक्ति हैं, यह सब आपकी प्रजा है इन सब कथन में यथार्थ रूप से कोई भी सत्य नहीं है। जिस प्रकार काष्ठ से यह पालकी बनी हुई है जिसपर आप विराजमान है तब यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक हो जायेगा कि पालकी को वृक्ष कहा जाय अथवा काष्ठ की ? इस प्रकार से कोई नहीं कहेगा कि आप वृक्ष पर बैठे हैं अपितु सभी यह कहेंगे कि आप पालकी पर बैठे हैं। रचना विशेष से एकत्रित हुआ काष्ठसमूह ही तो पालकी है यदि यह काष्ठ से भिन्न है तो काष्ठ को इससे पृथक् करके इसकी खोज करनी चाहिये। पुरुष-स्त्री, गौ, बकरा हाथी, घोड़ा, पक्षी और वृक्ष-लोक संज्ञाएँ कर्म हेतु वाले देह में ही मानी जाती हैं। अहं शब्द, दन्त, ओष्ठ एवं तालु से उच्चारित किया जाता है, किन्तु यह सब उसके उच्चारण के कारण तो हैं, परन्तु स्वयं ही अहं नहीं है। तो क्या जिह्वादि के कारणों के द्वारा वाणी ही अपने आप को अहं कहती है ? यदि नहीं तो फिर 'तू मोटा ताजा है' ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। मस्तक, हस्त-पाद आदि रूप वाली यह देह भी आत्मा से भिन्न ही है इसलिये इस अहं शब्द को प्रयुक्त किया जाय ? यदि मुझसे भिन्न कोई अन्य सजातीय ही आत्मा होता तो भी 'यह मैं हूँ' 'यह भिन्न है' ऐसा कहा जा सकता था। आत्मा तो देवता, मनुष्य, पशु, वृक्ष आदि कुछ भी नहीं है, ये सब तो कर्म से उत्पन्न देहों के आकृति भेद ही हैं। संसार में राजा, राजा के वीर सैनिक तथा अन्यान्य सभी वस्तुएँ यथार्थ में सत्य नहीं हैं, वे तो केवल कल्पना मात्र हैं। वस्तुतः आप ही समस्त प्रजा जनों के राजा हैं। पिता के लिये पुत्र, पत्नी के पति, पुत्र के लिये पिता तथा शत्रु के लिये शत्रु हैं। इस प्रकार हे राजन्, आप ही बताइये कि मैं आपको क्या कहूँ ? हे राजन्, तुम शिर, ग्रीवा, उदर अथवा पाँव में से कुछ हो और क्या यह शिर आदि भी आपके अपने हैं ? इस प्रकार यदि इन अवयवों से भिन्न हो तो ? यत्नपूर्वक यह सोचना चाहिये कि मैं कौन हूँ ?[1] इस प्रकार उस अवधूत के वचन को सुनकर राजा बोला कि हे भगवन्, मैं कल्याण की भावना से ही महाऋषि कपिल से पूछने के लिए जा रहा था और मार्ग में आप मिल गये, मैं आपको ही महाऋषि कपिल का अंश मानता हूँ। अतएव उस प्राप्तव्य ज्ञान को आप मुझे दीजिये। आप ज्ञान रूपी उदधि के वीचि हैं अतएव मेरी समस्त शंकाओं का निराकरण कर सकते हैं। इस प्रकार प्रश्न

१—अ० पु०, ३८०।२२-३८=वि० पु०, द्वितीय अंश, अ० १३. के श्लोक ८६ से १०३ तक सम्बद्ध स्थल पुरस्सर द्रष्टव्य हैं।

के उत्तर में ब्राह्मण ने राजा से कहा कि हे राजन, आप श्रेय जानना चाहते हैं अथवा परमार्थ ? क्योंकि सभी श्रेय अपरमार्थिक हैं। देवताओं की आराधना के द्वारा जो मनुष्य धन सम्पत्ति, पुत्र राज्यादि की कामना करता है, उसके लिये तो उसकी प्राप्ति ही परम श्रेय हैं। विवेकी पुरुष की दृष्टि में परमात्मा की प्राप्ति या संयोग ही श्रेय है। वह यज्ञ आदि की क्रिया तथा द्रव्य की सिद्धि को श्रेय नहीं मनाता। परमात्मा और आत्मा का संयोग उनके एकत्व का बोध ही परमार्थ माना गया है। परमात्मा एक सर्वव्यापक सम, शुद्ध, निर्गुण, प्रकृति से परे, जन्म-वृद्धि आदि से रहित, सर्वगत अव्यय, उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप, गुण जाति आदि के संसर्ग से रहित एवं विभु है।[1]

इस प्रकार राजा को श्रेय का स्वरूप बतलाकर पुनः निदाघ और ऋतु (ब्रह्म के पुत्र) के संवाद के माध्यम से ब्राह्मण ने और भी कहना आरम्भ किया। यह कथा इस प्रकार है कि—एक बार की बात है कि ब्रह्मा के पुत्र ऋतु या ऋभु के शिष्य पुलस्त्य-नंदन निदाघ देविका नदी के तट पर एक नगर में जाकर रहने लगे। ज्ञानी ऋतु ने अपने शिष्य के निवास स्थान का ज्ञान कर लिया था–सहस्र दिव्य वर्ष व्यतीत होने के पश्चात् एक दिन ऋतु-निदाघ को देखने के लिये उनके निवास स्थान पर पहुँच गये, उस समय निदाघ बलिवैश्वदेवयज्ञ करने के अनन्तर भोजन करके अपने एक शिष्य से यह कह रहे थे कि भोजन के पश्चात् ही तृप्ति हुई है क्योंकि यह भोज्य ही अक्षय तृप्ति प्रदान करने वाला माना गया है। इस कथन के अनन्तर ही तत्काल उन्होंने इस विषय को आये हुऐ अतिथि से भी पूछना आरम्भ कर दिया। ऋतु ने कहा हे ब्राह्मण जिसे क्षुधा लगी होती है उसी को भोजन के पश्चात् तृप्ति का अनुभव होता है मुझे तो कभी क्षुधा की अनुभूति हुई ही नहीं इसलिये मेरी तृप्ति के विषय में आप क्यों पूछते हैं ? वस्तुतः क्षुधा और तृणा शरीर के धर्म हैं और यह आत्मा को कभी स्पर्श नहीं कर सकते हैं। अतः आपने इस प्रश्न को उपस्थित किया है अतएव मैं इस विषय में कह रहा हूँ, वस्तुतः मुझे तो तृप्ति सदैव बनी रहती है। पुरुष आकाश के समान सर्वव्यापक है और मैं प्रत्यगात्मा ही हूँ अतः आपने मुझसे जो यह पूछा है कि आप कहीं से आये हैं—यह प्रश्न कैसे सार्थक हो सकता है। न तो मैं कहीं जाता हूँ और न कहीं आता हूँ। इसी प्रकार न किसी एक स्थान पर स्थित रहता हूँ, न मैं आप से भिन्न हूँ और न ही आप मुझसे भिन्न हैं। जिस

१—अ० पु०, ३८०।३८-४४=वि० पु०, द्वितीय अंश, अ० १४. के श्लोक ७ से ३० तक सम्बद्ध स्थल पुरस्सर द्रष्टव्य हैं।

प्रकार मृत्तिका से निर्मित्त घर मृत्तिका के लिम्पन से ही सुदृढ़ होता है उसी प्रकार यह पार्थिव देह भी पार्थिव अन्न के परमाणुओं से पुष्ट होता है। अतएव हे ब्राह्मण, मैं आपका आचार्य ऋतु हूँ और आपको ज्ञान देने के लिये यहाँ आया हूँ। मैंने आपको परमार्थ का उपदेश कर दिया है अतएव अब मैं जाना चाहता हूँ। निष्कर्ष रूप में इस सम्पूर्ण जगत को एकमात्र वासुदेव संज्ञक परमात्मा का ही स्वरूप समझना चाहिये। इसमें भेद का सर्वथा अभाव है।[1]

तत्पश्चात पुनः एक सहस्र वर्ष व्यतीत होने पर ब्रह्मा पुत्र ऋतु पुनः उस नगर में गये और उन्होंने पुलस्त्य-पुत्र निदाघ को नगर के एकान्त स्थान पर खड़ा पाया और उसके कारण को पूछा इसके उत्तर में निदाघ ने कहा कि यतः मार्ग में मनुष्यों की बहुत बड़ी भीड़ उपस्थित थी और वह इसलिये कि उस काल में इस रमणीय नगर में किसी राजा के प्रवेश की चर्चा थी। अतएव इस रूप में ठहरना पड़ा इस प्रकार की वार्त्ता के अनन्तर ऋतु ने पूछा कि हे द्विजश्रेष्ठ जब आपका यहाँ के विषय में सब प्रकार का ज्ञान है तो कृपा करके यह बतलाइये कि इसमें कौन नरेश है और कौन दूसरे लोग। इस प्रश्न के उत्तर में निदाघ ने कहा कि जो इस पर्वत शिखर के समान खड़े हुए मतवाले हाथी पर आरूढ़ हैं वे नरेश हैं तथा उनके चारों ओर एकत्र हुए व्यक्ति दूसरे लोग हैं। यह नीचे वाला जीव हाथी है ऊपर बैठे सज्जन महाराजा हैं। पुनः ऋतु ने यह प्रश्न उपस्थित किया कि इनमें से राजा कौन है? और हाथी कौन है? निदाघ उनकी जिज्ञासा को शान्त करते हुए ऋतु के ऊपर चढ़ गये और बोले अब दृष्टान्त देख कर वाहन को समझ लें क्योंकि मैं आपके ऊपर राजा के समान बैठा हूँ और आप मेरे नीचे हाथी के समान खड़े हैं। पुनः ऋतु ने निदाघ से पूछा कि मैं कौन हूँ? और मैं आपको क्या कहूँ? इस प्रकार की वार्त्ता को सुनकर निदाघ उतर कर उनके चरण पर गिर पड़ा और बोला कि निश्चय ही आप मेरे गुरु महाराज हैं दूसरे किसी का ऐसा हृदय नहीं है, जो निरन्तर अद्वैत संस्कार से सुसंस्कृत रहता हो। ऋतु ने निदाघ से कहा मैं आपको ब्रह्म का बोध कराने ही आया था। मैंने परमार्थ सारभूत अद्वैत तत्व का दर्शन आपको करा दिया। इस प्रकार के उपदेश के प्रभाव से निदाघ अद्वैतपरायण हो गये और अब वे सम्पूर्ण प्राणियों को अपने से अभिन्न समझने लग गये और उस ब्राह्मण ने यह भी कहा कि जिस प्रकार ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है उसी प्रकार आपको भी इसकी प्राप्ति होगी।

१—अ० पु० ३८०।४१-५४=वि० पु० द्वितीय अंश, अ० १५. के श्लोक से ३५ तक सम्बद्ध स्थल पुरस्सर द्रष्टव्य है।

आप, मैं तथा यह सम्पूर्ण जगत् सब एकमात्र व्यापक विष्णु का ही स्वरूप है जिस प्रकार एक ही आकाश नील, पीत आदि भेद से अनेक रूप वाला दिखायी पड़ता है, उसी प्रकार भ्रान्त दृष्टिवाले पुरुषों को एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देती है।[1]

इस प्रकार सारभूत ज्ञान के प्रभाव से सौवीर नरेश भव-बन्धन से मुक्त हो गये। वस्तुतः ज्ञान स्वरूप ब्रह्म ही इस अज्ञान मय संसार वृक्ष का शत्रु है जिसका निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये।[2]

इस समस्त प्रकरण में. कर्मोत्पत्ति, अविद्या का विवेचन श्रेय का निरुपण तथा अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि जो कुछ भी दृश्यमान् जगत् की विविधता है वह एकमात्र उसी परम ब्रह्म विभु का ही स्वरूप है। भव बन्धन से मुक्ति के लिये ब्रह्म का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

१—अ० पु०, ३८०।५५-६५=वि० पु०, द्वितीय अंश, अ० १६. के श्लोक १ से २२ तक सम्बद्ध स्थल पुरस्सर द्रष्टव्य हैं।

२—अ० पु०, ३८०।६६.

५

पञ्चम अध्याय

यम-गीता

जिस प्रकार अग्निपुराण में श्रीमद्भगवद्गीता[1] की विषय-सामग्री को सार-भूतरुप में प्रस्तुत किया गया है उसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण[2], कठोपनिषद्[3] एवं महाभारत[4] में यमगीता के सारभूत नाचिकेता का उपाख्यान अग्निपुराण में सन्निहित है।[5] कठोपनिषद् के ग्यारह मन्त्र[6] अग्निपुराण में इस प्रसंग को लेकर आनुपूर्वी उद्भूत हैं। अग्निपुराण की यम-गीता में यम और नाचिकेता की कोई कथा नहीं हैं किन्तु यम के नाम की चर्चा करने से इसमें वे सभी विषय समाविष्ट हैं जिनके विषय में महाभारत आदि में चर्चा आई है। यमगीता का पाठ भोग और मुक्ति दोनों का प्रदाता है। इसके अन्तर्गत वेदान्त और योग की दार्शनिक प्रक्रिया प्रतिपादित है। अग्निपुराणोक्त यमगीता के विषय-वस्तु को सम्यक् समझने के लिये तैत्तिरीय ब्राह्मण, कठोपनिषद् एवं महाभारत के सम्बद्ध स्थल अवलोकनीय हैं। अग्रिम पंक्तियों में कपिल, पंचशिख, आदि ऋषियों के उद्गीतों को प्रस्तुत किया गया है जो कि सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार हम उपर्युक्त शैली से ही इस यम गीता का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार मुनि वाजश्रवस् ने सर्ववेदस् यज्ञ किया, उनके नाचिकेता नाम का पुत्र था। दक्षिणा में दी जाती हुई गौओं को देखकर उस नाचिकेता के मन में श्रद्धा उत्पन्न हुई। उसने पिता से पूछा 'मुझे किसे दे रहे हैं ? इस प्रकार उसने दो बार और तीन बार कहा। तब पिता ने उत्तर दिया 'मैं तुम्हें मृत्यु को देता हूँ'। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार पिता के आवेशपूर्ण कठोर आदेश के पश्चात् अशरीर वाणी हुई कि "हे नाचिकेता, तुम मृत्यु के

१—अ० पु०, अ० ३८१.
२—तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३।११।८.
३—कठोपनिषद्, १।३।३-१३.
४—महाभारत, अनुशासनपर्व, ७१.
५—अ० पु०, अ० ३८३.
६—कठोपनिषद, १।३।३-१३.

पास जाओ। वे इस समय प्रवास पर होंगे। तुम उनके यहाँ बिना आहार के ही तीन दिनों तक रहना। लौटने पर जब यमराज पूछें कि कुमार तुम कितने समय से यहाँ पर हो, तब तुम बताना कि मेरी तीन रात्रियाँ यहाँ व्यतीत हुई हैं और जब वे पूछें कि 'इन तीन रात्रियों में तुमने क्या खाया'? तो उत्तर देना—'पहली रात में तुम्हारी प्रजाओं को, दूसरी रात में पशुओं को और तीसरी रात में तुम्हारे पुण्यों को खाया है'। इस आकाशवाणी को सुनकर नचिकेता प्रवास में गये हुए मृत्यु के घर गया। वही वह तीन रात निराहार रहा, और लौटने पर यम के द्वारा पूछने पर उसने वही उत्तर भी दिया। इस पर मृत्यु ने प्रणाम कर उसे माँगने के लिए कहा—नचिकेता ने प्रथम वर माँगा कि मैं जीवित ही पिता के पास लौट सकूँ। दूसरा वर माँगने पर इष्टापूर्ति अर्थात् पुण्य कर्मों के सम्बन्ध में पूछा जिसके उत्तर में यम ने नचिकेता को अग्नि का उपदेश दिया। मन्त्र में तीसरा वर देने पर नचिकेता ने मृत्यु से अपचिनो (बचने) का उपाय पूछा।

महाभारत के अनुशासनपर्व (७१ अध्याय) में भी नचिकेतोपाख्यान प्राप्त होता है किन्तु वह कठोपनिषद् के कथानक से पर्याप्त भिन्न है। महाभारत के अनुसार—ऋषि उद्दालक यज्ञ की दीक्षा लेते हैं। उनका पुत्र नचिकेता पिता के आदेश से उनकी सेवा में लग जाता है। यज्ञ नियम के समाप्त होने पर महर्षि (पिता) ने पुत्र से कहा 'आचमन और स्वाध्याय में ध्यानस्थ होने से समिधाएँ, दर्भ, कलश और बहुत सा भोजन मैं नदी के तट पर भूल आया हूँ, उसे ले आओ'। नाचिकेता वही गया किन्तु उन्हें न पाकर वह लौट आया और पिता से कहा कि 'वे सब वस्तुएँ नदी में बह गयीं अतः मुझे नहीं मिल सकीं'। इसे सुनकर क्षुधा, पिपासा और श्रान्ति से क्लान्त उद्दालक मुनि ने पुत्र को शाप देते हुए कहा कि तुम भी यम के पास जाओ मर जाओ। पिता के इस वाग्वज्र से आहत होकर वह पिता की प्रसन्नता के लिए कुछ कहने चला ही था कि निप्राण होकर भूमि पर गिर पड़ा। पिता ने नाचिकेता (नचिकेता) को भूमि पर निष्प्राण होकर गिरा हुआ देखा तो 'हाय मैंने क्या कर डाला' कहते हुए वे दुःख से मूर्छित होकर धराशायी हो गये। इस प्रकार पुत्र के सम्बन्ध में शोक करते हुए दिन का शेष भाग और रात्रि व्यतीत हो गयी।

प्रातः काल उन्होंने देखा कि नचिकेता पुनः जीवित हो रहा है और कुछ समय के पश्चात् वह उठ बैठा। उसके शरीर पर दिव्य प्रतिभा विराजमान हो रही थी। इस अत्यन्त आश्चर्य को देखकर महर्षि ने नचिकेता से पूछा 'क्या

तुमने अपने शुभ कर्मों से लोकों को जीत लिया है, और क्या तुमने दिव्य शरीर प्राप्त कर लिया है ? आश्चर्यान्वित पिता के प्रश्न को सुनकर नचिकेता ने उत्तर दिया। पिता जी ! आपके आदेश का पालन करते हुए मैंने हजारों योजन (८ मील = १ योजन) दूर तक सोने की तरह कान्ति वाली वैवस्वत यम की मनोहर एवं विशाल सभा को देखा है। मुझे सामने आते हुए देखकर वैवस्वत यम ने मुझे आसन देने के लिए आदेश दिया एवं उन्होंने आपके लिए (आपके सम्मान के अनुसार) अर्घ्य आदि पूजा सामग्री से मेरा सम्मान किया। उसके अनन्तर सभी सभासदों से घिरा हुआ उनसे पूजित होता हुआ, मैंने कहा कि मैं आपके राज्य में आया हूँ, मैं जिन लोकों के योग्य हूँ, मुझे वही भेज दीजिए। मेरी प्रार्थना को सुनकर यम ने मुझसे कहा कि हे सौम्य ! तुम मरे नहीं हो तुम्हारे तपस्वी पिता ने इतना ही कहा है कि तुम यम को देखो। अग्नि के समान तपस्वी पिता का कथन असत्य नहीं हो सकता था, अब तुमने मुझे देख लिया है, और तुम्हारे पिता शोक से आकुल हो रहे हैं, अतः तुम लौट जाओ। हे प्रिय अतिथि ! मैं तुम्हारी मनोकामना के अनुरूप और क्या दूँ ? तुम स्वयं इच्छानुसार वर माँगों तब मैंने उससे कहा कि 'मैं आपके यहाँ आया हूँ, जहाँ से लौट कर कोई वापिस नहीं जाता, अब यदि आप मुझे योग्य समझें तो उन लोकों के दर्शन करा दें, जहाँ पुण्यात्मा लोग जाते हैं उसके अनन्तर यमराज ने मुझे घोड़े से युक्त चमकीले रथ पर बैठा कर पुण्यात्माओं के लोकों के दर्शन कराये और बताया कि किन-किन कर्मों के द्वारा इस लोकों को प्राप्त किया जा सकता है और इस प्रसंग में हृष्ट-पुष्ट दूध देने वाली, बछड़े सहित गौ के दान, स्वाध्याय, तप एवं वैतान अग्नि की पूजा का महत्व बताया गया है।

कठोपनिषद् में नाचिकेतोपाख्यान, तैत्तिरीय ब्राह्मण और महाभारत में विद्यमान उपाख्यान की अपेक्षा कुछ परिवर्तित सा मिलता है। ऋषि वाजश्रवस् ने सर्ववेदस् यज्ञ में सर्वस्व दान दे दिया। अत्यन्त बूढ़ी असमर्थ गायें भी दान में दे डाली। पुत्र नचिकेता ने इसे देखा। यह सोच कर कि इन बूढ़ी गौओं के दान से पिताजी को पुण्य के बदले अपुण्य होगा। पिता को इस अपुण्य से बचाने के लिए उसने पिता से कहा कि 'आप मुझे किसे दे रहे हैं'। मोह-आसक्त पिता क्रोधित होकर बोले कि 'मैं तुझे मृत्यु को देता हूँ'। पिता वाजश्रवस् आवेश में कह तो गये किन्तु नचिकेता को मृत्यु के पास जाने को तैयार देखा तो व्याकुल होने लगे। नचिकेता ने पिता को सांत्वना दी, और कर्त्तव्य का स्मरण कराया और इस प्रकार वह मृत्यु के पास चल पड़ा। जब वह यम के पास पहुँचा तब

यम घर पर न थे। नचिकेता ने तीन दिन और तीन रात्रि निराहार रह कर यम की प्रतीक्षा की। बाहर से लौटे हुए यम को जब यह मालूम हुआ कि एक ब्राह्मण बालक अतिथि के रूप में उनके यहाँ आया है, और तीन दिन से भूखा पड़ा है तब उन्हें बड़ी चिन्ता हुई, क्योंकि वह जानते थे कि अतिथि के भूखा रहने से अतिथेय (गृहस्थ) की सभी आशाएँ, कामना, यज्ञ आदि पुण्य और वाणी कूप, तालाब, धर्मशाला आदि बनवाने के कर्मों के शुभ फल नष्ट हो जाते हैं। वे नचिकेता के पास पहुँचे और उसे प्रणाम किया एवं उससे तीन वर माँगनें को कहा। नाचिकेता ने प्रथम वर के रूप में स्वर्ग एवं अमृतत्व प्रदान करने वाली अग्नि विद्या का उपदेश एवं द्वितीय वर के रूप में ज्ञान को माँगा। यम ने प्रथम दो वर देकर एक अतिरिक्त वर भी दिया कि अब से अग्नि नाचिकेता के नाम से पुकारी जायेगी। इस छोटे से बालक की परीक्षा लिए विना यम उसे आत्म विद्या का उप-देश देने को तैयार न थे अतः उन्होंने उसके सामने लौकिक सुख के अनेक प्रलोभन प्रस्तुत किये और उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करने का आश्वासन दिया, किन्तु नाचिकेता विचलित न हुआ। अन्त में यम से उसे आत्म विद्या का भी उपदेश दिया।

कठोपनिषद् की यह कथा तैत्तिरीय ब्राह्मण और महाभारत के कथानक की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और सुसंस्कृत है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में नचिकेता पिछली तीन रात्रियों के भोजन के विषय में पूछने पर उत्तर देता है—कि मैंने पहली रात्रि में तुम्हारी प्रजाओं को, दूसरी रात्रि में तुम्हारे पशुओं की और तीसरी रात्रि में तुम्हारे पुण्य-कर्मों को खाया है। ये उत्तर अत्यन्त क्रोधावेश में भी शिष्ट व्यक्तियों द्वारा नहीं किये जाने चाहिए फिर नाचिकेता तो ज्ञानी है, जो पिता को अपुण्य से बचाने के लिए यम के यहाँ पहुँचा है, उसके मुख से इस प्रकार के वचन नचिकेता के गौरव को गिराते हैं।

इसी प्रकार महाभारत में उद्दालक जो अभी यज्ञ की दीक्षा लेकर आज्ञाकारी पुत्रकी सेवा और सहायता से पूर्ण कर चुके हैं, के मुख से नचिकेता को 'मृत्यु के पास जाओ' से क्रोध पूर्ण वचन उपयुक्त नहीं प्रतीत होते, जबकि उसका अपराध भी कुछ नहीं है। ऐसी स्थिति में निरपराध पुत्र को एक अत्यन्त धार्मिक पिता द्वारा शाप देना पिता को गौरवहीन बताता है।

कठोपनिषद् की कथा में नचिकेता और वाजश्रवस् दोनों का ही गौरव समान रूप से सुरक्षित रखा गया है। यम का स्वरूप भी अत्यन्त श्रद्धास्पद व्यक्ति के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। कठोपनिषद् में नचिकेता का कथानक उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों के अथानक की अपेक्षा अधिक अर्वाचीन प्रतीत होता है।

प्रस्तुत कठ उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा से सम्बन्धित है। इसमें दो अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में तीन-तीन वल्लियाँ हैं। अन्य उपनिषदों की भाँति इस उपनिषद् के अनुसार भी जीवन की सफलता ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति में है। इसके अनुसार ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपने कर्त्तव्यों का समुचित पालन करते हुए भी सांसारिक सुख-भोग के साधनों का त्याग करना पड़ता है। कर्तव्य पालन ही मनुष्य को ब्रह्मज्ञान के द्वार तक पहुँचाता है, एवं मनुष्य जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है। अग्निपुराणकार ने यमगीता के आरम्भ में कपिल, पंचशिख, जनक, ब्रह्मा, जैगीषव्य, देवल एवं सनक जैसे सिद्ध ऋषियों के कथन को अति ही सार रूप में निरुपण कर विषय का प्रतिपादन किया है। यम का कथन है कि स्वयं अस्थिर प्राणी अत्यन्त मोह-वश आसन, शयन, यान, परिधान, ग्रह आदि का उपभोग करना चाहता है।

इस कथन की पुष्टि महर्षि ककिल[1] के उस कथन से होती है, जिसका उल्लेख महाभारत (शान्तिपर्व के अ० २६८,२६९,२७०) में है। इस महाभारत के उपर्युक्त पर्व के २६८वें अध्याय में कपिल का स्यूमरश्मि के साथ यज्ञ की आवश्य-कर्त्तव्यता के निरूपण से सम्बन्धित संवाद निहित हैं और इस संवाद का सार यही है कि ग्रहस्थ और योगकर्म में श्रेष्ठ कौन है। इसी विषय को लेकर समस्त अध्याय अनेक विचारों से ओत-प्रोत हैं अन्ततोगत्वा यही प्रतिपादित किया गया है कि स्वर्ग-प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को यज्ञ करना चाहिए। यज्ञ की उपादान सामग्री के बिना गृहस्थ धर्म के नियम सम्भव नहीं। पुनः २६९ में प्रवृत्ति एवं निवृत्तिविषयक चर्चा उन्हीं दोनों ऋषियों के माध्यम से सम्पन्न हुई है। अन्ततोगत्वा इसी अध्याथ में स्यूमरश्मि ने शास्त्र के आधार पर ही धर्म की प्रवृत्ति का निरुपण किया है जिसके आधार पर ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय बताया गया है। पुनः २७० वें अध्याय में इन्हीं दो ऋषियों ने ब्रह्म-प्राप्ति के उत्तम साधन को लेकर विचार चर्चा हुई है। भगवान् कपिल ने स्पष्ट शब्दों में निष्कर्ष के रूप में यह कहा है कि आनृशंस्य, क्षमा, शक्ति अहिंसा, सत्य, सीधापन, अद्रोह, अनभिमान, तितिक्षा एवं क्षमा, यह सब ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग हैं और विना इनका पालन किये हुए परमगति को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

कपिल के शिष्य पञ्चशिख[2] की चर्चा महाभरत में आयी है। यह पञ्चशिख महाभारतानुसार (शान्तिपर्व २१८।६) कपिल के पुत्र एवं आसुरि के शिष्य थे।

---

१. अ० पु०, ३८२।३.

२. अ० पु०, ३८२।४.

अतः यह पंच-स्रोतों में निष्णात, पाँचरात्र एवं पंचगुण वाले थे, इसलिए इन्हें पंचशिख कहा गया है। अग्निपुराण ने सभी प्राणियों के प्रति समदर्शितत्व, निर्ममत्व एवं अनाशक्ति के सिद्धान्त को पंचशिख के द्वारा मनुष्य के परम श्रेय के रूप में कहलाया है। महाभारत के शान्तिपर्व के २१८ वें अध्याय में पंचशिख ऋषि मिथिला के नृपति जनदेव जनक की सभा में उपस्थित हो नास्तिक मत का निराकण करते हुए शरीर से भिन्न आत्मा की नित्य सत्ता का प्रतिपादन करते हुऐ दिखाये गये हैं। इसके अतिरिक्त इसी शान्तिपर्व (३१९/६-१५) में जरा एवं मृत्यु के निवृत्ति के विषय में जनक के प्रति इनका उपदेश अंकित है।

गंगा एवं विष्णु[1] के द्वारा निरूपित गर्भावस्था से आरम्भ कर जन्म बाल्या-अवस्था में होने वाली वेंदनाओं के ज्ञान को भी मनुष्य का परमश्रेय कहा गया है। इस कथा के स्रोत का पूर्वोक्त दो ऋषियों की तरह कोई पता नहीं चलता।

अग्निपुराण ने आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक दुखों के आदि और अन्त की प्रतिक्रिया को मनुष्यों का चरम लक्ष्य माना है और उनके इस कथन का स्रोत महाभारत है। वैसे अनेक जनक हुऐ लेकिन यमगीता से सम्बन्धित जनक[2] का निरुपण यहाभारत के सभापर्व के ८ वें अध्याय में हुआ है जहाँ यम-राज की सभा में उपस्थिति प्रदर्शित है।

महाभारत के शान्तिपर्व के अनेक अध्यायों में जनक के साथ सम्पन्न हुई अनेक दार्शनिक तत्वों की चर्चा है। जिनमें से ३०२ अध्याय में क्षर-अक्षर तत्व का निरुपण एवं उसके ज्ञान से मुक्ति का उपाय प्रदर्शित है। ३०५ वें अध्याय में प्रकृति-पुरुष के विषय में जनक के द्वारा की गई शंका और वशिष्ठ के द्वारा उसका समाधान निरुपित है। ३०६ अध्याय में योग एवं सांख्य के स्वरुपका वर्णन निहित है। ३०७ वें अध्याय में प्रकृति-पुरुष का विवेचन प्रस्तुत है। ३०८ वें अध्याध्य में जीव में एकत्व एवं नानात्व की चर्चा की गई है। ३१० वें अध्याय में अध्यात्मचिन्तक के द्वारा सांख्य, योग, चतुर्विशतितत्व एवं ९ प्रकार के सर्गों का निरुपण हुआ है। ३१३ वें अध्याय में आध्यात्मिक, आधि भौतिक एवं आधिदैविक तत्वों का वर्णन एवं सात्विक, राजस एवं तामस भावों की चर्चा हुई है। ३१४ वाँ अध्याय सात्विक, राजस एवं

१— अ० पु०, ३८२।५.

२—अ० पु०, ३८२।६.

तामस प्रकृतियुक्त व्यक्तियों की गति का वर्णन याज्ञवल्क्य और जनक के संवाद के माध्यम से करता है। इसी प्रकार ३१५ वें अध्याय में प्रकृति और पुरुष के विवेक एवं उसके फल की सामान्य चर्चा हुई है। ३१६ वें अध्याय में इन्हीं दो व्यक्तियों के माध्यम से योग का वर्णन और उसके साधन के द्वारा परमब्रह्म की प्राप्ति का निर्देश उपलब्ध होता है। ३१७ वाँ अध्याय विभिन्न मतों से प्राणीं के उत्करण का फल बताता हुआ मृत्यु सूचक लक्षणों की चर्चा करता है। ३१८ वें अध्याय में जीव और परमात्मा के ऐक्य के ज्ञान का उपदेश उपर्युक्त संवाद के माध्यम से हुआ है।

अग्निपुराणकार ने जनक के कथन के उदाहरण के अन्तर ब्रह्मा[1] के उद्गीत को उपस्थित किया है। ब्रह्मा के विषय में यह कहा गया है कि दो अभिन्न वस्तुओं में भेद करने वाला जो परमात्मा का पुरातन प्रत्यय (निश्चय) है, वह उनकी शान्ति वाले मनुष्यों का परमश्रेय माना गया है। महाभारत में ब्रह्मा के अनेक कृत्यों की चर्चा हुई है इनमें से कतिपय स्थल ही इस यमगीता के विषय के स्पष्टीकरण में समर्थ हैं।

द्रोणपर्व (अ० ५३।१७-१८) में इनके शरीर से मृत्यु की उत्पत्ति बताई गई है इसी अध्याय में (अ० ५३।२१,२२) आगे चलकर ब्रह्मा ने मृत्यु को जगत् के संहार का काम सौंप दिया है इतना ही नहीं अपितु उसे तपस्या से प्रसन्न होकर वर भी दिया है (अ०, ५४।३३-३६)। इस स्थल पर अग्निपुराण ने संकेतित ब्रह्मा के किसी कृत्य पर कोई प्रकाश नहीं डाला।

जैगीषव्य[2] ने ऋग्, यजुः एवं सामसंज्ञक कर्त्तव्य कर्मों को करने की सराहना की है। इसका निष्पादन आसक्तिरहित हो कल्याण के लिए सम्भावित है। महाभारत में इनके कथन का स्पष्टीकरण शान्तिपर्व में हुआ है। इन्होंने असित एवं देवल मुनि को समत्व का उपदेश किया है।

महाभारत में (आदि. ६६।२६) देवल को प्रत्यूष् नामक वसु का पुत्र कहा गया है। यह महर्षि धौम्य के अग्रज देवविद्या के पारङ्गत ऋषि थे जिन्हें जनमेजय के सर्पसत्र में सदस्य बनाया (आदिपर्व ५३।८, १८२।२) था। अग्निपुराणकार ने देवल[3] के कथन को उद्घृत करते हुए कहा है कि मनुष्यों का

१—अ० पु०, ३७२।७.

२—अ० पु०, ३८२।८.

३—अ० पु०, ३८२।९.

परश्रेय वह है जिसमें वह अपने सब प्रकार के कार्यों की इच्छा का विनाश करता है और ऐसी ही हानि सुख की हेतु है।

अग्नि पुराणकार ने सनक के उद्गीत[1] की चर्चा इसी यमगीता के अन्तर्गत की है जिसमें यह प्रतिपादित है कि काम के त्याग से जो वैशिष्ट्य होता है वही सुख है, वही ब्रह्म है और वही परम पद है। कामना रखने वालों को ज्ञान नहीं होता। महाभारत (शान्तिपर्व अ० २२२) ने सनक के स्थान पर सनतकुमार की चर्चा की हैं, जिसमें सनतकुमार के द्वारा ऋषियों को भगवत् स्वरूप का उपदेश दिया गया है। महाभारत के इसी अध्याय के कतिपय श्लोक अग्निपुराण के उस तथ्य के परम पोषक प्रतीत होते हैं :—

प्रकृतौ च विकारे च न मे प्रीतिर्न च द्विषे,
द्वेष्टारं च न पश्यामि यो मामद्य ममायते।
नोर्ध्वंनावाङ् न तिर्यक् च न क्वचिच्छक्र कामये,
न हि ज्ञेये न विज्ञाने न ज्ञाने कर्म विद्यते॥

(शान्तिपर्व, २२२।३१, ३२)

अग्निपुराण ने कुछ कथन बिना किसी ऋषि का नाम दिये हुये अंकित किया है। जिनमें से एक अत्यन्त रोचक है। एक स्थल में यह कहा गया है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति वाले कार्यों को करना चाहिए और ऐसा करना समग्र श्रेयस् का आपादक है किन्तु कर्म में निष्कर्मता का होना अत्यन्त आवश्यक है यही ब्रह्म हैं और यही नित्य है। जिस पुरुष ने ज्ञान प्राप्त कर लिया है वह सत् पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ हैं। वह विष्णु संज्ञा वाले अव्यक्त ब्रह्म के साथ कोई भी भेद नहीं रख पाता। ऐसा व्यक्ति जो भी मन से इच्छा करता है, वह ज्ञान, विज्ञान आस्तिक्य, सौभाग्य और रूप आदि सबको यह प्राप्त कर लेता है। अन्ततोगत्वा विचारों का मन्थन करते हुये पुनः अग्निपुराणकार यह कहते हैं कि भगवान् विष्णु के समान अन्य कोई भी ध्येय नहीं है और उपवास से बढ़कर कोई तप नहीं है। इतना ही नहीं, आरोग्य से बढ़कर उत्तम धन नहीं और भागीरथी गंगा से बढ़कर और कोई नदी नहीं। जगत् के गुरु विष्णु को छोड़कर अन्य कोई भी बान्धव नहीं। नीचे-ऊपर और आगे सर्वत्र देह, इन्द्रिय, मन और मुख में हरि विद्यमान हैं ऐसा स्मरण करते हुए जो प्राणों को छोड़ता है वह हरि हो जाता है। वही ब्रह्म है और वही सब कुछ है जिसके अन्दर इस प्रकार की भावना है। आनन्द स्वरूप भगवान् विष्णु सभी के हृदय में स्थित है और यह परम ब्रह्म को सरलता से

१—अ० पु०, ३८२।१०.

ग्रहण नहीं किया जा सकता न ही सरलता से समझा जा सकता है। कुछ लोग यज्ञेय और यज्ञ पुरुष को परम पुरुष कहना चाहते हैं तथा कुछ लोग भगवान् विष्णु को, कुछ लोग शंकर को, कुछ लोग ब्रह्मा को इतना ही नहीं कुछ लोग तो इन्द्र आदि के नाम के द्वारा ईश्वर को बताया करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ चन्द्रमा को एवं कुछ काल को, ईश्वर कहते हैं। कुछ लोगों ने तो ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त समस्त जगत् को विष्णु कहा है और यही विष्णु परम् ब्रह्म है जहाँ से पुनः लौटना नहीं होता और इसकी प्राप्ति स्वर्ग आदि महादानों से, पूर्ण तीर्थों में स्नान करने से, ध्यान, व्रतों, पूजा और धर्म के शरण से प्राप्त होती है।[1]

आत्मा को 'रथी' और शरीर को 'रथ', बुद्धि को 'सारथि' और मन को 'लगाम' समझना चाहिए। विवेकी पुरुष इन्द्रियों को 'अश्व' कहते हैं, और विषयों को उनके मार्ग तथा शरीर, इन्द्रिय और मन सहित आत्मा को 'भोक्ता' कहते हैं। जो बुद्धि रूप सारथि अविवेकी होता है, जो अपने मनरूपी लगाम को कसकर नहीं रखता, वह उत्तम पद को (परमात्मा को) नहीं प्राप्त होता। इसके विपरीत वह संसार रूपी गर्त में गिरता है। परन्तु जो विवेकी होता है और मन को नियन्त्रण में रखता है, वह उस परम पद को प्राप्त होता है, जिससे उसका पुनः जन्म नहीं हो पाता। जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धि रूप सारथि से सम्पन्न और मनरूपी लगाम को नियन्त्रण में रखने वाला होता है, वही संसार-रूपी मार्ग को पार करता है और वही विष्णु का परम पद है। इन्द्रियों की अपेक्षा उनके शब्दादि विषय पर हैं, विषयों से परे मन हैं, मन से परे बुद्धि से परे महान् एवं आत्मा (महत्तत्त्व) है, महत्तत्त्व से परे अव्यक्त (मूल प्रकृति) है और अव्यक्त से परे पुरुष (परमात्मा) है। पुरुष से परे कुछ भी नहीं है, वही सीमा है और वही परमगति है। सम्पूर्ण भूतों में छिपी हुई यह आत्मा प्रकाश में नहीं आती। सूक्ष्मदर्शी पुरुष अपनी तीव्र एवं सूक्ष्म बुद्धि से ही उसे देख पाते हैं। विद्वान पुरुष के वाणी को मन में और मन को विज्ञानमयी बुद्धि में लीन करना चाहिए। इसी प्रकार बुद्धि को महत्तत्त्व में और महत्तत्त्व को शान्त आत्मा में लीन करना उचित है।[2]

"यम नियमादि साधनों से ब्रह्म और आत्मा की एकता को जानकर मनुष्य

१—अ० पु०, ३८२।११-१२ (अ).

२—अ० पु०, ३८२।२२ (आ)—३० (अ)=कठोपनिषद्, प्रथम अध्याय, तृतीय वल्ली, ३—१३.

सत्व स्वरूप ब्रह्म हो जाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम कहलाते हैं। नियम भी पाँच ही हैं—शौच, संतोष, उत्तम तप, स्वाध्याय और ईश्वर पूजा। बैठने की प्रक्रिया का नाम 'आसन' है; उसके 'पद्मासन' आदि कई भेद हैं। प्राण वायु को जीतना 'प्राणायाम' है। इन्द्रियों का निग्रह 'प्रत्याहार' कहलाता है। एक शुभ विषयम जो चित्त को स्थिरतापूर्वक स्थिर करता है, उसे बुद्धिमान् पुरुष 'धारणा' कहते हैं। एक ही विषय में बार-बार धारणा करने का नाम 'ध्यान है। मैं ब्रह्म हूँ—इस प्रकार के अनुभव होने को 'समाधि' कहते हैं। जैसे घड़ा फूट जाने पर घटाकाश, मठाकाश अभिन्न (एक) हो जाता है, उसी प्रकार मुक्त जीव ब्रह्म के साथ एकीभाव को प्राप्त होता है—वह सत्स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है। ज्ञान से ही जीव अपने को ब्रह्म मानता है, अन्यथा नहीं। अज्ञान और उसके कार्यों से मुक्त होने पर जीव अजर-अमर हो जाता है''।[1]

यमगीता का चरम लक्ष्य जीवन और मृत्यु की समस्या को नाचिकेतस और यम के संवाद के माध्यम से सुलझाना रहा है। यम इस रहस्य का अन्ततोगत्वा उद्घाटन कर देता है कि जीव का सांसारिक चक्र के साथ ऐक्य की अनुभूति ही अन्तिम मोक्ष की व्यवस्थापिका है।

१—अ० पु०, ३८२।३०-३६.

षष्ठ अध्याय

गीता सार की सामग्री का मूल्यांकन

अग्निपुराण का ३८१वाँ अध्याय श्रीमद्भगवद्गीता के सार को प्रस्तुत करता है। समस्त अध्याय में ५८ श्लोक हैं। इनमें से कतिपय श्लोक गीता के भिन्न-भिन्न अध्यायों से आनुपूर्वी उद्धृत हैं। कुछ श्लोक तो उसके भावानुवाद हैं तथा कुछ सारभूत भी हैं। अग्निपुराणकार ने अद्वैत ब्रह्म के निरूपण के अनन्तर वैष्णव एवं भागवत धर्म के सिद्धान्तों को गीता सार के माध्यम से उपस्थित किया है। अग्निपुराण के इस अध्याय के प्रथम श्लोक[1] के पारायण से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमद्भगवद्गीता की तरह अनेक गीतायें उस काल में प्रचलित थीं जिनमें से श्रीमद्भगवद्गीता और यमगीता की सामग्री का साररूप से उल्लेख इस पुराण में हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता का स्रोत महाभारत का भीष्मपर्व है। इस पर्व के २५ से ४२ अध्याय गीता के १८ अध्यायों का अक्षरशः निरूपण करते हैं। इतिहासकारों की दृष्टि से भगवद्गीता का समय ईसा से प्रथम या द्वितीय शतक पूर्व माना जाता है।[2]

इस स्थल में चर्चा का विषय भोग और मोक्ष है अतएव इसका श्रीगणेश आत्मा के अजरत्व, अमरत्व एवं अविनाशित्व के प्रसंग से होता है। विद्वज्जन मृत और अमृत व्यक्ति के विषय में किंचित् मात्र भी शोक नहीं करते क्योंकि आत्मा तो अज और नित्य है। शरीर के नष्ट होने पर भी यह नष्ट नहीं होता— 'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे' ॥ (गीता, २।२०)। भगवद्-भक्ति की महत्ता को व्यक्त करता हुआ गीता का यह कथन सर्वथा सत्य है कि जो व्यक्ति मन सहित इन्द्रियों को वश में करके भगवत्-परायण न होने के कारण मन के द्वारा विषयों के चिन्तन में तल्लीन हो जाता है और तब विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है और आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से सम्मोह की उत्पत्ति होती है और इसी सम्मोह या अविवेक के कारण स्मरणशक्ति भ्रष्ट हो जाती है और स्मृति के भ्रंश से बुद्धि या

१—गीतासारं प्रवक्ष्यामि सर्वगीतोत्तमंमतम्। अ० पु०, ३८१।१.

2—Majumdar, R.C. : The Age of Imperial Unity, p. 440

ज्ञान शक्ति का विनाश हो जाता है। अन्ततोगत्वा बुद्धि के विनाश होने से पुरुष का विनाश हो जाता है।[1]

अग्निपुराणकार ने गीता के इस उपर्युक्त कथन के अतिरिक्त कुछ अपने भी विचार इस स्थल में जोड़ दिये हैं, यथा-सत्संग के कारण दुष्टसंगताजन्य दोष का विनाश हो जाता है। अतएव जो मोक्ष का इच्छुक है उसको यह अवश्य करना चाहिए। इसी बात को अन्य रूप से स्पष्ट करता हुआ अग्निपुराणकार कहता है कि कामत्याग से आदमी आत्मनिष्ठ होता है और उसी को स्थिरप्रज्ञ कहा जाता है।[2] गीता में स्थिरप्रज्ञ के स्थान पर स्थितप्रज्ञ शब्द का प्रयोग किया गया है और उसकी परिभाषा बताते हुए भगवान् कृष्ण ने कहा है जिस काल में मनुष्य मन में स्थित सम्पूर्ण कामना को त्याग देता है उस काल में आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट हुआ व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहलाता है।[3] इसी प्रसंग से सम्बन्धित तथ्य को व्यक्त करते हुए भगवान् कृष्ण अर्जुन की इस प्रकार योगी और सामान्य प्राणी में पार्थक्य दिखाते हैं। उनका कहना है कि सम्पूर्ण प्राणियों के लिए जो रात्रि है उसमें नित्य, शुद्ध, बोधस्वरूप परमात्मा में लीन संयमी या योगी पुरुष जागता है और जिस नाशवान्, क्षणभंगुर सांसारिक स्वरूप रात्रि में सभी प्राणी (भूत) जागते हैं ऐसी रात्रि तत्वज्ञ मुनि को मानी गयी है।[4] अग्निपुराणकार इस प्रसंग को यहीं छोड़ कर्मयोग के विषय के निरूपण में व्याप्त हो जाता है। उसके अनुसार जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार चलाये हुए सृष्टिचक्र के अनुसार नहीं चलता उसका जीवन व्यर्थ ही है किन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही प्रीतिवाला और आत्मा में ही सन्तुष्ट होने वाला है उसके लिये कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है क्योंकि इस संसार में उस पुरुष को किये जाने से भी कोई प्रयोजन है और न किये जाने से भी कोई प्रयोजन है, कहने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण भूतों से कोई भी स्वार्थपरक सम्बन्ध नहीं है। तथापि उसे लोकहितार्थ कर्म करना पड़ता है।[5] गुण विभाग और कर्म विभाग के तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी पुरुष-गुण-गुण में ही रहते हैं—ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता।[6] त्रिगुणात्मक,

---

१—अ० पु०, ३८१।३, ४=गीता, २।६२, ६३.
२—अ० पु०, ३८१।४, ५.
३—गीता, २।५५.
४—अ० पु०, ३८१।५, ६=गीता, २।५६.
५—अ० पु०, २८१।६, ७=गीता, ३।१७, १८.
६—अ० पु०, ३८१।७, ८=गीता, ३।२८.

सत्व, रज एवं तम स्वरूपात्मिका माया के पाँच महाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, दस इन्द्रियों और शब्द आदि पाँच विषय के समुदाय का नाम गुण विभाग है और इनकी परस्पर की चेष्टाओं का नाम कर्म विभाग है। उपर्युक्त गुण विभाग और कर्म विभाग से आत्मा को पृथक् समझना ही तत्वज्ञता है। अग्निपुराणकार ज्ञान के महत्व का प्रतिपादन करते हुए गीता के माध्यम से यह निरूपण करते हैं कि कितना ही पापी व्यक्ति क्यों न हो वह ज्ञान रूप नौका द्वारा समस्त पापों से तर जायेगा, जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है उसी प्रकार ज्ञान रूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों का विनाश कर डालती हैं।[१] इस प्रकार ज्ञान कर्म के संन्यास योग का निरूपण कर निष्काम कर्मयोग की चर्चा करते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं कि देहाभिमानियों द्वारा यह जटिल यौगिक प्रक्रिया कठिन है पर निष्काम कर्मयोग द्वारा सुगम है क्योंकि जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्याग करता है वह पुरुष कमल पत्र के समान जल की तरह है वह पाप से लिप्त नहीं होता।[२] आत्म-संयम योग की चर्चा करते हुए समदर्शी की परिभाषा को गीता ने बड़े उत्तम ही ढंग से व्यक्त किया है। उसके अनुसार अपने में समस्त प्राणियों को स्थित और समस्त प्राणियों में अपने को स्थित देखता है तथा जिसकी आत्मा योग से युक्त है वास्तव में वही व्यक्ति समदर्शी है।[3] कोई शुभ कर्म करने वाला दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। कभी-कभी वही योग-भ्रष्ट पुरुष शाश्वत लोकों में रहकर पुनः शुद्ध आचरण वाले व्यक्ति के घर में जन्म लेता है क्योंकि कर्म के फल की भी एक मर्यादा होती है।[४] सत्व, रजस् एवं तमस् से युक्त माया बड़ी दुस्तर है परन्तु जो व्यक्ति उस परम तत्व को निरन्तर भजते रहते हैं वे इस माया को पार कर जाते हैं।[५] उस परम तत्व का सेवन करने वाले या भजने वाले चार प्रकार के ही व्यक्ति—अर्थार्थी (सांसारिक पदार्थों के लिये भजने वाला), आर्त (संङ्कटनिवारण के लिये भजने वाला), जिज्ञासु (मेरे को यथार्थ रूप से जानने की इच्छा से भजने वाला) और ज्ञानी हैं।[६]

१—अ० पु०, २८१।८, ९=गीता, ४।३६, ३७.
२—अ० पु०, ३८१।९, १०=गीता, ५।१०.
३—अ० पु०, २८१।१०, ११=गीता, ६।२९.
४—अ० पु०, ३८१।११, १२=गीता, ६।४०, ४१.
५—अ० पु०, ३८१।१२, १३=गीता, ७।१४.
६—अ० पु०, २८१।१३, १४=गीता, ७।१६.

ज्ञान-विज्ञान योग की चर्चा के अन्तर्गत अक्षर-ब्रह्म-परक योग के प्रतिपादित प्रसंग में ब्रह्म के स्वरुप का निरुपण करते हुए गीताकार के शब्दों में उसे परम अक्षर अर्थात् कभी नाश न होने वाला, स्वस्वरुप तथा अध्यात्म नाम से कहा गया है तथा भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला शास्त्र विहित यज्ञ-दान और होम आदि के निमित्त जो द्रव्य आदि का त्याग है वह कर्म नाम से कहा गया है। उत्पत्ति एवं विनाश धर्म वाले सभी पदार्थ अधिभूत के अन्तर्गत आते हैं किन्तु हिरण्यमय पुरुष अधिदेव है और भगवान् विष्णु ही इस शरीर में अधियज्ञ के रुप में हैं और जो व्यक्ति अन्तकाल में उस परम तत्व का स्मरण करते हुये शरीर त्याग करते हैं वे निसन्देह उसी तत्व को प्राप्त हो जाते हैं, क्योकि मनुष्य अन्तकाल में जिस-जिस भाव का स्मरण करते हुए शरीर को त्यागते हैं वे उसको ही प्राप्त होते हैं[1]। वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकाल में भी योग-बल से भृकुटि के मध्य में प्राण को अच्छी प्रकार स्थापित कर फिर निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्य स्वरूप परमात्मा को ही प्राप्त होता है।[2] जो पुरुष ओंम् इस प्रकार के एक अक्षर रुप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ उसके अर्थपरक परमात्म-रूप का चिन्तन करते हुए शरीर को त्याग करता है वह परमगति को प्राप्त होता है।[3] अग्निपुराणकार का यह कथन है कि ब्रह्मा से स्तम्बं पर्यन्त सभी विभूतियाँ भगवान् की ही हैं।[4] इसके अतिरिक्त सभी प्राणी उस परम परमात्मा के अंश से ही उत्पन्न हुए तथा सभी प्राणी परमात्मा के अंशभूत है जिसका ज्ञान प्राप्त करके ही व्यक्ति मुक्ति हो जाता हैं।[5]

भक्ति योग की चर्चा के अनन्तर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभागपरक योग का निरूपण करते हुए शरीर को क्षेत्र कहा गया है जैसे क्षेत्र में बीजों का उनके अनुरूप फल समय पर प्रगट होता है उसी प्रकार किये गये कर्मों के संस्कार रूप बीजों का फल समय पर प्राप्त होता है अतएव शरीर का क्षेत्र नाम सार्थक ही है और जो इस शरीर को अच्छी प्रकार जानता है उसे क्षेत्रज्ञ कहा गया है। क्षेत्रज्ञ से तात्पर्य आत्मा या पुरुष का है। जो व्यक्ति क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को अच्छी तरह

१—अ० पु०, ३८१।१४-१७ = गीता, ८।३,६.
२—अ० पु०, ३८१।१७ = गीता, ८।१०.
३—अ० पु०, ३८१।१८ = गीता, ८।१३.
४—अ० पु०, ३८१।१८ = गीता, ८।१३.
५—अ० पु०, ३९१।१९.

समझ लेता है वह परम तत्व के ज्ञान को समझ लेता है।[1] इसी क्षेत्र का विस्तृत विवरण देते हुए गीता में कहा गया है कि पंचमहाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूल प्रकृति, पंचज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकमेन्द्रिय, पाँचो इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषय, इच्छा, द्वेष, सुख-दुख, स्थूल देह का पिण्ड (संघात), चेतना और धैर्य ये सब समुदित रूप में क्षेत्र कहलाते हैं।[2] ज्ञान की सीमा का निरुपण करते हुए कहा गया है कि श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दम्भ का न होना, अहिंसा, क्षमा, सरलता, श्रद्धा, भक्ति सहित आचार्य की सेवा, व्राह्य-आभ्यन्तर शुद्धि, अन्तःकरण की स्थिरता मन और इन्द्रिय सहित शरीर का विग्रह, इन्द्रियों का विषयों के प्रति वैराग्य अहंकार का अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोगआदि में दुःख दोषों का बारम्बार विचार करना तथा पुत्र, स्त्री, गृह, धन आदि के प्रति आसक्ति का अभाव, ममता का न होना तथा प्रिय-अप्रिय वस्तु में सदा चित्त की समता, इष्ट-अनिष्ट के प्राप्त होने पर शोक आदि विकारों का न होना और उस परम व्रह्म में एक भाव से स्थिति, रूप ध्यान योग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति (केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को ही अपना स्वामी मानते हुए स्वार्थ और अभिमान का त्याग करके श्रद्धा और भाव के सहित, परम प्रेम से भगवान् का निरन्तर चिन्तन करना अव्यभिचारिणी भक्ति है) तथा एकान्त एवं शुद्ध देश में रहने का स्वभाव, विषयसक्त मनुष्यों के समुदाय में प्रेम का न होना तथा अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति और तत्वज्ञान के अर्थ रुप परमात्मा को सर्वत्र देखना आदि ही ज्ञान स्वरुप है और इसमें विपरीत वस्तु अज्ञान कहलाती है।[3] गीता के उपदेशक भगवान् कृष्ण इतना कहकर ही सन्तुष्ट न हुए अपितु उन्होंने अन्य तथ्यों को भी समक्ष रखा। उन्होंने कहा कि जो वस्तु ज्ञेय है तथा जिसको जान कर मनुष्य परमानंद को प्राप्त होता है वह वस्तुतः वर्णनीय है उसे ही अनादि, परम व्रह्म एवं अकथनीय होने से न तो सत् कहा जाता है और न ही असत्। वह सब ओर से हाथ पैर वाला और सब ओर से नेत्र मुख और सिर वाला और सब ओर से श्रोत्र वाला है क्योंकि वह संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है। यद्यपि वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय को जानने वाला है किन्तु सब इन्द्रियों से रहित है। वह आसक्तिरहित एवं गुणों से परे होता हुआ भो अपनी योगमाया से सबका धारण एवं पोषण करने वाला एवं

१—अ० पु०, २८१।२०. =गीता, १३।१,२.
२—अ० पु०, २८१।२१,२२= गीता, १३।५,६.
३—अ० पु०, २८१।२३-२७=गीता, १३।७-११.

सबके गुणों का भोक्ता है। वह परमात्मा चल एवं अचल प्राणियों में निहित है और वह स्वयं चल-अचल रूप है सूक्ष्म होने से अविज्ञेय, अतिसमीप तथा अति-दूर में स्थित है। विभाग रहित होने पर भी एक रूप से अकाश के सदृश परिपूर्ण हुआ भी चराचर सम्पूर्ण भूतों में पृथक्-पृथक् के सदृश स्थित प्रतीत होता है तथा वह जानने योग्य परमात्मा विष्णु रुप से भूतों को धारण-पोषण करने वाता और रुद्र रुप से संहार करने वाला तथा ब्रह्म रुप से सबको उत्पन्न करने वाला है। वह ब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति एवं माया से अति परे कहा गया है। वह परमात्मा बोधस्वरुप और जानने योग्य है एवं तत्वज्ञान प्राप्त होने वाला एवं सबके हृदय में स्थित है।[१] उस पर-पुरुष परमात्मा को मनुष्य जन शुद्ध सूक्ष्म-बुद्धि के ध्यान द्वारा देखते हैं। कुछ लोग ज्ञान योग के द्वारा तथा कुछ लोग निष्काम कर्म-योग के द्वारा उसे देखते हैं। परन्तु मन्द बुद्धि वाले पुरुष इस प्रकार के स्वरूप का ज्ञान न रखते हुए भी दूसरे पुरुषों से सुन कर ही उपासना करते हैं और उन पुरुषों के कथनानुसार ही श्रद्धा सहित तत्पर ही वे साधना भी करते हैं और वे सुधिपरायण पुरुष भी मृत्यु एवं संसार को पार कर जाते हैं।[२]

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभागपरक योग के अनन्तर गुणत्रय विभाग के अन्तर्गत भगवान् कृष्ण ने सत्व गुण से ज्ञान, रजो गुण से लोभ तथा तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान की उत्पत्ति बताई है।[३] गुणातीत या निर्गुण की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जो साक्षी के सदृश हो, गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुण में वसते हैं ऐसा समझते हुए जो सच्चिदानंद परमात्मा में एक ही भाव से स्थिर रहता है तथा उस भाव में स्थित रहता हुआ उससे चलायमान नहीं रहता और जो निरन्तर आत्मभाव में स्थित हुआ सुख-दुख में समान समझने वाला, भित्ति, पत्थर और स्वर्ण में समदृष्टि वाला धैर्यवान् है जिसके लिए प्रिय और अप्रिय बराबर तथा जो निंदा और स्तुति को समान रुप से समझता है। जो मान और अपमान में सम है, मित्र एवं शत्रु के पक्ष में भी समान है तथा सम्पूर्ण आरम्भों में कर्तृत्व के अभिमान से रहित होता हुआ पुरुष गुणातीत कहलाता है।[४]

१— अ० पु०, ३८१।२८-३३ = गीता, १३।२-७.
२— अ० पु०, ३८१।३४,३५ = गीता, १३।२४,२५.
३— अ० पु०, २८१।३६ = गीता, १४।७.
४— अ० पु०, ३८१।३७ = गीता, १३।२५,२७.

पुरुषोत्तम योग के के अन्तर्गत उस आदि पुरुष की तुलना अश्वत्थ वृक्ष से की कई है। अन्तर केवल इतना है कि अश्वत्थ का मूल नीचे होता है और शाखायें ऊपर किन्तु यह अव्ययपुरुष उर्ध्वमूल तथा अधः शाखा वाला है। इस सनातन पुरुष के वेद ही पत्ते हैं। इस प्रकार जो ऐसे तत्व को समझता है वही वस्तुतः वेद के तात्पर्य को समझने वाला है।[1]

आदि पुरुष नारायण वासुदेव ही नित्य, अनन्त तथा सबके आधार पर होने के कारण और सबसे ऊपर नित्यधाम में सगुण रूप में वास करने के कारण उर्ध्वनाम से कहे गये हैं। वह मायापति, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही इस संसार रूप वृक्ष का कारण है इसलिये उस संसार वृक्ष को "उर्ध्वमूलवाला" कहा गया है उस आदि पुरुष परमेश्वर से उत्पत्ति वाला होने के कारण तथा नित्यधाम से नीचे ब्रह्मलोक में वास करने के कारण हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्मा को परमेश्वर की अपेक्षा अधः कहा है और वही इस संसार का विस्तार करने वाला होने से इसकी मुख्य शाखा है इसलिये इस संसार वृक्ष को "अधः शाखावाला" कहा जाता है। इस वृक्ष का मूल कारण परमात्मा अविनाशी है तथा अनादिकाल से इसकी परम्परा चली आती है इसलिये इस संसार वृक्ष को "अविनाशी" कहते हैं। इस वृक्ष की शाखा रूप ब्रह्मा से प्रकट होने वाले और यज्ञादिक कर्मों के द्वारा इस संसार वृक्ष की रक्षा और वृद्धि करने वाले एवं शोभा को बढ़ाने वाले होने से वेद "पत्ते" कहे गये हैं। भगवान् की योगमाया से उत्पन्न हुआ यह संसार क्षणभङ्गुर, नश्वर और दुःख रूप है। इसके चिन्तन को त्याग कर केवल परमेवश्र का ही नित्य-निरन्तर अनन्य प्रेम से चिन्तन करना 'वेद के तात्पर्य को जानना' है। चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से मानव भी एक प्रकार का वृक्ष है जिसका मूल (मस्तिष्क) ऊपर तथा शाखायें (हस्त और पाद) नीचे की ओर विद्यमान् हैं।

दैव एवं आसुरी सम्पद्

दैव एवं आसुर सम्पद् की चर्चा के प्रसंग में अग्निपुराणकार ने गीता के ही शब्दों को दोहराया है। उसके अनुसार इस संसार में दो प्रकार के भूतसर्ग-दैव और असुर-माने गये हैं। मनुष्यों में उपर्युक्त दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं। अग्नि पुराण ने गीता से दैवी सम्पदा प्राप्त पुरुष के लक्षण विस्तार से न कह कर अहिंसा[2] पद से ही उन समस्त गुणों का निर्देश कर दिया है किन्तु उन समस्त

१—अ० पु०, ३८१।३८=गीता, १५।१.

२—अ० पु०, ३८१।३९=गीता, १६।२.

गुणों को श्रीमद्भगवद्गीता से समझ लेना आवश्यक होगा। गीता के अनुसार दैवी सम्पदा प्राप्त पुरुष के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य एवं क्रोध का अभाव, त्याग, शान्ति, अपिशुनता, प्राणियों के प्रति दया, अलोलुपता, कोमलता, लज्जा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता किसी के प्रति शत्रुता का व्यवहार न करना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव आदि लक्षण होते हैं (गीता, १६।२,३)। इसी प्रकार आसुरी सम्पदा के अन्तर्गत उससे युक्त पुरुष के लक्षण के प्रसंग में अग्निपुराणकार ने उसके आभ्यन्तर विद्यमान केवल अशौच एवं अनाचार इन दो गुणों का ही निर्देश किया है।[1] गीता ने आसुरी-सम्पदाप्राप्त पुरुषों के लक्षणों को बताते हुए उनमें दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य एवं अज्ञान को भी सम्मिलत कर लिया है। इसके अतिरिक्त गीता ने आसुरी सम्पत्-प्राप्त व्यक्ति में कर्त्तव्यकार्य में प्रवृत्त होना एवं अकर्त्तव्य कार्य से निवृत्त होना ये और दो लक्षण भी बतलाये हैं (गीता, १६।३,७)। गीता के अनुसार दैवी सम्पदा मुक्ति के लिये एवं आसुरी सम्पदा सृष्टि में आसक्ति के लिये है (गीता (१६।५)। गीता के ही शब्दों को प्रस्तुत करते हुए अग्निपुराणकार ने कहा है कि काम, क्रोध एवं लोभ ये तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं. जिससे अपना विनाश होता है अतएव इन तीनों का त्याग ही सर्वथा उचित है।[2] श्रद्धात्रय विभाग परकयोग के अन्तर्गत अग्निपुराणकार ने श्रद्धा और आहार के समान ही यज्ञ, तप और दान के भी सात्विक, राजस एवं तामस ये तीन भेद किये है।[3] इनमें से सात्विक पुरुष को आयु, सत्व बल, आरोग्य, सुख एवं प्रीति को बढ़ाने वाले सुस्वाद, स्निग्ध, स्थिरसार वाला एवं स्वभाव से ही मन को रुचिकर लगने वाला आहार पसन्द आता है।[4] अग्निपुराणकार ने आयु से प्रारम्भ कर सुखकर अन्नपर्यन्त शब्दों को गीता से लिया है और शेष को छोड़ दिया है। दुःख शोक और व्याधि का उत्पादक आहार राजस पुरुषों को प्रिय होता है। इतना ही संकेत अग्निपुराणकार ने किया है। उसने गीता द्वारा प्रतिपादित आहार के कटु, अम्ल, लवण, अति उष्ण, अति तीक्ष्ण, रुक्ष एवं विदाही गुणों को उसमें सम्मिलित नहीं किया है (गीता, १७।९)। इसी प्रकार तामस व्यक्ति को उच्छिष्ट, अमेध्य[5]

१—अ० पु०, ३८१।४०=गीता, १६।७.
२—अ० पु०, ३८१।४०=गीता, १६।२१.
३—अ० पु०, ३८१।४१=गीता, १७।७.
४—अ० पु०, ३८१।४१=गीता, १७।८.
५—शंकराचार्य ने अपने गीता भाष्य में अमेध्य शब्द का अर्थ यज्ञ के अयोग्य और यातायाम का मन्द पक्व किया है।

एवं नीरस ही भोजन पसन्द आता है—ऐसा व्यक्त किया है पर गीता के यातयाम शब्द (अधपका, मन्दपका) को अग्निपुराणकार ने क्लिष्टता के कारण सम्भवतः छोड़ दिया है।

यज्ञ निरुपण

इसी प्रकार आहार के त्रिविध विभाग के अनन्तर सात्विक, राजस एवं तामस भेद से तीन प्रकार के यज्ञों का निरुपण अग्निपुराण ने गीता के आधार पर किया है। जो यज्ञ शास्त्र विधि से कामना रहित किया जाता है वह सात्विक है। किन्तु जो यज्ञ केवल दम्भाचरण के लिये अथवा फल की उद्देश्य में रखकर किया जाता है वह राजस तथा शास्त्र विधि से हीन श्रद्धा विरहित यश तामस यज्ञ कहलाता है।[1]

त्रिविध यज्ञ के अनन्तर सात्विक, राजस एवं तामस भेद से इन तीन प्रकारों की संक्षेप में चर्चा की गई है। देवता आदि की पूजा एवं अहिंसा आदि के पालन को शारीरिक तप की संज्ञा अग्निपुराण ने दी है। अग्निपुराण ने गीतोक्त[2] अन्य तथ्यों को अति विस्तार के भय से छोड़ दिया है।- इसी प्रकार वाङ्मय तप के अन्तर्गत अनुद्वेगकर वाक्य, सत्य, स्वाध्याय एवं सत्य वस्तु के जप का अभ्यास बताया गया है। अग्निपुराण ने केवल गीतोक्त स्वाध्याय, प्रिय एवं हितकारी विशेषणों को छोड़ दिया है।[3] अग्निपुराणकार ने मानस तप के अन्तर्गत चित्त की शुद्धि, मौन और आत्मविनग्रह का समावेश किया है उसने गीतोक्त मनः प्रसादत्व एवं सौम्यत्व को छोड़ दिया है। उपर्युक्त शारीर, वाङ्मय एवं मानस इन तीन भेदों के अतिरिक्त तप से सात्विक, राजस एवं मानस लक्षणों की चर्चा अति संक्षेप में अग्निपुराणकार ने की है। उनके अनुसार सात्विक तप फल की इच्छा से तथा तामस तप पर-पोड़ा के उद्देश्य से किया जाता है। गीता में इन त्रिविध तापों की विस्तार से चर्चा हुई है।[4]

क्रम प्राप्त दान के भी सात्विक, राजस एवं तामस ये तीन भेद अग्निपुराण-कार ने गीता के आधार पर किये हैं। जो दान देश आदि (काल तथा पात्र) के

१—अ० पु०, ३८१।४३=गीता, १७।११-१३.

२—देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते ॥ (गीता, १७।१४)

३—अ० पु०, ३८१।४४,४६=गीता, १७।१५.

४—अ० पु०, ३८१।४६=गीता, १७।१७, १९.

अनुसार ध्यान में रखकर किया जाता है वह सात्त्विक है। जो देश आदि से रहित प्रत्युपकार के प्रयोजन से परिक्लिष्ट रूप में होता है वह राजस तथा जो दान बिना सत्कार किये तथा तिरस्कार पूर्वक अयोग्य देश-काल में कुपात्रों के लिये किया जाता है वह तामस कहलाता है।[1]

ॐ, तत् एवं सत् ये तीन ब्रह्मा के नाम दिर्दिष्ट हैं। इसी ब्रह्मा के द्वारा वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ रचे गये हैं। इन्हीं शास्त्रों की विधि से नियत की हुई यज्ञ, दान और तप रूप कि क्रियाएँ सदा ॐ इस परमात्मा के नाम के उच्चारण के साथ प्रारम्भ होती हैं। तत् पद से यज्ञ, तप आदि क्रियाएें फल को न चाहकर भी मोक्ष के इच्छुक व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न होती हैं इसी प्रकार सद् भी परमात्मा का नाम है जिसका उपयोग सत्य और श्रेष्ठ भाव के लिये किया जाता है।[2]

मोक्ष सन्यासपरक-योग के प्रसंग में सकामी पुरुषों के कर्म का अच्छा-बुरा और संयुक्त इस प्रकार तीन प्रकार का फल मरण के अनन्तर भी प्राप्त होता है और त्यागी पुरुष के कर्मों का फल किसी काल में भी नहीं होता क्योंकि उनके द्वारा होने वाले कर्म वास्तव में कर्म नहीं हैं। यह कर्म का फल कर्म के संयोग से तामस प्रकार का मोह, क्लेश, भय आदि के कारण राजस प्रकार का एवं अकामना से प्राप्त हुआ सात्विक प्रकार का समझना चाहिए।[3] अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, पृथक-पृथक चेष्टा एवं दैव ये पाँच प्रकार के हेतु माने गये हैं। इनमें से अधिष्ठान से तात्पर्य शरीर का है तथा कर्त्ता से भोक्ता का, श्रोत आदि द्वारा शब्द अदि प्राप्ति के लिए विविध प्रकार के साधन को मन और अन्तःकरण मिला कर इनकी संख्या १२ मानी गयी है। चेष्टा से वायु के प्राण, अपान, उदान व्यान एवं समान इन पाँच भेदों का ग्रहण होता है।[4]

ज्ञान के तीन भेदों का निरुपण करते हुए उनकी संक्षिप्त परिभाषा दी गई है। सात्विक ज्ञान को एक ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी परम भाव को विभाग रहित सम भाव से देखता है वह ज्ञान सात्विक ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में भिन्न प्रकार के अनेक भावों को पृथक्-पृथक् रूप में जानता है उस ज्ञान को राजस कहा जाता है। जो ज्ञान एक

१—अ० पु० ३८१।४६, ४७=गीता, १७।२०-२२.
२—अ० पु०, ३८१।४८.
३—अ० पु०, ३८१।४९,५०=गीता, १८।१२.
४—अ० पु०, ३८१।५१.

कार्य रूप शरीर में हो सम्पूर्णता के समान आसक्त है अर्थात् जिस विपरीत ज्ञान के द्वारा मनुष्य नश्वर शरीर को ही आत्मा मानकर उसमें असक्त रहता है वह तत्व अर्थ से रहित तुच्छ ज्ञान तामस कहलाता है।[1] अकाम किया गया कर्म सात्विक कहलाता है किन्तु वही जब सकाम होता है तब उसे राजस की संज्ञा दे दी जाती है और यह तामस कर्म मोह से उत्पन्न होता है।[2] कर्म के समान कर्त्ता के भी सात्विक, राजस एवं तामस तीन भेद किये गये हैं सात्विक कर्त्ता अग्निपुराण के शब्दों में वह है जो कार्य के सिद्ध होने और न होने में समभाव में विद्यमान रहे और राजस कर्त्ता वह है जो अत्यन्त मात्रा में धूर्त्त हो और तामस कर्त्ता वह है जिसमें आलस्य की मात्रा अधिक पाई जाये।[3] गीता ने इन सबका विस्तार से निरूपण किया है।

कर्त्ता के समान बुद्धि को भी सात्विक, राजस एवं तामस-इन तीन भेदों में विभक्त किया गया है। जो बुद्धि कार्य-अकार्य को सभी प्रकार से समझती है वह सात्विक तथा जिसके द्वारा कार्य या अकार्य में प्रवृत्ति होती है वह राजस तथा जो समस्त ज्ञेय पदार्थों को विपरीत रूप में समझती है वह तामस मानी गयी है।[4]

बुद्धि के समान धैर्य का भी तीन विभाग हुआ है। मन के द्वारा की जाने वाली क्रिया ऽाहित्यक-धृति के अन्तर्गत आती है। प्रीति तथा कामना वाली राजस के अन्तर्गत तथा शोक विषाद जिसके कारण नहीं छूटते है वह तामस कहलाती है।[5] अग्निपुराणकार ने इनका भी विस्तार से वर्णन किया है। सात्विक, राजस और तामस भेद से सुख भी तीन प्रकार के माने गये हैं। जो सुख आरम्भ में दुःखात्मक एवं अन्त में सुखात्मक हो वह सात्विक सुख, किन्तु जो अग्रिम अवस्था में सुखकारी हो वह राजस, तथा जो अन्त में दुःखकारी हो वह तामस सुख कहलाता है।[6] अतएव जिस परमात्मा से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे सर्व जगत व्याप्त है उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविककर्म द्वारा पूज कर मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।[7] इसी प्रकार

१—अ० पु०, ३८१।५२=गीता, १८।२०-२२.
२—अ० पु०, ३८१।५२, ५३=गीता, १८।२३-२५.
३—अ० पु०, ३८१।५३, ५४=गीता, १८।२६-२८.
४—अ० पु०, ३८१।५४=गीता, १८।३०-३२.
५—अ० पु०, ३८१।५५=गीता, १८।३३-३५.
६—अ० पु०, ३८१।५५, ५६=गीता, १८।३७-३९.
७—अ० पु०, ३८१।५६, ५७=गीता, १८।४६.

सर्वदा सभी प्रकार सम्पूर्ण अवस्थाओं में मन, कर्म और वाणी के द्वारा जो ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त संसार के व्यापक तन्त्र ब्रह्मा को जानता है वह भक्त निश्चित रूप से भगवद् भक्ति से युक्त हो सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।[5]

अग्निपुराण ने अद्वैत ब्रह्म निरुपण के अनन्तर वैष्णव एवं भागवत धर्म के सिद्धान्त को गीतासार के माध्यम से उपस्थित किया है। इसमें योग एवं मोक्ष की चर्चा के साथ आत्मा के अजरत्व, अमरत्व एवं अविनाशित्व का प्रतिपादन हुआ है। क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के निरुपण के साथ दैवी एवं आसुरी सम्पदा का उल्लेख हुआ है। यज्ञ एवं भोजन आदि का सात्विक, राजस एवं तामस भेद से निरुपण है। भक्तियोग से मोक्ष-प्राप्ति का निरुपण इसका चरम उद्देश्य है।

५—अ० पु०, ३८१।५७, ५८=गीता, १८।५४,५५.

द्वितीय खण्ड

(आयुर्वेदीय-अध्ययन)

प्रथम अध्याय

आयुर्वेद की पुराणात्मक पृष्ठ भूमि

आयुर्वेद यद्यपि अथर्ववेद का उपवेद या उपांग है तथापि उसमें संस्कर्त्ताओं के कारण यत्र-तत्र पौराणिक पुट निहित हैं जो विषय के विशदीकरण के लिए समुचित प्रतीत होते हैं। आयुर्वेद के ग्रन्थ चरक संहिता में पौराणिक पृष्ठभूमि का प्रचुर मात्रा में निर्देश है :—

१. निदान स्थान में वर्णित ज्वर, गुल्म, प्रमेह, कुष्ठ, उन्माद, अपस्मार, ज्वर, रक्तपित एवं राज्यक्ष्मा के उत्पत्ति में पौराणिक कथाओं का सन्निवेश किया गया है, यथा : पुराकाल में प्रसिद्ध दक्ष-प्रजापति के यज्ञ के नाश के समय नाना दिशाओं में भागते हुए प्राणियों में दौड़धूप करने, जल में तैरने, कूदने, दौड़ने, लाँघने आदि शरीर को क्षुब्ध करने वाले कारणों से गुल्म रोग की उत्पत्ति हुई। अधिक रूप में घृत का पान करने से प्रमेह एवं कुष्ठ की; भय; त्रास और शोक से उन्माद की तथा अनेक प्रकार के जीवों एवं अपवित्र वस्तुओं के स्पर्श से अपस्मार की उत्पत्ति हुई। ज्वर तो शंकर के ललाट से उत्पन्न हुआ। इस ज्वर के सन्ताप से रक्तपित्त की उत्पत्ति हुई। नक्षत्रराज चन्द्रमा का रोहिणी के साथ अति-मैथुनासक्त होने से राजक्ष्मा की उत्पति हुई।[1]

२. स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीय नामक चिकित्सा स्थान के एक अध्याय में सुश्रुत ने सोम की उत्पत्ति जरा एवं मृत्यु के विनाश के लिये ब्रह्मा से मानी है।[2]

३. चरक के समान ही सुश्रुत ने भी ज्वर को शंभु के क्रोध से उद्भूत माना है।[3]

४. जनपदोध्वंस की सामान्य चिकित्सा के प्रसंग में पंचकर्म-विधान के साथ-साथ धर्म-शास्त्रों की कथाओं का सुनना प्रशस्त माना गया है।[4]

५. इसी जनपदोध्वंस प्रकरण में आदिकाल में न होने वाले रोगोत्पत्ति के

१—चरक नि०, ८।११.

२—सु० चि०, २९।३.

३—सु० उ०, ३९।३२३.

४—च० वि० ३।२७.

कारण को व्यक्त करते हुए यह कहा गया है कि कृतयुग में मनुष्य आदितिसुतसम अर्थात् देवताओं के समान ओज वाले हुआ करते थे। इस स्थल में अदिति की चर्चा पौराणिकता का संकेत करती है।[१]

६. आयु के अनित्यत्व साधन प्रसंग में इन्द्र द्वारा अपने शत्रु का वज्र से प्रहार एवं अश्विनी कुमारों द्वारा दुःखी व्यक्ति की ओषधि से चिकित्सा वाला प्रसंग चरक विमान स्थान में प्राप्त होता है।[२]

७. त्रिविध मानस प्रकृति के अन्तर्गत सत्व प्रकृति भेद के रूप में गन्धर्व-सत्व व्यक्ति के स्वरूप परिचय में उसे नृत्य-गीत आदि के प्रेमी होने के साथ-साथ आख्यायिका, इतिहास और पुराण पाठ में कुशल होना चरक संहिता में बताया गया है। चरक संहिता में एक मात्र यही स्थल है जहा पुराण शब्द इतिहास के साथ उल्लिखित है जो संहिता के निर्माण काल की पुराण प्रियता का परिचय देता है।

'प्रियनृत्यगीतवादित्रोतलापकलोकाख्यायिकेतिहासपुराणेषु कुशलं गन्धमाल्यानुलेपनवसनस्त्रीविहारकामं नित्यमनसूयकं गन्धर्वं विद्यात्।[3]

८. मुमूर्षु पुरुषों के लिए धर्मशास्त्रों का अनुगमन करना प्रशस्त मान गया है।[४]

९. गर्भसंग हो जाने पर आसन्नप्रसवा को प्रवाहणार्थ निर्देश किए जाने के साथ-साथ पौराणिक मन्त्र के रूप का निर्देश है जिसमें कार्तिकेय का नाम भी सम्मिलित है।[५]

१०. ग्रह से आविष्ट बालक की चिकित्सा के प्रसंग में 'अग्नये स्वाहा, कृत्तिकाभ्यः स्वाहा' ऐसा मन्त्रोच्चारण करते हुये अग्नि में आहुतियाँ देनी चाहिये।[६]

१—चा० वि०, ३।२४.
२—च, वि० ३।३६.
३—च०, शा० ४।३७.
४—च०, शा० ५।१२.
५—क्षितिर्जलं वियत्तेजो वायुर्विष्णुः प्रजापतिः।
　सगर्भां त्वां सदा पान्तु वैशल्यं च दिशन्तु ते॥
　प्रसूष्व त्वमविक्लिष्टयविक्लिष्टा शुभानने।
　कार्त्तिकेयद्युतिं पुत्रं कार्त्तिकेयाभिरक्षितम्॥ च०, शा० ८।३८.
६—सु० उ०, २८।२०.

११. मुखमंडिका ग्रह से गृहीत शिशु के लिये मन्त्रों से अभिमन्त्रित जल के द्वारा स्नान का विधान है।[1]

१२. ग्रहोत्पत्ति के प्रसंग में कार्तिकेय की रक्षा के लिए कृत्तिका, अग्नि, उमा और शंकर के द्वारा इन ग्रहों की उत्पत्ति मानी गयी है।[2] इसी प्रकार का निरूपण वामन पुराण के ५४वें अध्याय में भी उपलब्ध है।

१३. भूताभिषंगज ज्वर में देवपूजा का विधान है।[3]

१४. स्कन्द ग्रह के प्रतिषेध-प्रकरण में बालरक्षा-विधान के अवसर पर स्कन्द को गंगा, उमा और पूतिका का पुत्र कहा गया है जिनके द्वारा बालक को सौख्य प्राप्त होता है।[4]

१५. प्रत्येक देवग्रह में घृत, तिल, यव, आदि से हवन करके बलि देने का विधान सुश्रुत में निहित है। इतना ही नहीं अपितु यक्ष, पितर, नाग, राक्षस, पिशाच आदि प्रत्येक ग्रह के लिये पृथक्-पृथक् रूप से विभिन्न प्रकार की बलि देने का उल्लेख है।[5]

१६. चरक संहिता में प्रशस्त शकुनों का वर्णन पुराण विचारधारा का स्मारक है।[6]

१७. चरक में वर्णित दिव्यौषधियों का दश सहस्त्र वर्ष तक आयुष्करत्व का निर्देश करना पौराणिक विचारधारा के बिना संभव नहीं है—(आसामोषधीनां ....दश वर्षसहस्त्राण्यायुरनुपद्रवं चेति।[7])

१८. चिकित्सा स्थान के इसी प्रकरण में अश्विनीकुमारों द्वारा यज्ञवाह का सन्धान, पूषा के गिरे हुए दान्तों को लगाना, इन्द्र के भुजस्तम्भ की चिकित्सा एवं राजयक्ष्मा से पीड़ित चन्द्रमा की चिकित्सा आदि का उल्लेख इसी का परिचायक है।[8]

१—सु० उ०, ३५।९.

२—सु० उ०, ३७।४.

३—सु० उ०, ३९।२६५.

४—सु० उ०, ३०।१३.

५—सु० उ०, ६०।३४.

६—च० इ०, १२।७१-७९.

७—च० चि०, १।४.

८—च० चि०, १।४।४१.

१९. चरक चिकित्सा स्थान के तृतीय अध्याय में ज्वर की उत्पत्ति महेश्वर के क्रोध से बताई गई है ।[1]

२०. इसी अध्याय में विष्णुसहस्र नाम की स्तुति ज्वर-शामक बतामी गयी है "विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम् । स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वनिपोहति" ।[2]

२१. इसी के साथ-साथ ब्रह्मा, अश्विनीकुमार, इन्द्र, अग्नि, हिमाचल, गंगा आदि के पूजा का विधान भी ज्वरशान्त्यर्थ निर्दिष्ट हैं—"ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतमक्षं हिमाचलम् । गंगामरुद्गणांश्चेष्टान् पूजयंज्जयति ज्वरान् ।[3]

२२. आयुर्वेद की दैवव्यपाश्रय चिकित्सा भी पौराणिकता को ही व्यक्त करती है। जिसके आभ्यन्तर मणि, मंगल, जप, होम, बलि, प्रायश्चित्तादि का समावेश है ।[4]

२३. राजयक्ष्मा की उत्पत्ति के प्रसंग में चरक ने चन्द्रमा के क्षय हो जाने की पौराणिक कथा का उल्लेख किया है । चन्द्रमा द्वारा सत्ताईस स्त्रियों में अन्यतम रोहिणी पर अति आसक्त होने के कारण उसके ओज का क्षय हो गया था । इस प्रकार अन्य स्त्रियों पर स्नेह न रखने के कारण उसके ओज का क्षय हो गया था । इस प्रकार अन्य स्त्रियों पर स्नेह न रखने के कारण प्रजापति ने चन्द्रमा को शाप दे दिया जिसके कारण उसको राजयक्ष्मा हो गया था । इसकी चिकित्सा अश्विनीकुमारों ने की और उसको स्वस्थ किया । यहाँ यही पौराणिक उपाख्यान राजयक्ष्मा के चतुर्विध कारणों में धातुक्षय की ओर निर्देश करता है ।[5]

२४. उन्माद के चिकित्सा में भी भूताधिप रुद्र के गणों की पूजा का विधान है ।[6]

२५. इसी स्थल में पूजा, बलि, उपहार, मन्त्र, शान्तिकर्म, होम, जप, स्वस्त्ययन, वेदोक्त वियम एगं प्रायश्चित्त का विधान है ।

२६. अतिसार की उत्पत्ति में भी गोमांस का निर्देश है । इस प्रसंग में आदि-

१—च० चि०, ३।१५-२५.
२—च० चि०, ३।३११.
३—च० चि०, ३।३१२.
४—च० चि०, ३।३१३, ३१४.
५—च० चि०, ८।३-१०.
६—च० चि०, ९।९२.
७—च० चि०, ९।८९-९१.

काल के पौराणिक कथा का निर्देश है जिसके अनुसार पुराकाल में यज्ञ में पशुओं का आलभन नहीं होता था, किन्तु दक्ष के यज्ञ के पश्चात् नरेश्वर, नाभाग, इक्ष्वाकु, ययाति, आदि पुत्रों के यज्ञ में पशुओं का संरक्षण पूर्वक आलभन अथवा बध होने लगा और एक ऐसा समय आया जब कि वृषभ नामक राजा के यज्ञ में अन्य पशुओं के प्राप्त न होने पर गो का आलभन आरम्भ हो गया। इस प्रकार निन्दित गो-मांस के सेवन से उष्णता, गुरुता एवं अग्निनाश के होने के कारण अतिसार की उत्पत्ति हुई।[१]

२७. रसायन ओषधियों के उत्पादन के समय महेन्द्र, राम, कृष्ण, ब्राह्मण और गो के तप और तेज से ओषधियों को कल्याणकारी होना बताया गया है।[२]

२८. चिकित्सास्थान के विष-प्रकरण में महाहस्ति-अंगद के निर्माण का उल्लेख आया है जिसमें औषधि निर्माण करते समय ऐसे मन्त्र के जप का उल्लेख है जिसके अन्तर्गत जय, जया, विजय, विष्णु, कृष्ण, वृषाकपि, रुद्र, भव, इन्द्र, वासुदेव आदि का उल्लेख है।[3]

२९. विष की उत्पत्ति सुर और असुरों से समुद्र मन्थन के समय हुई और विष को एक पुरुष का स्वरूप दिया गया है।[४]

३०. चरक में सुरा की उत्पत्ति की पौराणिक चर्चा है जिसके अनुसार प्राक्काल में जो इन्द्र सहित अन्य देवताओं द्वारा सम्मानित हो सौत्रामणि होम में प्रयुक्त हुई जिसको यज्ञवाहक कहा गया है। ऐसी सुरा वेदविहित यज्ञ करने वाले अनेक महात्माओं के द्वारा यज्ञ-सिद्धि के लिए दृश्य, स्पृश्य एवं प्रकल्प्य हुई। अनेक योनियों से उत्पन्न होने पर भी जिसमें मद का लक्षण पाया गया ऐसी यह सुरा सुर, असुर, गन्धर्व, राक्षस, मनुष्य आदि सभी योनियों को आनन्द देने वाली मानी गयी।[५]

ये सभी उपर्युक्त सन्दर्भ इस कथन के पूर्ण परिगोषक हैं कि पौराणिक विचारधारा का पुट आयुर्वेद जैसे चिकित्सा-विज्ञान के ग्रन्थों में भी अपेक्षित था। किसी भी वस्तु का आलंकारिक या पौराणिक वर्णन उसके उद्भव के सिद्धान्त पर पूर्णप्रकाश डालता है। जिसका सम्बन्ध आगन्तुक एवं बाह्य दोनों कारणों से संयुक्त है।

१—च० चि०, ३।१४.
२—सु० चि०, ३०।२७.
३—च० चि०, २३।९०-९४.
४—च० चि०, २३।४-५.
५—च० चि०, २४।३-१०.

द्वितीय अध्याय

मौलिक सिद्धान्त की सामग्री

आकाश, वायु, तेज सलिल तथा पृथ्वी इनकी पञ्चमहाभूतों के रूप में अ० पु० ने अन्य सभी प्रस्थानों के समान ही गणना की है और इसी से शरीर का निर्माण होता है।[१] इसी को अन्यत्र पञ्चव्यूह[२] भी कहा गया है। शरीर-अवयव-गणना के प्रसंग में भी अ० पु० ने इसका नामतः निर्देश किया है।[३] इस पञ्चमहाभूत की प्रायोगिकता को भी अ० पुराणकार ने गर्भविक्रान्ति के प्रसंग में व्यक्त किया है जहाँ पर शरीर के विशिष्ट अवयवों की उत्पत्ति तत्तद् महाभूतों से मानी गई हैं। यथा—शरीरगत सभी क्षुद्र स्रोतस् आकाश से, शरीर गत श्वासोच्छ्वास वायु के द्वारा, रूप, दर्शन, उष्मा धातुओं का परिपाक, वृद्धि, वर्ण, बल, छाया, तेज और शरीरगत शौर्य का अग्नि के द्वारा, शरीरगत स्वेद, रसना, क्लेद, वसा, रक्त, शुक्र, मूत्र कफ आदि को जल के द्वारा तथा केश, नख, शरीर की गुरुता, स्थिरता एवं उसकी अवस्थिति को पृथ्वी तत्व के द्वारा सम्पन्न हुआ माना है।[४]

सुश्रुत ने भी समस्त शारीर भावों की पाञ्च भौतिकता अति विशद रूप में प्रस्तुत की है।[५] अ० पु० में उपरितन वर्णन सुश्रुत से गृहीत प्रतीत होता है।

१— ....पञ्चभूतान्यतः शृणु।
आकाशवायुतेजासि सलिलं पृथ्वी तथा।
स्थूलमेभिः शरीरन्तु सर्वाधारं प्रजायते॥
अ० पु०, ५९।१४-१५.

२—अ० पु०, २५।२४.

३—अ० पु०, ३७०।३.

४—अ० पु०, ३६९।२८-३१ तथा तुलनीय अ० सं०, शा० ५।४.

५—आन्तरीक्षासु शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च; वायव्यासु-स्पर्श-स्पर्शेन्द्रिय-सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च। तैजसास्तु रूप रूपेन्द्रियंवर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्य्यं च। आप्यास्तु रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो शैत्यं स्नेहो रेतश्च। पार्थिवास्तु-गन्धेद्रियं सर्वभूतसमूहो गुरुता च। सु०, शा०, १।१९ तथा द्रष्टव्य अ० सं०, शा० ५।९-१३.

पञ्चमहाभूत सिद्धान्त एक सार्वभौम तथा सर्वप्रस्थानगत सिद्धान्त है जो दर्शन एवं आयुर्वेद में प्रायशः एक ही रूप में वर्णित है। महाभूतों की उत्पत्ति शब्द, स्पर्श, रूप, रूप, रस एवं गन्ध तन्मात्राओं से क्रमशः आकाशादि के रूप में होती है।[1] पञ्चज्ञानेन्द्रियों में इन्हीं भूतों का उत्कर्ष पाया जाता है जिसके आधार पर शब्द, स्पर्श आदि विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है।[2] महाभूत जब चेतना से अधिष्ठित होते हैं तब शरीर की अभिनिर्वृत्ति होती है।[3]

इसी पञ्चमहाभूत से आयुर्वेद के प्रतितन्त्र सिद्धान्त त्रिदोषवाद का पल्लवन हुआ है। आकाश सर्वव्यापक है। वायु से वात, अग्नि से पित्त तथा जल एवं पृथ्वी से कफ की उत्पत्ति मानी गई है।

त्रिदोष-सिद्धान्त

आयुर्वेद की संहिताओं के समान ही अ० पु० ने भी वात, पित्त एवं कफ की दोष के नाम से गणना की है।[4] त्रिदोष का जो भी संक्षिप्त वर्णन अ० पु० में उपलब्ध है उसका निर्देश २८०वें अध्याय में हुआ है। वात, पित्त एवं कफ के संक्षिप्त गुण वाग्भट के अनुसार ही अ० पु० में निर्दिष्ट हैं। इस पुराण के अनुसार वायु को सूक्ष्म, शीत एवं चल गुण वाला कहा गया है। इसी प्रकार पित्त को उष्ण, कटु एवं अम्ल तथा कफ (बलास) को स्थिर, स्निग्ध एवं मधुर माना गया है।[5] अष्टांग संग्रह (सूत्र १।२९) एवं अष्टांग हृदय (सूत्र १।११,१२) में वातादि के गुणों का अ० पु० की अपेक्षा कहीं विशद वर्णन है जिसका संक्षेपीकरण इस पुराण ने किया है। समान गुणों के प्रयोग से इनकी वृद्धि तथा

१—अ० पु०, १७।४-५.

२—अ० पु०, १५९।१२-१४.

३—अ० सं०, शा० ५।४.

४—अ० पु०, २८०।६.

५—अ० पु०, २८०।१७=यहाँ यह द्रष्टव्य है कि अ० पु० ने त्रिदोष के के गुणों का संक्षिप्त निरुपण अष्टांग संग्रह (सूत्र० १।२८-२९) के आधार पर ही किया है :–

'तत्र रूक्षः लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः।
पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम्॥
स्निग्धः शीतोगुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः॥

विपरीतकारी द्रव्यों के सेवन से इनका क्षय होता हैं।[1] मधुर (स्वादु), अम्ल एवं लवण रस को वातनाशक एवं श्लेष्मकारक, तिक्त, मधु एवं कषायं रस को पित्तनाशक तथा कषाय, कटु एवं तिक्त को श्लेष्म नाशक कहा गया है। तिक्त, कटु एवं कषाय वात प्रकोपक, अम्ल, लवण एवं कटु पित्तप्रकोपक तथा मधुर अम्ल एवं लवण को कफ-प्रकोपक माना गया है।[2] इस प्रसंग में अ० पु० का यह कथन सर्वथा उल्लेखनीय हैं कि मधुरादि रस वस्तुतः वातादि गुणशामक नहीं होते अपितु यह शामकता रसगत विपाक के कारण हैं। अग्निपुराण में उष्णवीर्य कफ तथा वातनाशक शीत विपाक को पित्तनाशक कहा है।[3]

वातादि प्रत्येक दोष चय (संचय), प्रकोप एवं प्रशम इन तीन अवस्थाओं में ऋत्वनुसार परिणत हो व्याधि (स्वाभाविक) उत्पन्न करने वाला होता है। अ० पु० ने यह सामग्री सुश्रुत (सूत्र० ६।१३, १४) से ग्रहण की हैं जिसका स्पष्ट उल्लेख मूलपाठ में है। इनके अनुसार श्लेष्मा या कफ का संचय हेमन्त (अ० पु० के अनुसार शिशिर) में, प्रकोप वसन्त में तथा प्रशम निदाघ (ग्रीष्म) में होता हैं। इसी प्रकार वायु का संचय ग्रीष्म (निदाघ) में, प्रकोप प्रावृट् (मेघकाल) में तथा प्रशम शरद्काल में होता हैं। इसी क्रम में प्राप्त पित्त का संचय वर्षा (मेघकाल) में, प्रकोप शरद् में तथा प्रशमन हेमन्त में होता है।[4] सुश्रुत ने षड्ऋतुओं की गणना संचय, प्रकोप, प्रशम भेद एवं रसों के प्रवर-मध्यम-अवर बल के भेद से निम्न प्रकार की है :—

दोषादि संचय भेद से ऋतु विभाग	रसों के बलाबल के भेद से ऋतु विभाग
वर्षा—भाद्रपद आश्विन	वर्षा—नभस् (श्रावण) नभस्य (भाद्रपद)
शरद्—कार्तिक मार्गशीर्ष	शरद्—इष (आश्विन) ऊर्ज (कार्तिक)

१—अ० पु० (२७०।१८) एवं अ० हृ० (सूत्र० १।१४) में एक ही शब्दावली प्रस्तुत है।

२—अ० पु०, २८०।१८–२० तथा अ० सं० सू० १।३६=अ० सं० सू० १।१६.

३—अ० पु०, २८०।२०, २१.

४—अ० पु०, २८०।२२–२४.

हेमन्त—पौष माघ	हेमन्त—सहस् (मार्गशीर्ष) सहस्य (पौष)
वसन्त—फाल्गुन चैत्र	शिशिर—तपस् (माघ) तपस्य (फाल्गुन)
ग्रीष्म—वैशाख ज्येष्ठ	वसन्त—मधु (चैत्र) माधव (वैशाख)
प्रावृड्—आषाढ़ श्रावण	ग्रीष्म—शुचि (ज्येष्ठ) शुक्र (आषाढ़)

अ० पु० ने सुश्रुतोक्त द्विविध विभागों में से किसको स्वीकार किया है यह कहना कठिन प्रतीत होता है। किन्तु शिशिर के सन्निवेश से ज्ञात होता है कि उन्होंने रस के बलाबल विभाग वाले भेद को ही स्वीकार किया है।

वर्षा, शरद् और हेमन्त इन तीन ऋतुओं को विसर्ग के नाम से तथा इसी प्रकार शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म इन तीन ऋतुओं को आदान के नाम से पुकारा जाता है। विसर्ग का दूसरा नाम सौम्य तथा आदान का दूसरा नाम आग्नेय है। विसर्ग को सौम्य सम्भवतः इसलिए कहा जाता है कि इन ऋतुओं में चन्द्रमा बलवान् होता है, जो क्रमशः लवण एवं मधुर रस को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार आदान काल में सूर्य अपनी किरणों से समस्त वस्तुओं को सुखाता हुआ उत्तप्त होता है और तिक्त, कषाय एवं कटु रस को बढ़ाता है। ज्यों-ज्यों रात्रि बढ़ती जाती है त्यों-त्यों बल बढ़ता है उसी प्रकार दिन होने पर बल क्षीण हो जाता है।

जिस प्रकार पूरे वर्षा भर में तीनों दोषों का संचय, प्रकोप एवं प्रशमन होता है उसी प्रकार वात, पित्त एवं कफ को बाल्यावस्था, प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था में भी उपस्थित माना जाता है। वय के आदि में श्लेष्मा का, मध्य में पित्त का एवं अन्त में वात का प्राबल्य होता है। इसी प्रकार दिन के आदि में कफ का, मध्याह्न में पित्त का और अपराह्न में वात का प्राबल्य पाया जाता है। इसी प्रकार भुक्त भोजन के आदि में श्लेष्मा का, पच्यमान अवस्था में पित्त का और अन्त में पक्वावस्था में वात का प्राबल्य पाया जाता है। अ० पु० की समस्त विचारधारा वाग्भट से गृहीत प्रतीत होती है।[1] नाभि से ऊर्ध्व कफ

१—अ० पु०, २८०।२५–३०=अ० हृ०, सूत्र १।८.

का, अधः भाग में पित्त का और गुदा तथा श्रोणि में वात का स्थान माना गया है।[१]

वात के भेद

अ० पु० ने अ० सं० के समान कफ और पित्त के पाँच प्रकारों का कोई निर्देश नहीं किया है। वात के प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान इस प्रकार इन पाँच भेदों का उल्लेख नाड़ी चक्र के प्रसंग में आया है (अ०पु० २१४।५)। इसी स्थल में नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त एवं धनञ्जय इस प्रकार पाँच और वायु के भेदों को लेकर दस प्रकार के वायु की चर्चा की गई है।[२]

इनमें से प्राण वायु दशों वायु का प्रभु एवं नियन्ता माना गया है। इसी के कारण व्यक्ति जीवित रहता है। विसर्ग से लेकर पूरण तक की समस्त क्रियाएँ इसी पर आधारित हैं। यह प्राणियों के हृदय में नित्य आपूरित हैं। निश्वास, उच्छ्वास तथा कास के द्वारा व्यक्ति जीवन को आश्रित किए हुए है। अतः प्राण जीवन से सम्बद्ध है और यह मरणकाल में शरीर से प्रयाण करता है इसलिए उसको प्राण कहा गया है।[३]

सुश्रुत ने मुख में संचरित होने वाले वायु को प्राण कहा है। इसका कार्य देह का धारण, अन्न का प्रवेश तथा प्राणों का अवलम्बन करना है और यही जब दुष्ट हो जाती है तो हिक्का, श्वास, कास आदि व्याधियों को उत्पन्न कर देता है।[४] अपान वायु मनुष्यों के आहार को नीचे की ओर ले जाती है, इसी के द्वारा मूत्र एवं शुक्र का पतन होता है।[५] इसीलिए इसका नाम अपान वायु है सुश्रुत के अनुसार अपान वायु पक्वाशय में रहती है और यही वायु पुरीष, मूत्र, शुक्र और आर्त्तव को नीचे लाने वाली होती है तथा यह कुपित होने पर बस्ति और गुद के अनेक रोगों को उत्पन्न कर देती है।[६]

समान वायु पीत, भक्षित एवं आघ्रात वस्तु तथा रक्त, पित्त, कफ एवं वायु

१—अ० पु०, २८०।३४.
२—अ० पु०, २१४।५–६.
३—अ० पु०, २१४।६-८.
४—सु० नि०, १।१४.
५—अ० पु०, २१४।९.
६—सु० नि०, १।१९-२०.

को समान रूप से समस्त शरीर में संचार कराती है।[1] सुश्रुत के अनुसार समान वायु आमाशय एवं पक्वाशय में रहती हुई अग्नि से युक्त होकर अन्न को पचाती है और उससे उत्पन्न होने वाले रस, दोष, मूत्र, पुरीष आदि का पृथक्करण कराती है और यही जब कुपित हो जाती है तो गुल्म, अतिसार आदि रोगों को उत्पन्न करती है।[2]

उदान वायु के द्वारा अधर तथा मुख का स्पन्दन कराने में सहायक, नेत्र में लालिमा लाने वाली तथा मर्मों को उद्विग्न करने वाली कही गयी है।[3] सु० के अनुसार उदान वायु वह है जिसके द्वारा भाषित, गति आदि उर्ध्व अङ्ग में लाये जाते हैं यही जब कुपित हो जाता है तब उर्ध्व जत्रुगत अनेक रोगों को उत्पन्न कर देता है।[4]

व्यान वायु अङ्गों को नीचे झुकाने वाली होती है। इसमें कंठ से वायु चारों ओर ले जायी जाती है।[5] सु० के अनुसार व्यान वायु समस्त शरीर में संचरण करती हुई रस-संवहन करने में सहायक होती है। इसके अतिरिक्त यह स्वेद एवं रक्त का संवाहन करने वाली, उत्क्षेपण, आक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण एवं गमन भेद से पाँच प्रकार की चेष्टाओं का कराने वाली होती है। यदि यह कथंचित् कुपित हो जाय तो सर्वदेहगत-ज्वर, अतिसार, रक्तपित्त, आदि रोगों की उत्पादक है।[6]

उद्गार आदि पाँच अन्य वायु के भेद

अ० पु० ने वैदिक ग्रन्थों के समान पाँच अन्य वायु भेदों का भी उल्लेख किया है—'उद्गारे नाग इत्युक्तः कूर्मश्चोन्मीलने स्थितः। कृकरो भक्षणे चैव देवदत्तो विजृम्भिते॥ धनञ्जयः स्थितो घोषे मृतस्यापि न मुञ्चति'

(अ० पु०, २१४।१३-१४).

यह श्लोक किसी वैदिक ग्रन्थ से गृहीत प्रतीत होता है और ये वायु हैं— नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय। इनके कार्य क्रमशः उद्गार, उन्मेष,

---

१—अ० पु०, २१४।१०.
२—सु० नि०, १।१६-१७.
३—अ० पु०, २१४।११,
४—सु० नि०, १।१४-१५.
५—अ० पु०, २१४।१२.
६—सु० नि०, १।१७-१८,

क्षुधा और जम्भा हैं। पञ्चम धनञ्जय वायु मृत्यु के पश्चात् शरीर में रहती है और सर्वव्यापी है। रणजित राय ने अपने 'आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर' ग्रन्थ में इन वायु का प्राण आदि पाँच वायु के अन्तर्गत ही अन्तर्भाव किया है। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में उनका यह भी कथन है कि—'आधुनिको ने जैसे—नर्वस सिस्टम रचना तथा कर्म की दृष्टि से एक ही—अर्थात् समान ही नर्व सेलों और उनके सूत्रों से बना एवं एक ही प्रकार से इम्पल्स का वाहक होते हुए भी उसके कर्म भेद से मस्तिष्क सौषुम्णिक आदि मुख्य तथा सौरमण्डल इत्यादि स्थानीय भेद किये हैं वैसे ही प्राचीनों ने भी एक ही वायु के स्थानादि भेद से भेद किये हैं' (तदेव, पादटिप्पणी)।

इडा-पिङ्गला-सुषुम्णा आदि दस नाडियाँ

अग्नि पुराण का कथन है कि नाडी-चक्र के ज्ञान से ही विष्णु का ज्ञान हो सकता है। नाभि के नीचे जो केन्द्र है उससे अनेक अंकुर निकलते हैं जिनकी संख्या ७२ हजार बताई गई है और ये सभी नाडियाँ प्रधान नाभि के मध्य से निकलकर तिर्यक्, उर्ध्व एवं अधः तीनों दिशाओं से शरीर में व्याप्त हो जाती हैं किन्तु इन सब नाडियों में प्रधान दस नाडियाँ ही मानी गई है जो कि चक्र के समान स्थित हैं। इन नाड़ियों के नाम हैं—इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, गान्धारी, हस्तिजिह्वा पृथा, यशा, अलम्बुसा, हुहु एवं शङ्खिनी।[1] अ० पु० ने इन दस नाड़ियों को प्राणवह नाड़ी माना है।[2] अग्निपुराण ने मण्डल विधि के प्रसंग के वर्णन में इन नाडियों को हृदय से निकलने वाली तथा दर्शननेन्द्रिय-गोचर माना है और इनमें से नासाग्र में स्थित दो नाड़ियों को अग्नि एवं सोमयुक्त माना गया है।[3] आयुर्वेदीय शारीरविदों का यह विचार है कि इडा सोमात्मक तथा पिङ्गला सूर्यात्मक है।

इस प्रसंग में अग्निपुराण के उपर्युक्त तथ्य को समझने के लिये यह आवश्यक है कि वायु के नाडीपरक सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से समझा जाय। सर्वरोगहर औषध (२८०।३५-३६) में अ० पु० ने वायु को सर्वगत मान कर भी उनके विशिष्ट स्थान का निरूपण किया है। उसका कथन है कि देह के मध्य में हृदय

१—अ० पु०, २१४।१-४.

२—अ० पु०, २१४।५.

३—हृदयात् प्रस्थिता नाड्यो दर्शनेन्द्रियगोचराः।
अग्नीषोमात्मने तासां नाड्यो नासाग्रसंस्थिते ॥ अ० पु०, ३०।३३.

है और यही हृदय मन का स्थान है।[1] चरक के अनुसार इन्द्रियाँ मस्तिष्क में स्थित हैं[2] पर उन्होंने मन की स्थिति हृदय में भी मानी है। चरक ने अन्यत्र वायु को मन का नियन्ता एवं प्रणेता माना है।[3] मन के संयोग से ही ज्ञानेन्द्रिय अपने-अपने विषय को ग्रहण करती है तथा कर्मेन्द्रिय अपना-अपना कर्म करती हैं। मन के अभाव में ये अकिंचित्कर हैं अतः इन्द्रिय का स्थान हृदय में मानना युक्ति संगत है। चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ शिर में हैं। मन सूक्ष्म तथा शीघ्रगामी होने के कारण आवश्यकता होने पर तत्काल प्रत्येक इन्द्रिय के साथ संयुक्त हो जाता है। अतः मन का स्थान हृदय में होते हुए भी उसे शिर में स्थित कहा जा सकता है। आयुर्वेद की एक प्राचीनतम संहिता भेल (चि० अ० ८) ने मन का स्थान शिर और तालु के अन्तर्गत माना है—

शिरस्ताल्वन्तर्गतं सर्वेन्द्रियपरं मनः।
तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान्
..................समस्तान् हि विजानाति ॥

भेल संहिता, चि० अ०, ८.

भेल के वचन से सिद्ध हो जाता है कि मन की क्रिया वात के अधीन है और वात का प्रधान केन्द्र मस्तिष्क है। वात की प्रेरणा से मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है, इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण कर नियत कर्म करती हैं। हठयोगप्रदीपिका में मन और वायु का पारस्परिक सम्बन्ध दूध और पानी के समान माना गया है। दोनों की प्रवृत्ति एक साथ होती है—

दुग्धाम्बुवत् सम्मिलितावुभौ,
तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि।
यतो मरुत् तत्र मनः प्रवृत्ति-
र्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥

आयुर्वेद में वात के जो कर्म बताये गये हैं वे आधुनिक क्रिया शारीर में नाडी संस्थान अथवा उसके प्रधान अवयव मस्तिष्क के कर्म प्रतीत होते हैं। योगवाशिष्ठ (उपशम प्रकरण, सर्गः—८) ने हृदय के दो प्रकार बताये हैं जिनमें से एक

१—देहस्य मध्ये हृदयं स्थानं तन्मनसः स्मृतम्। अ० पु०, २८०।३६.
२—च० सू०, ३०।४.
३—च० सू०, १२।८.

प्रसिद्ध हृदय तथा दूसरा मस्तिष्क है। इसी मस्तिष्क को योग ग्रन्थों में सहस्रार, कमल पद आदि भी कहा गया है।

इडा, सुषुम्णा और पिङ्गला का उल्लेख आयुर्वेद के किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता है। इन सबका उल्लेख अ० पु० ने किया है जिसको उसने षड्चक्रनिरूपण एवं शारदा-तिलक जैसे तान्त्रिक ग्रन्थों से ग्रहण किया है।[१]

इन तान्त्रिक ग्रन्थों के अनुसार मेरु नामक पृष्ठवंश में तीन नाड़ियाँ हैं, जो ग्रीवा से आरम्भ होकर नीचे की ओर पृष्ठ वंश तक जाती है और इन दोनों के मध्य सुषुम्णा नाड़ी (Spinal cord) होती हैं। यह चव्यलता के गुच्छों के समान मानी गई है जिससे अनेक उपनाड़ियाँ निकलती है किन्तु दो नाड़िया पिङ्गला एवं सुषुम्णा के पार्श्वों में स्थित हैं। आधुनिक शारीरविदों के अनुसार सुषुम्णा मस्तिष्क का ही पृष्ठगत अंश और विस्तार है।[२]

इडा, पिङ्गला और सम्बद्ध षड्चक्र

मूलाधार (Pelvix pelexus), स्वाधिष्ठान (Inferior mesenteric plexus) मणिपूर (Solar plexus), अनाहत (Cardiac and Pulmonary plexus) विशुद्ध (Vital centres in the medulla) तथा आज्ञाचक्र (Optic Thalami) की स्थिति भी यद्यपि सिर के बाहर ही होती है तथा उनका कर्म भी मस्तिष्क से अंशतः स्वतंत्र होता है तथापि उनका केन्द्र शिर में माना गया है। यही केन्द्र आज्ञाकन्द (Thalamus) है। अ० पु० में निर्दिष्ट आज्ञाचक्र के प्रसंग में उपन्यस्त केन्द्र पद का अर्थ इसी (Thalamus) से ही है। इडा एवं पिङ्गला स्वतंत्र नाड़ी संस्थान (Autonomous Nervous System) की नाडियाँ है। इस स्वतंत्र नाडी संस्थान को आधुनिकों ने दो में

१—मेरोर्बहियाप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे, मध्ये नाडी सुषुम्णा सकलसरजिसजान् मेरुमध्यान्तरस्थान् भित्वा देदीप्यते सा ॥
षड्चक्र निरुपण ।
सुषुम्णा चव्यवल्लीव मेरुमध्ये परिस्थिता । (शारदातिलक)
ग्रीवान्तं प्राप्य गलिता तिर्यग्भूता । षड्चक्र निरुपण टीका ।
नाड्योऽनन्ताः समुत्पन्नाः सुषुम्णापञ्चपर्वसु । (शारदातिलक)

२—The extention of the brain downwards is medulla spinalis, more usually known as the Spinal Cord. Human Physiology by Helliburton.

विभक्त किया है। परिस्वतंत्र मण्डल (Para sympathetic system) मध्य स्वतंत्र मण्डल (Sympethelc system) की दो स्वतंत्र शृंखलायें (Gangliated cords) हैं। पृष्ठ-वंश के दोनों ओर क्रमशः वाम और दक्षिण भागों में स्थित हैं और यही वस्तुतः इडा-पिङ्गला समझी जा सकती है।

इस प्रकार त्रिदोष के अन्तर्गत वात तथा उससे सम्बद्ध विषय की पर्याप्त सामग्री अ० पु० में निहित प्रतीत होती है।

दोष-प्रकोप

मैथुन (व्यवसाय), गुरु कर्मों के करने, कदन्न (कंगु आदि) के भोजन तथा शोक के कारण वायु कुपित हो जाती है।[१] चरक[२] एवं सुश्रुत[३] ने वात-प्रकोप के कारणों का विशद रूप से उल्लेख किया है। विदाहि, अतितीक्ष्ण, आतप एवं अग्नि-सेवन, उष्ण-अन्नपान तथा अतिमार्गगमन करने वालों का पित्त कुपित हो जाता है।[४] चरक ने निदान (१।२२) के प्रसंग में पित्त प्रकोपक कारणों की अति विस्तार से चर्चा की है। अत्यन्त जल पीने से, गुरु अन्न के भोजन से तथा भोजन के अनन्तर शयन करने वाले व्यक्तियों का श्लेष्मा कुपित हो जाता है।[५] चरक में श्लेष्म-प्रकोपक कारण अतिविस्तार से वर्णित हैं।[६]

त्रिदोषज व्याधियाँ एवं उनकी संक्षिप्त चिकित्सा

अग्नि पुराण ने इसी प्रसंग में कतिपय वातज, पित्तज एवं श्लेष्मज व्याधियों का उल्लेख भी कर डाला है। अस्थि भंग, मुख का कषाय स्वाद एवं शुष्क होना, जृम्भा एवं लोमहर्ष को वातिक व्याधि को लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[७] इसी प्रकार नख, नेत्र एवं शिराओं की पीतता, मुख की कटुता, तृष्णा, दाह एवं उष्णता को पित्त व्याधि का निदर्शक माना गया है।[८] आलस्य, प्रसेक,

---

१—अ० पु०, ३८०।४०-४१.

२—चरक, सूत्र० १२।७.

३—सु० नि०, २१।१९.

४—अ० पु०, २८०।४१-४२.

५—अ० पु०, २८०।४२-४३.

६—चरक, नि० १।२५.

७—अ० पु०, २८०।४४.

८—अ० पु०, २८०।४५.

गुरुता, मुख की मधुरता एवं उष्णभिलाषिता को श्लैष्मिक व्याधि के लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[1]

जहाँ तक इन दोषों के चिकित्सा-सूत्र का प्रश्न है उसे भी अग्निपुराण ने पूर्ण किया है। स्निग्ध एवं उष्ण अन्न, अभ्यंग, तैलपान आदि को वातशामक माना गया है। पित्त-शान्ति के निए घृत (आज्य), क्षीर, शर्करा तथा चन्द्र की शीतल रश्मियों का सेवन उपकारी वताया गया है। अन्त में कफ नाशन के लिए अ० पु० ने मधु सहित त्रिफला तैल एवं व्यायाम के सेवन को अति उपयोगी माना है। सर्वरोग-शान्ति के लिये तो भगवान् विष्णु का पूजन एवं ध्यान अति उपयोगी है।[2]

रसादि धातुओं की उत्पत्ति एवं उनके कर्म

रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र की गणना धातुओं के अन्तर्गत आती है।[3] इन्हीं धातुओं के अनन्तर समस्त धातुसारभूत ओजस् का भी उल्लेख अ० पु० ने किया है।[4] अभ्यवहृत भोजन पक्वाशय में जाकर दो विभागों में विभक्त हो जाता है अर्थात् परिपक्व अन्न का जो रस बनता है उसके दो विभाग हो जाते हैं—एक प्रसाद भाग तथा दूसरा किट्ट भाग। प्रसाद भाग से उत्तरोत्तर धातुओं की उत्पत्ति होती है। भोजन के किट्ट भाग से विष्ठा, मूत्र आदि की उत्पत्ति होती है। रस का मल कफ तथा रस के प्रसाद भाग से रक्त तथा रक्त के प्रसाद भाग से मांस की तथा किट्ट भाग से पित्त की उत्पत्ति होती हैं। मांस के प्रसाद भाग से मेदस् धातु की तथा किट्ट भाग से मल की उत्पत्ति होती है। मेदस् धातु के प्रसाद-भाग से अस्थि की तथा किट्ट भाग से स्वेद की तथा अस्थि के प्रसाद भाग से मज्जा की तथा किट्ट भाग से केश, लोम, एवं नख; मज्जा के प्रसाद भाग से शुक्र की तथा किट्ट भाग से त्वचा एवं अक्षिमल की उत्पत्ति होती है। शुक्र को अन्तिम सप्तम धातु माना गया है तथा इसका कोई किट्ट नहीं होता।[5] ओज शुक्र के अनन्तर सर्वधातुसार रूप एक प्रकार की विशिष्ट धातु है जो समस्त शरीर में संचारित है।[6] अग्नि पुराण (२४०।७-१०)

१—अ० पु०, २८०।४६.
२—अ० पु०, २८०।४७-४८.
३—अ० पु०, २८०।९-१०.
४—अ० पु०, २८०।१०.
५—अ० पु०, २८०।७-१०.
६—अ० पु०, २८०।१० तथा पीतवर्ण ओज (परभाग) हृदय में रहता है इसका भी अ० पु० को सम्यग् ज्ञान था—

का यह उपर्युक्त वर्णन चरक (चि० १५।१८-१९) पर आधारित प्रतीत होता है।

धातुओं के कार्यों का संक्षिप्त वर्णन अष्टांग संग्रह (सूत्र० १।३२-३३) के आधार पर ही अग्निपुराण ने किया है। इसके अनुसार प्राणियों के देह में रस धातु का कार्य शरीर-प्रीणन, रक्त का जीवन, मांस का लेपन, मेदस् का स्नेहन, अस्थि का धारण, मज्जा का पूरण तथा शुक्र का कार्य गर्भोत्पादन करना है।[1] मलों की उत्पत्ति का निदर्शन धातूत्पत्ति के प्रसंग में किया जा चुका है।

अग्निपुराण की एतद् अध्याय के विषय से सम्बद्ध समग्र सामग्री अष्टांग संग्रह से गृहीत प्रतीत होती है। अ० पु० कार ने कहीं-कहीं तो तदात्मक ही निरुपण कर दिया है और कहीं-कहीं तो इसका संक्षिप्तीकरण भी प्रस्तुत किया है।

ओजःशुक्रात् सारतरमापीतं हृदयोपगम्। अ० पु० ३६९।४२.

१—अ० पु० ३७०।४०-४१.

तृतीय अध्याय

शारीर शास्त्र की विविध सामग्री

शरीर-रचना

आयुर्वेद की संहिताओं[1] के समान ही अ० पु०[2] ने शरीर को दो सक्थि, दो बाहु, शिर (मूर्धा) एवं अन्तराधि (जठर)—इस प्रकार छः अङ्गों (षडङ्ग) में विभक्त किया है। अष्टांग संग्रह (शा० ५।३) नेत्र, नाभि एवं पाणि-पाद को प्रत्यंग नाम से अभिधान करता है।

शरीर का प्रविभाग

वृद्धवाग्भट ने शरीर के प्रविभागों के अन्तर्गत त्वचा, कला, दोष, धातु, मल, ज्ञानेन्द्रिय (बुद्धीन्द्रिय), तदधिष्ठित कर्मेन्द्रिय, मनस् (अतीन्द्रिय), आशय, प्राणायतन, कण्डरा, जाल, कूर्च, रज्जू, सीवनी, अस्थिसंघात, सीमन्त, अस्थि, अस्थि सन्धि, स्नायु, पेशी, सिरा, धमनी, स्रोतस्, उष्मा, मर्म, केश, श्मश्रु, लोम, प्रकृति एवं विकृति का परिसंख्यान किया है।[3]

अग्निपुराण[4] ने उपर्युक्त सामग्री का वर्णन अष्टांग संग्रह के क्रमानुसार ही प्रस्तुत किया है। इस प्रकरण में उपलब्ध शारीर सामग्री का निरूपण इसी क्रम से प्रस्तत है।

त्वचा

जिस प्रकार दूध के पकाने पर उस पर मलाई (सन्तानिका) आ जाती है,

१—(अ) द्वौ बाहू, द्वे सक्थिनी, शिरोग्रीवम्, अन्तराधिरिति षडंगम्। चरक, शा०, ७।५.

(आ) शाखा चतस्रः मध्यं पञ्चमं षष्ठं शिर इति। सुश्रुत शा०, ५।३.

(इ) शिरोऽन्तराधिर्द्वौ बाहू सक्थिनी च समासतः। षडङ्गमंगं····। आ० हृ०, शा० ३.

२—षडंगं सक्थिनी बाहुर्मूधा जठरमीरितम। अ० पु०, ३६९।४२ तथा द्रष्टव्य याज्ञ०, प्राय० ८४.

३—अ० सं०, शा० ५।२३.

४—द्रष्टव्य ३६९ एवं ३७० अध्याय.

उसी प्रकार रक्त की उष्मा से ही रक्त के पाक होने पर छः प्रकार की त्वचायें उत्पन्न होती हैं। चरक (शा० ७।४) ने छः, याज्ञवल्क्य ने छः (प्राय०, ८४) और सुश्रुत ने सात त्वचायें मानी हैं। यद्यपि अ० सं० कार भी छः त्वचा (शा० ५।२६–३३०) का ही उल्लेख करता है किन्तु वह एकीय मत से सप्तम (शा० ५।२७, ३३) त्वचा का भी वर्णन कर देता है। त्वचा की निर्मलता से ही रक्त की स्वच्छता प्रतीत होती है। अ० पु० का एतद् विषयक उल्लेख बहुत ही संक्षिप्त है जो अष्टांगसंग्रह पर पूर्णतया आधारित प्रतीत होता है। अन्तर केवल इतना है कि अ० पु० कार ने त्वचा के प्रमाण का बिलकुल उल्लेख नहीं किया है। अ० सं० के अनुसार त्वचा के बाह्य भाग की ओर से प्रथम बाह्य त्वचा का नाम **अवभासिनी** है। सुश्रुत ने भी यही नाम दिया है किन्तु चरक के अनुसार (शा० ७।४) इसका नाम **उदकधरा** है। आ० पु० ने इस प्रथम त्वचा का कोई नामकरण नहीं किया है और आधुनिक शारीरविदों के अनुसार यह Epidermis के अन्तर्गत Stratum corneum है। अ० पु० ने जहाँ एक ओर सभी त्वचा के प्रमाण का उल्लेख नहीं किया है वहीं दूसरी ओर उसके कर्मों का निर्देश भी नहीं किया है। इतना ही नहीं अपितु साथ ही साथ उनमें होने वाले सुश्रुतोक्त रोगों का निर्देश भी नहीं किया है। द्वितीय त्वचा का नाम अ० पु० ने **रुधिरधारिका** दिया है जो सुश्रुत के अनुसार **लोहिता,** चरक तथा अ० सं० के अनुसार **असृग्धरा** है जिसको आधुनिक शारीर शास्त्र के अनुसार Stratum Lucidum कह सकते है। तृतीय त्वचा का नाम अ० पु० कार ने **विलास-धारणी** दिया है जो कि लिपिकार के प्रमाद से **किलासधारणी** का विकृत रूप प्रतीत होता है क्योंकि चरक एवं अ० सं० ने इसका नाम नहीं लिया है और इसको सिध्म और किलास का अधिष्ठान माना है। सु० ने इसका **श्वेता** नाम दिया है। जहाँ प्रमाण की चर्चा आई है वहाँ वृद्ध वाग्भट ने उस प्रसंग में इसे सुश्रुतानुसार **श्वेता** कह डाला है। चतुर्थी त्वचा का नाम तृतीय के अनुसार अ० पु० में भ्रष्ट रूप में **कुण्डधारणी** आया है। चरक ने इसका कोई नामकरण नहीं किया किन्तु सुश्रुत एवं अ० सं० ने इसका नाम **ताम्रा** दिया है। वस्तुतः अ० पु० का भ्रष्ट नाम कुण्डधारणी के स्थान पर **कुष्टधारणी** होना चाहिए था क्योंकि चरक और अं० सं० मे उसे सर्वकुष्ठाधिष्ठान माना है। पञ्चम त्वचा का नाम सुश्रुत और अ० सं० दोनों में **वेदनी** आया है पर चरक ने कोई नाम नहीं लिया है। अ० पु० ने पञ्चम त्वचा का नाम विद्रधिस्थान बताया है यह भी चरकानुसार विद्रधिसंभवाधिष्ठाना होना चाहिये। षष्ठी त्वचा का नाम सुश्रुत और अ० सं० में **रोहिणी** आया है पर अ० पु० ने इसका नाम **प्राण-**

धरा दिया है। चरक ने इसका नामकरण न कर इसे सबसे अन्त में बताया है और कहा है जिसके कट जाने पर व्यक्ति को अन्धकार सा दीख पड़ने लगता है और सम्भवतः इसी आधार पर अ० पु० ने अ० सं० का आश्रय लेकर प्राणधरा संज्ञा नाम दिया हो। अ० पु० ने सुश्रुत और अ० सं० के द्वारा पठित सप्तमी मांसधरा त्वचा का उल्लेख नहीं किया है।

कला

धातु और आशय के मध्य में जो क्लेद रहता है वह क्लेद अपनी ही उष्मासे परिपक्व होकर स्नायु, श्लेष्मा एवं जरायु से आवृत, धातु के सार भाग से अवशिष्ट तथा रस के शेष भाग से निर्मित वस्तु को कला कहा गया है।[1] कला आशयों के आभ्यन्तर लगी होती हैं जिसे आधुनिक-शारीर-शास्त्र की परिभाषा में Mucous Membrane कह सकते हैं।

अ० पु० में कला-निर्माण के विषय में उपर्युक्त कोई भी विवेचन उपलब्ध नहीं होता। त्वचा के समान ही यहाँ पर (३६९।४४–४५) कलाओं का परिसंख्यान हुआ हैं और उनकी संख्या ७ बताई गई है। यह एतद् विषयक समस्त वर्णन सुश्रुत और अ० सं० के समान ही है। अ० पु० कार केवल नाम लेकर उनका अति संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करता है। प्रथम का नाम मांसधरा है, द्वितीय कला का नाम अ० पु० कार ने रक्तधारणी कहा है। इसी प्रकार सुश्रुत और अ० सं० में दोनों का नाम रक्तधरा आया है। अ० सं० के समान ही अ० पु० ने इस कला की उपस्थिति यकृत् और प्लीहा में मानी है। तीसरी मेदोधरा का नाम उपर्युक्त तीन ग्रन्थों में आया है। अ० पु० कार केवल उसका नाम लेकर मौन हो गये हैं पर अ० सं० ने इसकी उपस्थिति उदर तथा लघु अस्थियों में मानी है, इसके अतिरिक्त उन्होंने मस्तिष्क में मस्तुलुङ्ग एवं स्थूल अस्थियों में इसे मज्जा के नाम से कहा है। चौथी श्लेष्मधरा कला भी उपयुक्त तीनों ग्रन्थों में उल्लिखित है, जिसकी उपस्थिति का निर्देश अ० सं० कार ने समस्त संधियों में बतलाया है। पञ्चमी पुरीषधरा नाम की कला का भी निर्देश उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों में है। इस कला की उपस्थिति स्पष्ट शब्दों में अ० पु० कार ने सुश्रुत और अ० सं० के समान पक्वाशय में मानी है। छठी पित्तधरा कला के नाम की भी चर्चा इन उपर्युक्त ग्रन्थों में आई है। अ० पु० कार केवल नाम देकर मौन हैं। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में इसकी उपस्थिति ग्रहणी में बताई गयी है और सातवीं

१—अ० सं० शा०, ५।३४.

शुक्रधरा कला की चर्चा तीनों ग्रन्थों में आई हैं और सातवीं का अ० पु० कार यहाँ भी नाम निर्देश कर मौन हो गये हैं उन्होंने सुश्रुत और अ० सं० के अनुसार वर्णित स्थिति का उल्लेख नहीं किया हैं। आयुर्वेदीय ग्रन्थों के अनुसार दक्षिण पार्श्व में दो अङ्गुल वस्ति द्वार के नीचे मूत्र मार्ग में स्थित यह कला होती है, इसके द्वारा ही सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त शुक्र वहार निकलने समर्थ होता है।

दोष

अ० पु० ने वात, पित्त एवं कफ की संज्ञा दोष के नाम से दी है और उनका स्पष्टतः उल्लेख (२८०।६) धातु, रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र की गणना धातु के रूप में अ० पु० ने की है (३६९।४०–४१)।

मल

अ० पु०कार ने विट्, मूत्र, स्वेद, दूषिका, नासा-मल, कर्ण-मल तथा देहमल की गणना मलों में की (२८०।८) है। मलोत्पत्ति के विषय में समग्र विवरण शरीर-क्रिया-विज्ञान के अवसर पर प्रस्तुत किया जायेगा।

बुद्धीन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय)

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, एवं घ्राण की गणना बुद्धीन्द्रिय के रूप में की गई है। इसी प्रसंग में अ० पु० ने अ० सं० का अनुसरण करते हुए उपर्युक्त भूतों के गुणों को क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध के रूप में उल्लेख किया है। (अ० पु०, ३७०।१)

कर्मेन्द्रिय

पायु, उपस्थ, कर, पाद एवं वाणी की गणना कर्मेन्द्रिय के रूप में की गई है। इसी के साथ-साथ क्रमशः इन इन्द्रियों के कर्मों, उत्सर्ग, आनन्द, ग्रहण एवं वाक् का भी उल्लेख अ० पु० (३७०।२) ने अ० सं० (शा० ५।४४) के अनुसार किया है।

आशय

आशय से तात्पर्य उस प्रकार की रचना से हैं जिसमें कोई धातु संचित होकर रह सके। इसका वर्णन सुश्रुत और अ० सं० के समान ही है। अ० पु० ने अ० सं० के समान ही उसी क्रम से रुधिराशय, श्लेष्माशय, आमाशय, पित्ताशय, वाताशय, मूत्राशय, पित्ताशय एवं पक्वाशय के मध्य गर्भाशय इस प्रकार आठ आशयों का उल्लेख किया है (अ० पु०, ३७०।६-७)।

आशयानुबद्ध कोष्ठांग

अ० पु० ने आशयों से बद्ध वृक्क, फुस्फुस, प्लीहा, यकृत्, हृदय, वपा एवं उण्डुक इस प्रकार सात कोष्ठांगो का उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में अ० पु० ने एक भ्रष्ट श्लोक उद्‌धृत किया है—

> बुकात्पुक्सप्लीहाक्तकोष्ठाङ्गहृद्व्रणाः ।
> तण्डकश्च महाभाग निबद्धान्याशये मतः ॥
>
> अ० पु० ३७०।११.

वस्तुतः यह श्लोक इस प्रकार शुद्ध किया जा सकता है—

> वृक्कौ फुस्फुसप्लीहायकृत्कोष्ठाङ्गहृद्वपाः ।
> उण्डुकश्च.... ....

सु० ने कोष्ठांग की गणना इस प्रकार की है—

> स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च ।
> हृदुण्डुकः फुस्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥
>
> (शा०, २।१२).

चरक ने (शा०, ७।१०) १५ कोष्ठांग माने हैं।

अ० पुराणोक्त इन आशयानुबद्ध कोष्ठांगों की उत्पत्ति का निर्देशन इस पुस्तक के गर्भावक्रान्ति विषयक चतुर्थ अध्याय में किया गया है।

प्राणायतन

शरीर में कुछ ऐसे स्थल एवं अवयव हैं जिनपर किसी प्रकार का आघात लगने पर प्राण का वियोग हो सकता है। प्राणायतन से तात्पर्य है जो प्राणों का विशेष रूप से स्थान हो। चरक ने (शा०, ७।९) १० प्राणायतनों की निम्न प्रकार से गणना की है—

(अ) मूर्धा, कण्ठ, हृदय, नाभि, गुद, बस्ति, ओज, शुक्र, शोणित, मांस।
(आ) दशैवयातनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः ।
　　शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रोजसी गुदम् ॥ चरक, सूत्र० २९।३.

अ० सं०कार ने—

मूर्धा, जिह्वा, बन्धन, कण्ठ, हृदय, नाभि, बस्ति, गुद, शुक्र, ओज एवं रक्त की गणना प्राणायतनों में की (शा०, ५।५९) है।

याज्ञवल्क्य ने भी १० प्राणायतन (प्राय०　　) माने हैं। अग्नि पुराण ने

चरक के समान ही दश प्राणयतनों की गणना की है (३७०।२१-२२) पर उन्होंने चरकोक्त ओजस् के स्थान पर जिह्वा एवं मांस के स्थान पर गुल्फ को प्रस्तुत किया है।

कण्डरा

स्नायु के चतुर्विध भेदों में वृत्त या गोल स्नायुओं को कण्डरा कहा गया है (सु० शा०, ५।३९)। इसके अतिरिक्त पेशियों के शुभ्र एवं प्रान्त भाग को कण्डरा कहा गया है। नाडी अर्थ में भी सु० ने कण्डरा शब्द का उल्लेख गृध्रसी रोग के प्रसंग में किया है (नि०, १।७९)। आधुनिक शरीर शास्त्र की परिभाषा में इसे (Tendon) अथवा Nerve (Cordliac Tendon) कहा जा सकता है। अग्नि पुराण का कण्डरा का षोडशविध विभाग अ० सं० (शा०, ५।६१) पर पूर्णतया आधारित है। अग्नि पुराण (३७०।२२-२३) में इसकी संख्या इस प्रकार है—प्रत्येक हाथ और पाँव में दो-दो इस प्रकार आठ, ग्रीवा में चार-चार और पृष्ठ में चार-चार इस प्रकार समग्र रूप में १६ प्रकार की कण्डरायें अग्नि पुराण में अ० सं० के समान उल्लिखित है। आधुनिक शारीर-शास्त्र के दृष्टिकोण से नख, लिङ्ग (Penis), नितम्ब और शिर कण्डराओं के अंकुर से विकसित माने जाते हैं।

जालक

मांस, सिरा, स्नायु एवं अस्थि से जालक का निर्माण होता है। इसे आधुनिक शरीर-शास्त्र की भाषा में Rete or Plexus or Network or interlacing or Decuasation कहते हैं। इसकी संख्या सुश्रुत (शा०, ५।१२) और अ० सं० (शा०, ५।६२) के समान अग्नि पुराण ने १६ ही मानी है। प्रत्येक गुल्फ और मणिबन्ध में इन चारों के जाल परस्पर एक दूसरे से झरोखे के समान फसे हुए हैं। इस प्रकार मणिबन्ध और गुल्फ में आठ-आठ जालक मिलकर १६ जालक होते हैं (अग्नि पुराण, ३७०।२३-२४)।

कूर्च

कूर्च या Brush के समान सौत्रिक धातु की बनी हुई रचनायें हैं। जैसे करतलिक स्नायु, पादतलिका स्नायु, ग्रीवाधर स्नायु, शिश्न की उत्तोलिका स्नायु। आधुनिक शरीर-शास्त्र के अनुसार यह Brush like fibrous or membranous strutures. Palmer and Planter aponeuroses, Liganemtum nuchae, Fundiform or suspensory ligment of

penis है। इसकी संख्या अग्नि पुराण (३७०।२५) ने अ० सं० के समान ही ६ मानी है जिसकी स्थिति दो हाथों, दो पैरों, एक ग्रीवा तथा एक मेढ्र में हैं।

मांस रज्जु

पृष्ठ वंश की लम्बी-लम्बी मांस पेशियाँ (Great musclotedinous bands or Cords) ही मांस रज्जु हैं। सुश्रुत (शा०, ५।१४) एवं अ० सं० (५।१४), के समान ही अग्नि पुराण (३७०।२७) ने ४ प्रकार के मांस रज्जु बतलायी हैं और यह मांस-रज्जु पृष्ठ वंश में दो आभ्यन्तर की ओर और दो बाहर की ओर स्थित हैं।

सीवनी

अस्थियों के त्वचा और कला के जोड़ों को जोड़ने वाली वस्तु सीवनी कहलाती है। आधुनिक शारीर-शास्त्र की भाषा में इसे (Stures or Raphe) कहते हैं। सुश्रुत (शा०, ५।१५) एवं अ० सं० (शा०, ५।६५-६७) के समान अग्नि पुराण (३७०।२६-२७) ने सप्त सीवनियों की गणना की है पर उन्होंने सीवनी के स्थान पर सारिणी का उल्लेख किया है। अग्नि पुराण ने अ० सं० के शब्दों में ही सिर में पाँच, जिह्वा तथा मेहन में एक-एक सीवनी मानी है। अ० सं० एवं सुश्रुत के अनुसार शस्त्रकर्म में यह सर्वथा परिहरणीय है।

अस्थिसंघात एवं सीमन्त

अ० पु० कार ने यद्यपि अ० सं० के शरीर विषयक सामग्री के वर्णन में अक्षरशः अनुपूर्विता दिखाई है किन्तु अष्टाङ्गसंग्रहोक्त (शा०, ५।६६–६७) अस्थि संघात एवं सीमन्त के वर्णन में सर्वथा मौन हैं। वस्तुतः अस्थि संघात का साधारण अर्थ अस्थि समूह है जो कि परस्पर गुल्फ जाँघ, वंक्षण, मणिबन्ध कूर्पर और कक्ष तथा त्रिक और शिर में एक-एक इस प्रकार १४ अस्थि समूह के कारण बनता है और इसी प्रकार सीमन्त भी एक प्रकार की सीवनी ही है यह अस्थियों के सीवनी की तरह दिखाई देने वाली अस्थि रेखायें हैं। ये १८ बताई गई हैं। ये उपर्युक्त अङ्गों में १२, त्रिक में एक, शिर में पाँच, इस प्रकार १८ हैं। अस्थि संघात और सीमन्त का समावेश अस्थि के अन्तर्गत हो जाने के कारण अग्निपुराण ने इनका पृथक् वर्णन नहीं किया है।

अस्थि

अग्निपुराणकार ने अस्थि का परिगणन शरीर-अवयव के साथ किया है।

केवल ३६० संख्या बतलाकर तथा संक्षेप्ता ने याज्ञवल्क्य स्मृति के आधार पर उनका निदर्शन कराकर इसका वर्णन चार-पाँच श्लोकों (३७०।२९–३३) के आभ्यन्तर प्रस्तुत किया है। वास्तव में शरीर का मूल आधार अस्थि है जिस प्रकार वृक्ष अपने तनों पर खड़े हैं उसी प्रकार शरीर की सभी धातुएँ इसी में संलग्न हैं और इसी में मांसपेशियाँ, स्नायु आदि निबद्ध हैं (सुश्रुत, शा०, ५।२३–२५)। इसके अतिरिक्त उन्होंने शरीर धारण करने के अतिरिक्त मज्जा की पुष्टि करना भी इसका एक कर्म बताया है (सुश्रुत, सूत्र १५।५)। जहाँ तक अस्थि की संख्या का प्रश्न है वहाँ चरक, कश्यप, याज्ञवल्क्य एवं अ० सं० सभी वेदवादी ३६० अस्थियाँ मानते हैं पर सुश्रुत ने ३०० अस्थियाँ मानी हैं। आधुनिक शारीरविद् इसकी संख्या २०६ बतलाते हैं। सु० ने नख एवं दन्तोदूखल को अस्थि में नहीं गिना है अतएव उनकी संख्या ३०० हो जाती है। अग्निपुराण के संग्रहकार को यह ज्ञात था कि आयुर्वेद में अस्थि संख्या को लेकर दो विचारधारायें प्रचलित हैं इसलिये उसने याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रायश्चित्ताध्याय के चतुर्थ अध्याय (८४-९०) के आधार पर अ० सं० (शा०, ५।६८-७१) से यह सामग्री ग्रहण की। अग्नि पुराण ने उन सभी अशुद्धियों का परिमार्जन नहीं किया जो चरक एवं कश्यप ने दन्तोदूखल को अस्थि मान कर अपना विचार प्रस्तुत किया था। वस्तुतः यह तो तरुणास्थि की वृद्धि है। इसी प्रकार की एक दूसरी अशुद्धि इन वेदवादियों एवं शल्यवादियों से हुई प्रतीत होती है जहाँ उन्होंने पर्शुकास्थि की संख्या ७२ मान ली जो कि वस्तुतः २४ होनी चाहिये। यह अशुद्धि इसलिये हुई उन्होंने उसके स्थालकों एवं अर्बुदों को भी अस्थि मान लिया जो कि इस प्रकार मानना ठीक नहीं था। इसी प्रकार की विषमता अङ्गुल्यस्थि, पृष्ठास्थि, ग्रीवास्थि एवं हस्त पाद की कूर्चास्थियों को लेकर भी हुई है। इतना ही नहीं अपितु अग्नि पुराण ने त्रिकास्थि, अनुत्रिकास्थि, गण्डास्थि, अश्वस्थि, कण्ठकास्थि, मुद्गरास्थि, अंकुशक, धरणक एवं वक्षोऽस्थि जैसे प्रमुख अस्थियों का पूर्णरूपेण वर्णन नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन शारीरविदों ने सदैव क्षुद्रास्थियों के पहचानने में सर्वथा अशुद्धि की है। इसी प्रकरण से सम्बद्ध एक तुलनात्मक तालिका इसी निमित्त यहाँ प्रस्तुत की जा रही है जिससे यह विषय और स्पष्ट हो जायेगा।

यद्यपि अग्नि पुराण अस्थियों की संख्या ३६० ही बताता है पर गणना करने पर वह ३६१ ठहरती है। अग्नि पुराण ऊर्ध्व एवं अधः दो हनुअस्थियों के स्थान पर चरक एवं सुश्रुतवत् तीन हनुअस्थियों का उल्लेख करता है और मणि-

मानव शरीर की अस्थिगणना परिचायक तालिका

अस्थि नाम	अर्वाचीन शारीरशास्त्र	अग्निपुराण	याज्ञवल्क्यस्मृति	चरक	सुश्रुत	अष्टांग संग्रह	काश्यप
१	२	३	४	५	६	७	८
१. दन्त	Teeth X	३२	३२	३२	३२	३२	३२
२. दन्तोदूखल	Sockets of teeth X	३२	स्थालक ३२	३२	X	३२	३२
३. नख	Nails X	२०	२०	२०	X	२०	२०
४. अंगुल्यस्थि	Phalanges ५६	६०	६०	६०	६०	६०	६०
५. शलाकास्थि (हस्त + पाद)	Metacarpal & Metatarsal २०	२०	२०	२०	२०	२०	२०
६. प्रकोष्ठास्थि (अन्तः + बहिः)	Ulna & Radius ४	४	अरलि ४	अरलि ४	४	४	अरलि ४
७. जंघास्थि (अन्तः + बहिः)	Tibia & Febula ४	जंघा ४	जंघा ४	४	४	४	४
८. जान्वस्थि	Patella २	जानुकपाल २	जानुकपाल २	२	२	२	जानुकपालिका २
९. मणिक	Elbow Pans X	२	२	मणिक २	X	२	हस्तमणिक २
१०. ऊर्वस्थि	Femur २	ऊरुनलक २	ऊरुनलक २	ऊरुनलक २	ऊरुनलक २	२	२

१	२	३	४	५	६	७	८
११. प्रगण्डास्थि	Humerus २	×	×	बाहुनलक २	बाहुनलक२	२	२
१२. अक्षक	Clavicle २	अक्ष २	अक्ष २	अक्ष २	×	अक्षक २	अक्षक २
१३. अंसफलक	Scapula २	अंशक २	अंशक २	अंसफलक२	अंसफलक २	अंसफलक २	अंसफलक २
१४. उरोऽस्थि	Sternum १	१७	१७	१७	८	८	उरोस्थि १४
१५. कशेरुक (पृष्ठ)	Vertebrae १७ Spinal	पृष्ठास्थि४५	४५	पृष्ठगत ३५	३०	३०	४५
१६. कशेरुक (ग्रीव)	Vertebrae ७ Cervical	१५	१५	१५	९	१३	१५
१७. जत्रु	Trachea & X Bronchi	१	१	१	कण्ठनाडो ४	कण्ठनाडी ४	जत्रु १
१८. श्रोणिगुहा—							
(अ) त्रिकास्थि	Sacrum १	×	×	१	त्रिक १	१	१
(इ) अनुत्रिकास्थि	Coccyx १	×	×	१	गुद १	१	१
(उ) जघनास्थि	Illeum, ×	२	२	२	२	२	२
(उ) कुकुन्दरास्थि	Ischium						
(ऊ) भगास्थि	Pubis २	१	१	१	१	१	१

१	२	३	४	५	६	७	८
१९. कूर्पर (कूट)	Olecranon X	×	×	२	२	१	१
२०. पार्ष्णि	Oscalcis* २	२	२	२	२	२	२
२१. शिरः कपाल	Cranium						
(अ) पुरः कपाल (इ) पार्श्व कपाल (उ) पश्चात् कपाल (ऊ) जतूकास्थि (ए) झर्झरास्थि	Frontal-१ Parietal-२ Occipital १ Sphenoid १ Ethmoid १ } ६	२+४=६	२+४=६	गण्ड कर्ण शंख २+४=६	२+४=६	२+४=६	२+४=६
२२. शंखास्थि	Ostemporale २	२	२	२	२	२	२
२३. ऊर्ध्व हन्वस्थि	Maxilla २	२	२	२	२	२	२
२४. अधो हन्वस्थि	Mandible १	१	१	×	×	×	×
२५. नासा सुरंग	Ossa faciei २	१	१	३	३	३	३
२६. सीरिकास्थि	Vomer १	×	×	×	×	×	×
२७. ताल्वस्थि	Palate २	२	२	१	२	२	२
२८. अश्रुवस्थि	Lachrimal Bone२	×	×	×	×	×	×

* पादकूर्चास्थि में अन्तर्भूत ।

१	२		३	४	५	६	७	८
२९. अध:	Inferior turbinated	२	×	×	×	×	×	×
३०. गण्डास्थि	Molar	२	२	२	२	×	×	×
३१. कंठिकास्थि	Hyoid	१	ग्रीवास्थि के अन्तर्गत					
३२. पर्शुकास्थि	Ribs	२४	७२	७२	७२	७२	७२	७२
३३. करकूर्चास्थि	Carpal	१६	४	४	१०	१०	१०	१०
३४. पादकूर्चास्थि	Tarsal	१४	४+२=६*	४+२=६	१०	१०	१०	१०
३५. कर्ण की क्षुद्रास्थि	Ossicles of the Ear							
(अ) मुद्गर (इ) अंकुशक (उ) धरणक	Malleus २ Incus २ Stapes २	= ६	×	×	×	×	×	×
सर्वयोग		२०६	३६१	३६०	३६०	३००	३६०	३६३

* पादकूर्चास्थि में अन्तर्भूत ।

बन्ध के प्रवर्धन को छोड़ देता है। सुश्रुत ३० पृष्ठ वंश, ३० पृष्ठगत एवं कटिगत कशेरूक एवं ९ ग्रैवेयिक कशेरूकों की गणना करता है जबकि चरक उन्हें क्रमशः ३५ और १५ स्वीकार करता है। अग्नि पुराण उनकी संख्या ४५ और १५ तक कर देता है जो आधुनिक शारीर शास्त्र के अनुसार १७ और ७ होने चाहिये। यह पुराण ग्रैवेयिक कशेरुकों को कण्ठाकास्थि के सहित ग्रीवा अस्थि में परिणित कर देता है। सुश्रुताभिमत ४ कण्ठ-नाड्यस्थि के स्थान पर चरक और अग्नि पुराण केवल एक ही अस्थि मानते हैं। वस्तुतः इस श्वास प्रणाली एवं स्वरयंत्र में कोई भी अस्थि नहीं है और वस्तुतः वे तो चार तरुणास्थियाँ हैं जो कि उन पर लगी हुई हैं। इस प्रकार के विचार-विमर्श से यह सिद्ध हो जाता है कि अग्नि पुराण को इस विषय का तत्कालीन परम्परागत ज्ञान उपलब्ध था जिसको उन्होंने याज्ञवल्क्य स्मृति एवं अ० सं० से आनुपूर्वी उतार लिया और लिपिकारों के प्रमाद से इस स्थल का पाठ भ्रष्ट भी हो गया जो आजतक इसी रूप में चला आ रहा है। मैंने उन सभी श्लोकों को काश्यप और अ० सं० के आधार पर शुद्ध कर लिया है।

अस्थि-सन्धि

अ० पु० ने सुश्रुताभिमत अ० सं० के अनुसार अस्थि-सन्धियों की संख्या २१० मानी है। इनमें से उर्ध्व एवं अधः शाखा में ६८ एवं अन्तराधि में ५९, ग्रीवा से ऊपर ८३ इस प्रकार २१० सन्धियाँ ठहरती हैं।

इस प्रसंग में यह ध्येय है कि अ० पु० (३७०।३४) के इस श्लोक का पाठ भ्रष्ट एवं लुप्त प्रतीत होता है—

'अष्टषष्टिस्तु शाखासु षष्टिश्चैकविवर्जिता।

'अन्तरा त्रै, अशीतिश्च' इसमें 'अन्तरावै' के स्थान में 'अन्तराधौ' होना चाहिए एवं अशीति का सम्बन्धक अङ्ग उल्लिखित होना चाहिए। अतः यह समग्र विवरण सुश्रुत (शारीर ५।२७) से लिया गया प्रतीत होता है अतएव तदनुसार 'ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं' (ग्रीवा के ऊपर) यह पाठ सम्मिलित कर लेना आवश्यक समझा गया। इसी श्लोक का अन्तिम पाद स्नायुओं की संख्या का उल्लेख करता है।

स्नायु

अ० पु० कार (३७०।३४-३५) ने याज्ञवल्क्यस्मृति (प्राय०, ३।१००), सुश्रुत (शा, ५।२९) एवं अ० सं० (शा०, ५।७९) के आधार पर स्नायुओं

को संख्या ९०० बताई है। इनमें शाखाओं में ६००, अन्तराधि में २३० तथा ग्रीवा के उर्ध्व भाग में ७० इस प्रकार संख्या ९०० होती है। आधुनिक शारीर-विद् स्नायु को Tendon के नाम से पुकारते हैं।

पेशी

अ० पु० (३७०।३६-३८) में पेशी की संख्या ५०० बताई गई है। याज्ञ० (प्राय० ३।१००) ने ५०० पेशियों का परिसंख्यान किया है। इसके अतिरिक्त सुश्रुत (शा ५।३९) और अ० सं० (शा०, ५।९०) ने स्त्रियों में २० पेशियाँ और अधिक मानी हैं जिसका अनुसरण अ० पु० ने किया है। जहाँ तक पेशियों की गणना का प्रश्न है वे ग्रीवा के उर्ध्व भाग में ३४, शाखाओं में ४०० और अन्तराधि में ६६ मानी गई है और तभी सबका योग ५०० होता है। इसके अतिरिक्त स्त्री के स्तनों में १०, योनि में १३, गर्भाशय में ४, इस प्रकार २७ होती हैं। अ० सं० और सुश्रुत दोनों ने १० स्तन और १० योनि में पेशियाँ मानी हैं और स्तनगत पेशियाँ युवाअवस्था में पुष्ट होती हैं। यदि हम अ० पु० के अन्तराधि वाले ६० पेशियों को माने तो समस्त पेशियों की संख्या ५०१ ठहरती है।

सिरा

अ० पु० ने शिराओं का उल्लेख कर उनकी गणना नहीं की। पर सु० (शा० ७।३) और याज्ञ० (प्राय० ३।१००) ने उनकी संख्या ७०० बताई हैं।

सिरा एवं धमनी के सूक्ष्म विभाग

सिरा एवं धमनी के मुखाग्रों की गणना अ० पु० कार (३७०।३८-३९) ने चरक (शा ७।१५) एवं अ० सं० (५।९३) के समान की है। आधुनिक शारीरशास्त्र की भाषा में. धमनी के सूक्ष्म विभाग को Capillary या Arteiol और सिरा के सूक्ष्म भाग को Veinol कहा जाता है। इन मुखाग्रों की संख्या अ० पु० कार ने उपर्युक्त आयुर्वेद ग्रन्थों के आधार २९०९५६ बताई है। उनके अनुसार यह शरीर जाल के समान बँधा हुआ वस्त्र के समान फैला हुआ है।

रोम-कूप

अ० पु० कार (३७०।३९-४०) ने रोम-कूपों की संख्या ७२ करोड़ बताई है।

अञ्जलि प्रमाण

शरीरस्थ विभिन्न धातु, उपधातु एवं मलों के परिमाण का निर्देश चरक (शा० ७।१६) ने सर्वप्रथम किया हैं। सुश्रुत इस विषय में सर्वथा मौन है पर वृद्ध वाग्भट (अ० सं० शा० ५।९८) ने इसका निर्देश किया है। अ० पु० (३७०।३६-४३) ने विष्णु धर्मोत्तर पुराण (११, ११५, ९२-९४) से अक्षरश: पद्यबद्ध रूप में सन्दर्भ को उतार कर अ० सं० के आधार पर वर्णन किया है। अ० पु० के इस अञ्जलि प्रमाण में उपर्युक्त दोनों आयुर्वेदीय संहिताओं के वर्णन से कुछ संक्षिप्तता आ गई है। प्रथम यह कि चरक और अ० सं० ने उदक की दस अञ्जलि का निर्देश किया है जो कि अ० पु० में सर्वथा अनुल्लिखित है। चरक ने दुग्ध की अञ्जलि का निर्देश बिलकुल नहीं किया है। अ० सं० कार ने उसकी मात्रा दो अञ्जलि बताई है पर अ० पु० नें उसको समाविष्ट नहीं किया। यद्यपि चरक द्वारा अनुल्लिखित किन्तु अ० सं० द्वारा प्रतिपादित आर्त्तव की चार अञ्जलि का उल्लेख वृद्ध वाग्भट ने किया है। अ० सं० और अ० पु० के अञ्जलि प्रमाण वर्णन में एक वैशिष्टय यह भी है कि अ० पुराणकार ने मज्जा से आरम्भ कर रस पर्यन्त भावों का उत्तरोत्तर एक-एक संख्या की वृद्धि के साथ १० अञ्जलि तक उल्लेख किया है किन्तु अ० सं० का क्रम अ० पु० से सर्वथा विलोम है। वे इसका आरम्भ रस धातु से करते हैं और मज्जपर्यन्त प्रतिपादित कर अंतिम प्रमाण एक अञ्जलि का देकर शान्त हो जाते हैं।

प्रकृति भेद

शुक्र और आर्त्तव के गर्भाशय के आभ्यन्तर रहते समय तथा माता के आहार-विहार के सेवन से एक अथवा अनेक जो दोष प्रधान रूप में होते हैं उन्हीं वातादि दोषों से गर्भ की प्रकृति बनती है।

इस प्रकृति को मानस और शारीर भेद से दो प्रकार का कहा गया है। इनमें से भी मानस प्रकृतियाँ तामस, राजस एवं सात्विक भेद से तीन प्रकार की बताई गई हैं जिनका विशद उल्लेख गर्भावक्रान्ति के प्रकरण में किया जायेगा।

अ० पु०कार ने वात, पित्त एवं कफ भेद से तीन प्रकार की शारीर प्रकृति को दो पृथक् अध्यायों (अ० पु०, २८०।३६-३९, ३६९।३७-३९) में बतलाया है। ये सभी वर्णन अ० सं० के आधार पर ही निरुपित प्रतीत होते हैं अन्तर केवल इतना ही है कि पुराण ने आयुर्वेदिक ग्रन्थों की अपेक्षा अति संक्षेप में उनका वर्णन किया है (अ० सं० शा० ८)।

वातिक प्रकृति

अ० पु०कार ने अ० सं० के आधार पर वातिक प्रकृति का वर्णन करते हुये अति संक्षेप में उसके लक्षणों की चर्चा की है। उसके अनुसार बहुवातिक प्रकृति वाला व्यक्ति चपल, क्रोधी, भीरु, कलह-प्रिय और स्वप्न में आकाश में विचरण करने वाला होता है (अ० पु०, ३६९।३७) अ०पु०कार ने अन्यत्र (२८०।३६,३७) भी वातिक प्रकृति वाले व्यक्ति को उपर्युक्त लक्षण के अतिरिक्त कृश, अल्प केश वाला तथा विषमाग्नि से युक्त माना है।

पैत्तिक प्रकृति

इसका भी वर्णन अ०पु०कार ने दो स्थानों पर किया है। प्रथम प्रसंग में उन्होंने पैत्तिक प्रकृति के व्यक्ति का स्वरूप निरुपण करते समय कहा है कि पैत्तिक प्रकृति के व्यक्ति के अकाल में ही केश श्वेत हो जाते हैं। वह क्रोधी, अत्यन्त बुद्धिमान, रणप्रेमी तथा स्वप्न में भास्वर वस्तुओं का दर्शन करने वाला होता है। अ० सं० का निरुपण प्रायः ऐसा ही है (८।१३-१४)। अ० पु० (३६९।३८) में अन्यत्र (२८०।३७,३८) उपर्युक्त गुणों का इस प्रकृति के निरुपण में उल्लेख करते हुए केवल प्रस्वेदी इस विशिष्टि गुण का अधिक उल्लेख किया है।

श्लैष्मिक प्रकृति

अ० पु० के अनुसार श्लेष्मिक प्रकृति का व्यक्ति स्थित अङ्ग वाला, स्थिर मित्र वाला, स्थिर बुद्धि वाला, स्थिर उत्साह वाला, प्रचुर धन से युक्त तथा स्वप्न में जल और श्वेत प्रकाश को देखने वाला होता है (३६९।३९) है। अ० पु० ने अन्यत्र कफ प्रकृति के व्यक्ति के गुणों की चर्चा की है। वह कफ प्रकृति के व्यक्ति को दृढ़ अङ्ग वाला, स्थिर चित्त वाला, सुप्रभा से युक्त तथा चिकने केशों वाला माना है। इन दोनों वर्णनों (२८०।३८,३९) के आधार पर अ० सं० के एतत् विषयक श्लोक ही हैं (८।१३, १४)।

शरीर के प्रशस्त सामुद्रिक लक्षण

अग्निपुराणकार ने स्त्री[1] एवं पुरुष[2] के विविध अंगों के आदर्शमान को सामुद्रिक लक्षणों के माध्यम से व्यक्त किया है। इस प्रसंग में यह तथ्य ध्यान में

१—अ० पु०, अ०, २४४.

२—पूर्ववत्, अ०, २४३.

रखने योग्य है कि जैसा आयुर्वेदीय संहिताओं (चरक शा० ८।१२६; अ० सं०, ८।३०) में प्रतिपादित है, वैसा उल्लेख अग्निपुराण में नहीं हुआ है। अं० सं० कार ने अवश्वमेव प्रशस्त लक्षणों का उल्लेख किया है किन्तु अग्निपुराणोक्त एतद् विषयक निरूपण उससे कुछ भिन्न ही है। अ० सं० कार ने स्त्री एवं पुरुष के प्रशस्त लक्षणों की चर्चा एक ही प्रसंग में की है।

पुरुषगत प्रशस्त लक्षण

अ० पु० कार ने २८ पारिभाषिक लक्षणों के अन्तर्गत पुरुष की प्रशस्तता को बाँध दिया है और वे २८ प्रशस्त लक्षण इस प्रकार हैं—एकाधिक, द्विशुक्ल, त्रिगम्भीर, त्रित्रिक, त्रिप्रलम्ब, त्रिकव्यापी, त्रिवलीयुक्त, त्रिविनत, त्रिकालज्ञ, त्रिविपुल, चतुर्लेख, चतुस्सम, चतुष्किष्कु, चतुर्दंष्ट्र, चतुष्कृष्ण, चतुर्गन्ध, पञ्चसूक्ष्म, पञ्चदीर्घ, षडुन्नत, अष्टवंश, सप्तस्नेह, नवामल, दशपद्म, दशव्यूह, न्यग्रोधपरिमण्डल, चतुर्दश, समद्वन्द्व एवं षोडशाक्ष पुरुष।[1]

एकाधिक

धर्म, अर्थ एवं काम से संयुक्त लक्षणसमुच्चय को एकाधिक कहा गया है।[2]

द्विशुक्ल

तारकहीन नेत्र एवं उज्ज्वल दन्त पंक्ति से सुशोभित पुरुष द्विशुक्ल कहलाता है।[3]

त्रिगम्भीर

जिसके स्वर, नाभि एवं सत्त्व तीनों गम्भीर अर्थात् गहरे हों वह त्रिगम्भीर के नाम से अभिहित होता है।[4]

त्रित्रिक

ईर्ष्याराहित्य (अनसूया), दया, क्षमा एवं मंगलाचरण से युक्त होना, स्वच्छता, स्पृहा, औदार्य, अथकश्रम, तप एवं शूरता से विभूषित पुरुष त्रित्रिक माना गया है।[5] यह उपर्युक्त नौ गुण तीन-तीन के वर्गों में विभक्त होने के कारण त्रित्रिक नाम से बोधित होते हैं।

१—अ० पु०, २४३।२-७.

२—तदेव, २४३।७.

३—तदेव, २४३।८.

४—तदेव, २४३।८.

५—तदेव, २४३।९-१०.

त्रिप्रलम्ब

जिस मनुष्य के दोनों अण्डकोश (वृषण) एवं दोनों बाहु लम्बे हों वह त्रिप्रलम्ब कहलाता है।[१] प्रस्तुत प्रसंग में वृपण शब्द का शिश्न अर्थ करना उचित प्रतीत होता है क्योंकि वह संख्या में एक एवं दीर्घता का परिचायक है, जब कि अण्डकोश इस प्रकार का नहीं और लिङ्ग को मान लेने से तीन संख्या का औचित्य भी सार्थक हो जाता है।

त्रिकव्यापी

जो पुरुष अपने तेज, यश एवं कान्ति से देश, जाति, वर्ग एवं दसों दिशाओं को व्याप्त कर लेता है उसे 'त्रिकव्यापी' कहते हैं।[२]

त्रिवलीमान्

जिसके उदर में तीन रेखाएँ हों, वह 'त्रिवलीमान्' होता है।[३]

त्रिविनत

देवता, ब्राह्मण तथा गुरुजनों के प्रति जो व्यक्ति विनीत होता है उसे 'त्रिविनत' कहा गया है।[४]

त्रिकालज्ञ

धर्म, अर्थ एवं काम के समय का ज्ञाता 'त्रिकालज्ञ' कहलाता है।[५]

त्रिविपुल

जिसका वक्षस्थल, ललाट एवं मुख विस्तारयुक्त हो वह 'त्रिविपुल' कहलाता है।[६]

चतुर्लेख

जिस पुरुष के दोनों हाथों और दोनों पैरों के तल में ध्वज, क्षत्र आदि चिह्न अंकित हों वह पुरुष 'चतुर्लेख' कहलाता है।[७]

१—अ० पु०, २४३।१०.
२—तदेव, २४३।१०-११.
३—तदेव, २४३।११.
४—तदेव, २४३।१२.
५—तदेव, २४३।१२.
६—तदेव, २४३।१३.
७—तदेव, २४३।१३.

चतुस्सम

अङ्गुली, हृदय, पृष्ठ एवं कटि ये चारों अङ्ग जिसके समान हो ऐसा व्यक्ति 'चतुस्सम' कहलाता है।[1]

चतुष्किष्कु

शरीर की लम्बाई ९६ अङ्गुल की होने से पुरुष को 'चतुष्किष्कु' प्रमाण वाला कहा गया है।[2] दो वालिस्त की लम्बाई एक किष्कु या २४ अङ्गुल के लगभग होती है।

चतुर्दंष्ट्र

जिसकी चारों दाढ़ चन्द्रमा के समान हो वह 'चतुर्दष्ट्र होता है।[3]

चतुष्कृष्ण

जिसके नयन तारे, भ्रू-युगल, श्मश्रु एवं केश कृष्ण होते हैं उसे 'चतुष्कृष्ण' कहा जाता है।[4]

चतुर्गन्ध

नासिका, मुख एवं दोनों कक्ष से उत्तम गन्ध युक्त मनुष्य 'चतुर्गन्ध' कहलाता है।[5]

चतुर्ह्रस्व

यदि पुरुष के शिश्न, ग्रीवा तथा जङ्घा-युगल छोटे हो तो उसे 'चतुर्ह्रस्व' कहा जाता है।[6]

पञ्चसूक्ष्म

अङ्गुलीपर्व, नख, केश, दन्त एवं त्वचा के सूक्ष्म होने पर पुरुष 'पञ्चसूक्ष्म' कहलाता है।[7]

१—अ० पु०, २४३।१४.
२—तदेव, २४३।१४.
३—तदेव, २५३।१५.
४—तदेव, २४३।१५.
५—तदेव, २४३।१६.
६—तदेव, २४३।१६.
७—तदेव, २४३।१७.

पञ्चदीर्घ

जिसके हनु, नेत्र ललाट, नासिका एवं वक्ष:स्थल विशाल हों वह 'पञ्चदीर्घ' कहलाता है ।[1]

षडुन्नत

वक्ष:स्थल, कक्ष, नख, नासिका, मुख एवं कृकाटिका ये छः अङ्ग उन्नत हों उसे 'षडुन्नत' कहा जाता है ।[2]

सप्तस्नेह

जिसकी त्वचा, केश, दन्त, रोम, दृष्टि, नख तथा वाणी स्निग्ध हो वह सप्तस्नेह कहलाता है ।[3]

अष्टवंश

जानुद्वय, उरुद्वय, पृष्ठ, हस्तद्वय एवं नासिका को मिलाकर कुल आठ वंश होते हैं और पुरुष को इस नाम से कहा जाता है ।[4]

नवामल

नेत्रद्वय, नासिकाद्वय, कर्णद्वय, शिश्न, गुदा एवं मुख इन स्थानों के निर्मल होने से पुरुष को 'नवामल' कहा जाता है ।[5]

दशपद्म

जिह्वा, ओष्ठ, तालु, नेत्र, हाथ, पैर, नख, शिश्नाग्र (Glans Penis) एवं मुख—ये दस अङ्ग पद्म के समान कान्ति से युक्त हो तो वह इस नाम से अभिहित होता है ।[6]

दशव्यूह

हाथ, पैर, मुख, ग्रीवा, कर्ण, हृदय, सिर, ललाट, उदर एवं पृष्ठ—ये दस बृहदाकार होने पर प्रशस्त माने गये हैं ।[7]

१—अ० पु०, २४३।१७.
२—तदेव, २४३।१८.
३—तदेव, २४३।१८.
४—तदेव, २४३।१९.
५—तदेव, २४३।१९.
६—तदेव, २४३।२०.
७—तदेव, २४३।२१.

न्यग्रोधपरिमण्डल

जिस पुरुष की ऊँचाई भुजाओं के फैलाने पर दोनों मध्यमा अङ्गुलियों के मध्यान्तर के समान हो वह न्यग्रोधपरिमण्डल कहलाता है।[1]

चतुर्दशसमद्वन्द्व

जिसके दोनों चरण, दोनों गुल्फ, दोनों नितम्ब, दोनों पार्श्व, दोनों वङ्क्षण, दोनों वृषण, दोनों स्तन, दोनों कर्ण, ओष्ठ, ओष्ठान्त, जङ्घा, हस्त, बाहु एवं नेत्र समान हो वह पुरुष 'चतुर्दशसमद्वन्द्व कहलाता है।[2]

षोडशाक्ष

जो अपने दोनों नेत्रों से चौदहविद्याओं का अवलोकन करता है वह षोडशाक्ष कहलाता है।[3]

इन प्रशस्त लक्षणों के अतिरिक्त अग्निपुराण ने यह भी संकेत किया है कि जिस पुरुष का शरीर दुर्गन्धयुक्त, माँसहीन, रुक्ष एवं शिराओं से व्याप्त है, वह अप्रशस्त है। अतएव इसके विपरीत गुण से सम्पन्न युक्त एवं प्रसन्न दृष्टि से युक्त शरीर प्रशस्त समझना चाहिए। धन्य पुरुष की वाणी मधुर एवं चाल मतवाले हाथी के समान होती है। जिस पुरुष के प्रत्येक रोम-कूप से एक ही रोम निकलता है ऐसे पुरुष की भय से बार-बार रक्षा होती है।[4]

यह समग्र वर्णन अग्निपुराण के २४३ अध्याय में निहित है। उनमें से कतिपय लक्षण तो शरीर के सौन्दर्य लक्षण की दृष्टि से लिखे गये हैं और कतिपय लक्षण भावात्मक हैं। कुछ ऐसे लक्षण भी हैं जो शरीर प्रमाण की दृष्टि से उपादेय हैं। अग्निपुराण के इस अध्याय के आरम्भ के विवरण के अवलोकन से से पता चलता है कि गर्ग ऋषि की सामुद्रिक शास्त्र पर रचना अवश्यमेव रही होगी, जिसके आधार पर अग्निपुराण ने आयुर्वेदीय ग्रंथों के सम्बद्ध स्थल को देखे बिना ही इनका निरुपण कर दिया है।

१—अ० पु०, २४३।२२.
२—तदेव, २४३।२३-२४.
३—तदेव, २४३।२४.
४—तदेव, २४३।२५-२६.

स्त्री के प्रशस्त लक्षण

स्त्री के प्रशस्त गुणों की चर्चा करते हुए अ० पु० ने पुरुष लक्षण के समान इनका विस्तार से वर्णन नहीं किया है। इसके विस्तार की चर्चा स्कन्द एवं गरुड पुराण में है।

अ० पु० ने स्त्री के प्रशस्त लक्षणों का अतिसूक्ष्म में वर्णन किया है। प्रशस्त स्त्री वह मानी गयी है जिसके समस्त अङ्ग सुन्दर हो, जो मतवाले हाथी के समान चलने वाली हो, जिसके उरु, जाङ्घ और नितम्ब भाग भारी हों तथा नेत्र पारावत कबूतर के समान मदभरे हों, जिसके केश सुन्दर नील वर्ण के हों तथा शरीर पतला एवं रोम रहित हो, जो मन को मोह लेने वाली हो, जिसके दोनों पैर समतल भूमि का पूर्ण रूप से स्पर्श करते हों। दोनों स्तन परस्पर सटे हों, नाभि दक्षिणावर्त्त हो, योनि पीपल के पत्ते की आकार सी हो, दोनों गुल्फ भीतर छिपे हुए हों, नाभि अङ्गुष्ठ के परिमाण की हों। पेट लम्बा लटकता हुआ न हो। रोमावलियाँ रुक्ष न हो ऐसे शरीर वाली स्त्री सुन्दर मानी गयी है।[1]

नक्षत्रों, वृक्षों और नदियों के नाम पर जिनके नाम रखें गये हों तथा जो सदैव कलह-प्रिय हो वह भी स्त्री प्रशस्त नहीं है।[2] किन्तु जो स्त्री लोलुप न हो, कटु वचन बोलने वाली न हो, ऐसी नारी देवता आदि से पूजित कही है।[3] जिसके कपोल महुए के फूल के समान हो ऐसी भी नारी शुभ मानी गयी है।[4] जिसके शरीर पर नस-नाड़ियाँ दिखायी देती हों जिसके अङ्ग अधिक रोमावलियों से भरे हों वह स्त्री अच्छी नहीं मानीं गयी है।[5] इसके अतिरिक्त जिसकी कुटिल भौहें परस्पर सट गयी हों, वह नारी भी अच्छी श्रेणी में नहीं मानी जाती है।[6] जिसके प्राण पति में बसते हों, वह स्त्री भले ही उपर्युक्त लक्षणों से विहीन क्यों न हो वह प्रशस्त मानी गयी है। सुन्दर आकृति के आधार पर ही प्रायशः उत्तम गुण देखे जाते हैं।[7] निकृष्ट नारी वह है जिसके पैर

१—अ० पु०, २४३।१, ४.
२—तदेव, २४४।१-४.
३—तदेव, २४४।५.
४—तदेव, २४४।५.
५—तदेव, २४४।५.
६—तदेव, २४४।६.
७—तदेव, २४४।६.

की कनिष्ठिका अङ्गुलि पृथ्वी का स्पर्श न करे ऐसी स्त्री मृत्यु-रुपा मानी गयी है।[1]

यह उपर्युक्त वर्णन अ० पु० कार ने २४४ वें अध्याय में किया है। यह सामग्री भी गर्ग संहिता से संक्षेप में उतारी प्रतीत होती है। स्त्री के जो भी प्रशस्त गुण और बताये गये हैं वह सभी सौन्दर्य शास्त्र के दृष्टिकोण से ही प्रतीत होते हैं। चिकित्सा स्थान की दृष्टि से किसी भी मान का कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होता।

१—तदेव, २४४।७.

चतुर्थ अध्याय

गर्भावक्रान्ति विषयक सामग्री

गर्भावक्रान्ति

अग्निपुराणकार ने गर्भावक्रान्ति का निरुपण एक दार्शनिक प्रसंग के माध्यम से किया है। नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत एवं आत्यन्तिक भेद से प्रलय के चार भेद प्रतिपादित हैं और अन्तिम आत्यन्तिक भेद के अन्तर्गत ही इस विषय का प्रतिपादन हुआ है। आत्यन्तिक लय से तात्पर्य है ज्ञान हो जाने के पश्चात् आत्मा का परमात्मा में लीन होना। आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक सन्तापों को समझने के पश्चात् ही विराग होता है। आध्यात्मिक सन्ताप शारीर एवं मानस भेद से दो प्रकार का होता है और यह शारीर-सन्ताप अनेक भेदों में विभक्त है। जीव भोग देह को त्याग कर कर्म के द्वारा गर्भत्व को प्राप्त करता है। आत्मा का चरम लक्ष्य परमात्मा से संयुक्त होना है और इस प्रकार वह शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से मुक्त हो जाता है। इस विचारधारा के सम्बन्ध को गर्भावक्रान्ति जैसे सिद्धान्तों द्वारा स्पष्ट किया गया है। जैसा कि आतिवाहिक (एक आतिवाहिक संज्ञक शरीर होता है जो केवल मनुष्यों को मृत्युकाल उपस्थित होने पर मिलता है) शरीर के विषय में कहा गया है उसी का इस प्रसंग में थोड़ा सा स्पष्टीकरण उचित है। अग्नि पुराण के अनुसार यमराज के दूत मनुष्य के उस आतिवाहिक शरीर को यमलोक के मार्ग से ले जाते हैं। दूसरे प्राणियों को न तो आतिवाहिक शरीर मिलता है और ना ही वे यमलोक के मार्ग से ही ले जाये जाते हैं। तदनन्तर यमलोक में गया हुआ जीव कभी स्वर्ग में एवं कभी नरक में जाता है जैसे यन्त्र में लगे हुए घड़े कभी पानी में डूबते हैं और कभी ऊपर आते हैं, उसी प्रकार जीव को कभी स्वर्ग और कभी नरक का चक्कर लगाना पड़ता है। यह लोक कर्म भूमि है और परलोक फलभूमि है। यमराज जीव को उसके कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों तथा नरकों में डाला करते हैं। यमराज ही जीवों द्वारा नरकों को परिपूर्ण बनाये रखते हैं। यमराज को ही इनका नियामक समझना चाहिए। जीव वायु रूप होकर गर्भ में प्रवेश करता है। यमदूत जब मनुष्य को यमराज के पास ले जाते हैं, तब वे उसकी ओर देखते हैं अर्थात् उसके कर्मों पर विचार करते हैं। यदि कोई धर्मात्मा होता है तो उसकी पूजा करते हैं और यदि पापी होता है तो अपने घर पर उसे दण्ड

देते हैं। चित्रगुप्त उसके शुभ-अशुभ कर्मों का विवेचन करते हैं। जब तक बन्धु-बान्धवों का अशौच निवृत्त नहीं होता तब तक जीव आतिवाहिक शरीर में ही रहकर दिए हुए पिण्डों को भोजन के रूप में अपने साथ ले जाता है। तत्पश्चात् वह प्रेत लोक में पहुँच कर प्रेतदेह (आतिवाहिक शरीर) का त्याग करता है और दूसरा शरीर पाकर वहाँ क्षुधा एवं पिपासा से मुक्त हो निवास करता है। उस समय उसे वही भोजन के लिए मिलता है जो श्राद्ध के रूप में उसके निमित्त कच्चा अन्न दिया जाता है। प्रेत के निमित्त पिण्डदान किये बिना उसको आतिवाहिक शरीर से छुटकारा नहीं मिलता। वह उसी शरीर में रह कर केवल पिण्डों का भोजन करता है। सपिण्डीकरण श्राद्ध करने पर वह एक वर्ष के पश्चात् प्रेत देह को छोड़कर भोगदेह को प्राप्त होता है। भोग देह दो प्रकार के कहे गये हैं—(१) शुभ एवं (२) अशुभ। भोग देह के द्वारा कर्मजनित बन्धनों को भोगने के पश्चात् जीव मर्त्य लोक में गिरा दिया जाता है उस समय उसके त्यागे हुए शरीरको निशाचर खा जाते हैं। यदि जीव भोग-देह के द्वारा पहले पुण्य के फलस्वरूप स्वर्ग का सुख भोग लेता है और पाप भोगना शेष रह जाता है तो पापियों के अनुरूप दूसरा भोग शरीर धारण करता है। परन्तु जो पहले पाप का फल भोग कर पीछे स्वर्ग का सुख भोगता है, वह भोग समाप्त होने पर स्वर्ग से भ्रष्ट होकर पवित्र आचार-विचार वाले धनवानों के घर में जन्म लेता है। यदि जीव पुण्य के रहते हुए पहले पाप भोगता है तो उसका भोग समाप्त होने पर वह पुण्य-भोग के लिए उत्तम (देवोचित) शरीर धारण करता है जब कर्म कृत भाग थोड़ा सा ही शेष रह जाता है तब जीव को नरक से भी छुटकारा मिल जाता है। नरक से निकला हुआ जीव पशु-पक्षी आदि तिर्यग्योनि में ही जन्म लेता है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।[1]

चरक में आतिवाहिक शरीर का वर्णन सूक्ष्मतया निहित है। शरीर युक्त आत्मा को ही दूसरे शब्दों में आतिवाहिक कहा गया है। यह शरीर युक्त आत्मा शरीर के विच्छेद के बाद पृथक् हो जाती है और कर्मवश पुनः आत्मा को सूक्ष्म शरीर (आतिवाहिक) मिलता है। मृत्यु के समय आत्मा इसी सूक्ष्म शरीर को लिए बाहर निकलती है और जन्म के समय नये शरीर (गर्भ) में प्रवेश करती है।[2]

१—द्रष्टव्य : अग्नि पुराण के ३६८ एवं ३६९ अध्यायों का सारांश।
२—चरक, शारीर, २।३५.

वास्तव में स्वयं अतमा का पूर्व देह से निष्क्रमण या नये देह में प्रवेश नहीं होता क्योंकि आत्मा तो सर्वव्यापक होने से न प्रथम शरीर छोड़ती है और न नये शरीर में उसका प्रवेश ही होता है। वस्तुतः निष्क्रमण और प्रवेश इसी सूक्ष्म शरीर के होते हैं। उन्हें ही आत्मा का निष्क्रमण या प्रवेश कहने का प्रचलन है। इस सूक्ष्म शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्म विषय (शब्द आदि), पाँच प्राण (प्राण-अपानादि), एक मन और बुद्धि इस प्रकार सत्रह पदार्थ होते हैं। इसी को सांख्य में लिंग शरीर पद से कहा गया है[1]

गर्भावक्रान्ति

अग्नि पुराण का गर्भावक्रान्ति विषयक वर्णन मनु[2] और याज्ञवल्क्य[3] की स्मृतियों पर आधारित है। अग्निपुराण के मतानुसार स्त्रियों का ऋतुकाल सोलह रात्रि का माना गया है।[4] उनमें से प्रथम तीन रात्रियाँ स्त्री-गमनार्थ निन्दित हैं। पुत्र की अभिलाषा रखने वाले व्यक्ति का युग्म-रात्रियों (चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम आदि) में और कन्या की इच्छा रखने वाले को अयुग्म रात्रियों (पंचम, सप्तम आदि) में स्त्री से मैथुन करना चाहिए। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में ऋतुकाल की अवधि के विषय में स्वल्प मत वैषम्य है। सुश्रुत[5] ने इसे द्वादश दिनों का माना है। वृद्ध वाग्भट[6] सुश्रुत का ही अनुसरण करते हैं पर एकीय मत के रुप में वे सोलह दिनों की अवधि का भी निर्देश करते हैं। मानव योनि के गर्भ में प्रविष्ट हुआ जीव प्रथम मास में कलल (रज-वीर्य के मिश्रित बिन्दु) के रुप में रहता है। द्वितीय मास में वह घनीभूत होता है (कठोर माँस पिण्ड का रुप धारण

१—सांख्य कारिका की ४०वीं कारिका पर वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्व-कौमुदी टीका।

२—ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्विगर्हिते ॥ मनुस्मृति, ३।४६.

३—षोडशर्त्तुनिशाः स्त्रीणां तस्मिन् युग्मासु संविशेत्।
ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति, १।७९.

४—अ०पु०, १५३।१,२= तु०क०—वि०ध०पु०, खण्ड-२,८५।२,३

५—ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टागर्त्तवः। शारीर, ३।५.

६—ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति। षोडशरात्रमित्यन्ये।
शुद्धयोनि-गर्भाशयान्तर्गताया मासमपि केचित्।
अ०सं०, शा० १।४०.

करता है) और तृतीय मास में शरीर के अवयव प्रकट हो जाते हैं। चतुर्थ मासमें अस्थि, मांस और त्वचा का प्रकटीकरण होता है। पंचम मास में रोम निकल आते हैं। षष्ठ मास में वह दुख का अनुभव करने लगता है अष्टम और नवम मास में उसको गर्भ के आभ्यन्तर बड़ा उद्वेग होता हैं। गर्भावस्था में गर्भस्थ भ्रूण के दोनों हाथ मस्तक के पास जुड़े रहते हैं यदि गर्भ का बालक नपुंसक हो तो उदर के मध्य भाग में रहता है, कन्या हो तो वाम भाग में और पुत्र हो तो वह दक्षिण भाग में रहता है। जीव अपने कर्मों के अनुसार गर्भ में संतप्त होता है, पुनः वह ऐसे मनोरथ करने लगता है कि मानों गर्भ से निकलते ही मोक्ष के साधनभूत ज्ञान के प्रयत्न में लग जायेगा। प्रसूति वायु की प्रेरणा से उसका सिर नीचे की ओर जाता है और वह योनि यंत्र से पीड़ित होता हुआ गर्भ से बाहर आ जाता है।[१]

मानव शरीर में अणुओं की स्थिति को मानते हुए अग्निपुराण प्राचीन मत से सहमत है। उसका कथन है कि यह शरीर पाँचभौतिक पदार्थों से निर्मित है। (पंच महाभूत शब्द वाच्य) आकाश से शरीर के भीतर सूक्ष्माऽतिसूक्ष्म छिद्र, कान तथा शून्यता (अवकाश आदि) जैसे पदार्थ उत्पन्न होते हैं। श्वासोच्छ्वास, गति और अंगों को टेढ़ा-मेढ़ा करके किसी का स्पर्श करना ये सब वायु के कार्य हैं। रूप, नेत्र, उष्मा, पाचन क्रिया, पित्त, मेधा, वर्ण, वल, छाया, तेज और शौच ये सब शरीर में अग्नितत्व से प्रकट होते हैं। [स्वेद, रसना, क्लेद, वसा, रस, शुक्र, मूत्र और कफ आदि का जो देह में प्रादुर्भाव है वह जल का कार्य है। घ्राणेन्द्रिय, केश, नख और शिराएं भूमि तत्व से प्रकट होती हैं। शरीर में जो कोमल पदार्थ त्वक्, मांस, हृदय, नाभि, मज्जा, मल, मेदस्, क्लेदन, आमाशय आदि हैं वे माता के रज से उत्पन्न होते हैं अतएव ये मातृज भाव कहलाते हैं। शिरा, स्नायु और शुक्र का प्रादुर्भाव पिता से होता है अतएव वे पितृज भाव हैं।[२]

अग्नि पुराण[३] ने गर्भ के उपादनभूत सुश्रुत[४] एवं चरकोक्त[५] षड्भावों (मातृज, पितृज, आत्मज, सात्म्यज, सत्वज एवं रसज) [में से केवल मातृज,

१—अ०पु०, २६९।१९–२७.
२—अ०पु०, ३६९।२८–३२.
३—अ०पु०, ३६९।३१–३२.
४—सु०शा०, ३।३१.
५—चरक शा०, ३।३.

पितृज एवं आत्मज भावों की ही गणना की है। काम, क्रोध, भय, हर्ष, धर्माधर्म में प्रवृत्ति, आकृति, स्वर, वर्ण और मेहन आदि आत्मज भाव के अन्तर्गत आते हैं। अग्नि पुराण ने उपर्युक्त सामग्री के अतिरिक्त शरीर के अंगों पर भी प्रकाश डालता है। यह पुराण सुश्रुत के समान आठ आशयों[1] के वर्णन करने के पश्चात वृक्कादि[2] अंगों की रचना का भी वर्णन करता है वृद्ध वाग्भट ने जिन उण्डुकआदि कोष्ठांगों को आशय से निवद्ध माना है, वहाँ पर सात कोष्ठांगों (हृदय से अन्त्रपर्यन्त) की गणना करते हुए आदि कह कर अपने वर्णन को समाप्त कर दिया है।[3] उस आदि पद के अन्तर्गत अष्टांग हृदयकार[4] वाग्भट ने नाभि, डिम्ब एवं बस्ति का समावेश कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अग्नि-पुराण के रचयिता के समक्ष सुश्रुत संहिता के स्थान पर अष्टांग संग्रह और अष्टांग हृदय की पुस्तकें थी क्योंकि अग्निपुराणकार ने इन सभी सन्दर्भों को पद्‌वद्‌ध कर अष्टांग संग्रह से उतार लिया है। अवयवों की उत्पत्ति के प्रसंग में अग्निपुराण ने इतने ही अंगों की उत्पत्ति विभिन्न धातुओं के योग से दिखलाई है जिनका कि उल्लेख वृद्‌ध वाग्भट ने अपने अष्टांगसंग्रह में किया है। अग्निपुराण ने अपने इस सन्दर्भ का आधार सुश्रुत को न बना कर अष्टांग संग्रह को बनाया है। अष्टांग संग्रह ने जिह्वा और वृषण[5] की उत्पत्ति का निदर्शन

१—अ०पु०, ३७०।६--७.

२—अ०पु०, ३७०।११.

अग्नि पुराण का 'वृक्कात्पुक्कसप्लीहाकृत्तकोष्ठांगहृदव्रगाः।
तण्डकश्च' (३७०।११). यह श्लोक लिपिकार के प्रमाद से भ्रष्ट प्रतीत होता है। वस्तुतः शरीर रचना की दृष्टि से इसे निम्न प्रकार शुद्ध कर लेना उचित है :—
'वृक्कौ फुफ्फुसप्लीहायकृत्कोष्ठांगहृद्‌वपाः'।

३—अ०स०, शा०, ५।४७
'तेषु प्रतिबद्‌धानि कोष्ठांगानि हृदय यकृत् प्लीहा फुफ्फुसोन्दुक वृक्कान्त्रादीनि'

४—अ०हृ०शा०, ३०१२.

५—अ०स०शा०, ५।५७,५८.

उसी अध्याय में नेत्रोत्पत्ति के अनन्तर दिया है जिसका अन्धानुसरण उसी रुप में अग्नि पुराण[1] ने किया है।

वृद्ध वाग्भट ने कालेय[2] की उत्पत्ति का एक स्वतन्त्र निरुपण किया हे यह कालेय या कालेयक आचार्य गौड[3] के अनुसार आधुनिकों का अग्न्याशय या Pancreas ही है। स्वंय सुश्रुत ने केवल एक बार विभिन्न शारीर अंगोंके साथ कालेयक पद का प्रयोग किया है, पर आश्चर्य का विषय है कि शरीर प्रकरण में जहाँ विभिन्न अंगों की रचना का उन्होंने उल्लेख किया है, वहीं उसकी उत्पत्ति का निरुपण करना भूल गये और उस न्यूनता की पूर्ति वृद्ध वाग्भट ने की। अग्नि पुराण में पाठ भ्रष्ट होने के नाते कालेयक के स्थान पर कामेयक[4] पद आ गया है जो कि सभी शारीरविदों के लिये चिन्त्य हो गया था किन्तु जब अष्टांग संग्रह से उसकी तुलना की गई तो प्रसंग से यह स्पष्ठ हो गया कि यह अष्टांग संग्रह कृत कालीयक[5] है जिसकी उत्पत्ति यहाँ और वहाँ रक्त और वायु के योग से बताई गई है और इसी प्रकार की एक पाठ की अशुद्धि रक्त के किट्ट द्वारा उत्पन्न होने वाले उण्डुक नामक अङ्ग के साथ भी थी और अग्नि पुराण में (अ० पु०, ३७०।१३) 'रक्तं पित्तंच भवति तथा तण्डक-संज्ञकः'। ऐसा भ्रष्ट पाठ था जो कि भ्रामक प्रतीत हो रहा था उसको 'रक्त किट्टाद् भवत्युण्डक संज्ञकः' इस प्रकार के पाठान्तर से शुद्ध कर लेना उचित समझा गया।

अग्नि पुराण के एतद् वचन प्रायः एक प्रकार से हैं पर हृदय की उत्पत्ति में जहाँ वृद्ध वाग्भट ने हृदय[6] को श्लेष्मा और रक्त के प्रसाद भाग से उत्पन्न माना है वहाँ अग्नि पुराण[7] उसे केवल कफ के प्रसाद भाग से उत्पन्न हुआ

१—अ०पु०, ३७०।२१.

२—रक्तस्यानिलयोगात्कालीयम्। अ०स०,शा० ५।४८.

३—Anatomical Terminology of Ayurved by Gaur, D.S. Glassory—p. 13.

४—अ० पु०, ३७०।१५.

५—अ०स०, शा०, ५।४८.

६—अ० स०, शा० ५।४९.

७—अ० पु०, ३७०।१६.

मानते हैं। इस स्थल में भी यह सम्भावना की जा सकती है कि यह संभवतः लिपिकार के प्रमाद से हुआ है।

अग्नि पुराण के अनुसार पच्यमान रस के सार भाग से प्लीहा एवं यकृत् उत्पन्न होते हैं। फुफ्फुस का उद्भव रक्त के फेन से, उंडुक का रक्त के किट्ट भाग से, वृक्क (वुक्क) का मेदस एवं रक्त के प्रसाद भाग से, अन्त्र का रक्त एवं मांस के प्रसाद भाग से, कालेय (Pancreas) का रक्त एवं वायु के सम्मिश्रण से तथा हृदय कफ के प्रसाद भाग से निर्मित होता है। अग्नि पुराण[1] कार ने अन्त्र की लम्बाई पुरुषों में साढ़े तीन व्याम और स्त्रियों में उससे अर्द्ध व्याम कम मानी हैं। अग्नि पुराणकार ने हृदय के स्वरूप निरुपण एवं सीमाकरण में अष्टांग संग्रह के सम्बद्ध कथन का अक्षरशः पद्यबद्ध निरुपण किया है। अग्नि पुराण के अनुसार कफ के प्रसाद भाग से उत्पन्न होने वाले हृदय का आकार कमल के समान होता है, जिसका मुख नीचे, आभ्यन्तर भाग सुषिर या अवकाशयुक्त माना गया है जिसके आभ्यन्तर जीव स्थित है। चेतना से सम्बद्ध रखने वाले सभी भावों की स्थिति वहीं है और इसी हृदय के वाम भाग में प्लीहा एवं दक्षिण भाग में क्लोम की भी स्थिति बताई गई है।[2]

अग्नि पुराणकार ने कफ और रक्तवह स्रोतों एवं महाभूतों के प्रसाद भाग से इन्द्रियों की उत्पत्ति मानी है और इस कथन का अविकल आधार अष्टांग संग्रह ही है। अग्नि पुराण[3] ने अष्टांग संग्रह[4] के समान ही नेत्रगत श्वेत मण्डल को कफ से उत्पन्न हुआ मानकर उसे पैतृक कहा है। इसी प्रकार नेत्र के कृष्ण मण्डल को रक्त से उत्पन्न मानकर उसे मातृज माना है तथा दोनों के मध्य में विद्यमान दृष्टि मण्डल को मातृज एवं पितृज दोनों भावों से निष्पन्न हुआ स्वीकार किया है। इतना ही वर्णन कर अग्नि पुराणकार मौन हो गये हैं उन्होंने अष्टांगसंग्रह द्वारा निरुपित शारीर स्थान के विवरण को जानबूझ कर त्याग देना ही उचित समझा है यही कारण है कि वे इसका निरुपण कर दश आयतनों के निरुपण के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं।

१—अ० पु०, ३७०।११—१५=अ० सं०, शा० ५।४८.

२—अ० पु०, ३७०।१६-१८=अ० सं०, शा० ५।४९=सु० शा०, ४।३०.

३—अ० पु०, ३७०।२०—२१.

४—अ० सं०, शा० ५।५१.

विभिन्न शरीरांगों की उत्पत्ति की निदर्शक तालिका

अंगावयव	अग्नि पुराण[1]	अष्टांग संग्रह[2]	सुश्रुत संहिता[3]
यकृत् एवं प्लीहा	पच्यमान रस के सार भाग से	पच्यमान शोणित के अच्छ भाग से	शोणित से
फुफ्फुस	रक्त के फेन से	रक्त के फेन से	शोणित फेन से
उण्डुक	रक्त के किट्ट भाग से	रक्त के किट्ट भाग से	शोणित के किट्ट भाग से
वृक्क	मेदस् एवं रक्त के प्रसाद भाग से	रक्त एवं मेदस् केप्रसाद भाग से	रक्त एवं मेद्स के प्रसाद भाग से
अन्त्र	रक्त एवं मांस के प्रसाद भाग से	रक्त एवं मांस के प्रसाद भाग से	रक्त एवं श्लेष्म के प्रसाद भाग से अन्त्र, गुद एवं बस्ति का निर्माण
कालेय	रक्त एवं वायु के समयोग से	रक्त एवं अनिल के संयोग से	—
हृदय	कफ के प्रसाद भाग से	श्लेष्म एवं रक्त के प्रसाद भाग से	शोणित एवं कफ के प्रसाद भाग से
जिह्वा	मांस, रक्त एवं कफ से	मांस, रक्त एवं कफ के प्रसाद भाग से	कफ, शोणित एवं मांस के सार भाग से
वृषण	मेद, रक्त एवं कफ और मांस से	मांस, रक्त, कफ एवं मेदस् के प्रसाद भाग से	मांस, रक्त, कफ एवं मेदस् के प्रसाद भाग से

१–अ०पु०, ३९० वां अध्याय.
२–अ०सं०,शा० ५म अध्याय.
३– सु०सं०शा० ४र्थ अध्याय.

गरुड पुराण में गर्भावक्रान्ति पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। गरुडपुराण के अनुसार पाप के परिणाम के प्रसंग में जो व्यक्ति पाप किये रहता है, वह वह नरक से गिरकर स्त्री के गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है। गर्भाशय में उसके दो वीज रहते हैं। सर्वप्रथम वह बुद्बुदमय कलल के रूप में, उसके पश्चात् शोणित रूप पेशी के समान, पुनः अण्डाकार और तदनन्तर अंकुर स्वरूप हो जाता है। इसके वाद पुनः उसके उपांग—अंगुली, नासा आदि अंग स्पष्ट हो जाते हैं और समस्त अंगों में गति हो जाती है। उसके अनन्तर नख आदि बनते हैं। त्वचा से रोम उत्पन्न होते हैं, केश भी आविर्भूत हो जाते हैं। अन्त में दसवें मास में भ्रूण अधोमुख होकर उत्पन्न होता है।[1]

भ्रूण विकास विषय पर आधुनिक मत[2]

मास	विकास
१.	शिर एवं पुच्छ स्तर बन जाते हैं। मस्तिष्क और नेत्रों के बुदबुद सरलता से पहचाने जा सकते हैं। श्रोत्र-वुदवुद प्रगट हो जाते हैं तथा आकृति पहचान में नहीं आती।
२.	उपरी ओष्ठ बन जाते हैं तथा नासा आगे को निकल आती है। तालु का अच्छी तरह विकास नहीं होता। वर्त्म विद्यमान रहती है। बाह्य जनन-अंग बन जाते हैं। हस्त एवं पाद की अंगुलियाँ स्पष्ट हो जाती हैं (Crown rump) मुकुट परिधि की लम्बाई ३० मि० मी० हो जाती है।
३.	शिर बढ़ता है, ग्रीवा लम्वी हो जाती है और शरीर के अंगों (शाखाओं) का सम्यक् विकास हो जाता है। नस की उत्पत्ति आरंभ हो जाती है और मुकुट की परिधि की लम्बाई १० से० मी० हो जाती है।
४.	शरीर पर रोम राजी का प्रादुर्भाव तथा सक्थि सहित समस्त शरीर की लम्बाई २२ से० मी० हो जाती हैं।
५.	भ्रूण में सर्वप्रथम गति दिखाई पड़ती है। शिर पर केशों का उद्गम् आरम्भ हो जाता है। उल्व (Vernix Caseosa) एकत्र होना आरम्भ हो जाते हैं। इस प्रकार शरीर की लम्बांई ३० से० मी० हो जाती है।

१—गरुड पुराण, पूर्व खण्ड, २१७।७–९.

२—Grey, Anatomy, १९४९, PP. २०८–२११.

६. उल्वक (Vernix Caseosa) पर्याप्त मात्रा में संचित हो जाते हैं। त्वचा के सूक्ष्म अंकुरों का विकास तथा उसके अन्तः स्तर से नस के प्ररोहों की धारा पृथक् हो जाती है। शरीर की समस्त लम्बाई ३३ से० मी० एवं भार एक किलोग्राम हो जाता हैं।

७. कनीनक कला अवशुष्क, नेत्र के वर्त्म खुले हुए, अण्ड भाग का अवतरण, त्वचा लाल एवं झुर्रीदार हो जाती है। शरीर की समस्त लम्बाई ४० से०मी० एवं भार १-५ किलोग्राम हो जाता है।

८. त्वचा पूर्णतया उल्व एवं रोम से आवृत होने के पश्चात् उससे अलग होनी आरम्भ हो जाती है। भ्रूण का स्वरूप शरीर में एक लोथड़े (Plump) के रूप में प्रकट हो जाता है तथा उसकी लम्बाई ४५ से० मी० एवं भार २ से २½ किलोग्राम हो जाता हैं।

९. (Trunk) अन्तराधि से लोम अधिकतर विलीन हो जाते हैं तथा नाभि शरीर के मध्य स्थित हो जाती है तथा अण्ड कोषों में आ जाते हैं। सम्पूर्ण शरीर की लम्बाई ५० से० मी० तथा भार ३ से ३½ ३·५ किलोग्राम तक हो जाता है।

शरीरस्थ अंगों के मातृज, पितृज एवं आत्मज भाव

	अग्नि पुराण[1]	चरक संहिता[2]	सुश्रुत संहिता[3]
मातृज भाव	त्वचा, मांस, हृदय, नाभि, मज्जा, शकृत् (मल), मेदस्, क्लेद एवं आमाशय	त्वचा, रक्त, माँस, मेद्स्, नाभि, हृदय क्लोम, यकृत्, प्लीहा, वृक्क, बस्ति, पुरीषाधान, आमाशय पक्वाशय, उत्तर गुद (Rectum), अधर गुद (Anus), क्षुद्र अन्त्र, स्थूलान्त्र, वपा तथा वपावहन	रक्त, माँस, मेदस्, मज्जा, हृदय नाभि, यकृत्, प्लीहा, अन्त्र, गुद आदि ।
पितृज भाव	शिरा, स्नायु, शुक्र	केश, श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछ) नख, रोम, दन्त, अस्थि, सिरा, स्नायु, धमनी एवं शुक्र ।	चरक के समान ही है ।
आत्मज भाव	काम, क्रोध, भय, हर्ष, धर्म, अधर्म आकृति, स्वर, वर्ण, मेहन आदि	आयु, आत्मज्ञान, मन, इन्द्रिय, प्राण, अपान, प्रेरण, धारण, आकृति, स्वर-भेद, सुख-दुख, इच्छा-द्वेष, चेतना, बुद्धि, स्मृति अहंकार, प्रयत्न, आदि	इन्द्रिय, ज्ञान-विज्ञान, आयु एवं सुख-दुख, ।

१—अग्नि पुराण, ३६९।३१, ३२.

२—चरक संहिता, शारीर स्थान, ३।१२, १३.

३—सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान, ३।३१.

विभिन्न आयुर्वेदीय संहिताओं के प्रकाश में भ्रूण का मासानुमासिक विकास

चरक[1]	सुश्रुत[2]	वाग्भट[3] (अटंग हृदय)	विष्णुधर्मोत्तर[4] पुराण	याज्ञवल्क्य[5]	गर्भोपनिषद्[6]	अग्नि पुराण[7]
१ खेटभूत और अव्यक्त विग्रह	कलल	कलल	कलल	द्रव के रूप में	एक रात्रि में ठहरा हुआ शोणित हो जाता है। सात रात्रि का बुदबुद, आधे मास में पिण्ड तथा एक मास पश्चात् कठोर हो जाता है।	शुक्रकलल
२. घन, पिण्ड, पेशी, अर्बुद	शीत उष्मा एवं वायु के द्वारा घनीभूत पिण्ड या पेशी	घन, पिण्ड या या अर्बुद	पेशीघन	अर्बुद	दो मास के पश्चात् गर्भ का शिर बन जाता है।	घन
३. समस्त इन्द्रियाँ एवं समस्त अंगों के अवयव एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं।	पाँच अवयव प्रगट हो जाते हैं।	पाँच अवयव प्रगट हो जाते हैं।	शरीर के अवयव प्रगट हो जाते हैं।	अंगों एवं इन्द्रियों से युक्त होता है।	तृतीय मास के पश्चात् पाद के लिये अंकुर निकल जाते हैं।	अवयव प्रगट हो जाते हैं।

४. गर्भ स्थिरता को प्राप्त होता है।	संपूर्ण अंग प्रत्यंग विभाग स्पष्ट हो जाता है तथा चेतना की अभिव्यक्ति हो जाती है।	अंगों एवं प्रत्यंगों का विभाग स्पष्ट हो जाता है।		अंगों में स्थिरता	चतुर्थ मास में अंगुली और जठर एवं कटि (श्रेणी) प्रदेश बन जाता है।	अस्थि प्रगट हो जाती है।
५. मांस और रक्त की अतिवृद्धि, शोणित का उपचय एवं गर्भिणी कृश हो जाती है।	मन प्रबुद्ध हो जाता है।	चेतना की अभिव्यक्ति	त्वचा प्रकट	रुधिर उत्पत्ति	पृष्ठ बंश हो जाता है।	मांस त्वचा प्रगट हो जाती है।
६. बल और वर्ण का उपचय	बुद्धि प्रगट हो जाती है।	स्नायु, सिरा, रोम, बल, वर्ण नख तथा त्वचा प्रगट हो जाती है।	रोम	बल, रंग नख, रोम	मुख, नासिका, नेत्र और श्रोत्र विकसित हो जाते है।	रोम निकल आते हैं।

७. सम्पूर्ण भावों की वृद्धि एवं गर्भिणी अधिक दुर्बल हो जाती है ।	सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंग का विभाग अति स्पष्ट हो जाती है ।	शरीर सब भावों से पुष्ट हो जाता है तथा सर्वागं में परिपूर्णता आ जाती है ।			भ्रूण जीवन से युक्त हो जाता है ।		वेदना का अनुभव होने लगता है ।
८. ओज की अस्थिरता	ओज की अस्थिरता	ओज अस्थिर हो जाता है ।	आंठवें एवं नवे मास में उद्वेग होता है ।	ओज अस्थिर हो होता है ।	सम्पूर्ण लक्षण		अष्टम एवं नवम मास में बडा उद्वेग होता है ।

१—चरक, शा०, ४।९—११, २०—५.
२—सुश्रुत, शा०, ३।१४ और १६.
३—वाग्भट, शा०,
४—वि० पु०, ११४।६—८.
५—याज्ञ०, १।६५, ६६, ६८, ६९.
६—गर्भोपनिषद् प्रा० करमबेलकर की 'अथर्ववेद एवं आयुर्वेद' पुस्तक में उद्धृत
७—अग्नि पुराण, ३६९।१९—२०, २४.

पञ्चम अध्याय

स्वस्थवृत्त की सामग्री

स्वस्थवृत्त

स्वस्थ एवं स्वास्थ्य

आयुर्वेद के दो मूलभूत प्रयोजनों[1] के अन्तर्गत स्वास्थ्य-संरक्षण का एक महत्वपूर्ण स्थान है। सुश्रुत के अनुसार स्वस्थ वह है जिसके शरीरगत दोष (वात आदि), अग्नि (जाठराग्नि सहित अन्य द्वादश अग्नियाँ), धातु (रस से शुक्र पर्यन्त), मल (पुरीष, मूत्र तथा धातूत्पत्तिजन्य स्वेद आदि) एवं उनकी क्रियायें समान रूप से हो रही हों और जिसका शरीर, इन्द्रिय एवं मन प्रसन्न हो।[2] चरक ने धातुओं (वातादि) के साम्य को प्रकृति कहा है[3] और यही स्वास्थ्य का निदर्शक है। अग्निपुराण ने यद्यपि स्वस्थ या स्वास्थ्य की कोई परिभाषा नहीं दी है तथापि बुद्धि, मन एवं इन्द्रिय के स्वास्थ्य के लिए वासुदेव के कीर्त्तन का विधान प्रस्तुत किया है।[4] पुराणकार परोक्ष रुप से अवश्यमेव सुश्रुतोक्त स्वस्थ की परिभाषा से परिचित था यही कारण है कि उसने श्लोक के उत्तरार्द्ध की सरलता को दृष्टि से उसे समाविष्ट कर लेना उचित समझा।

इस स्वस्थवृत्त को वैयक्तिक (Personal) एवं सामाजिक (Social) इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक अवान्तर भेद सदाचारपरक (Moral or Ethical) भी किया जा सकता है जिसे आयुर्वेद

१—(अ) प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकार-प्रशमनं च। (चरक०, सूत्र-३०।२४).

(आ) .... इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं-व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणञ्च॥ (सुश्रुत, सूत्र १।२२).

२—समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥ सुश्रुत, सूत्र १५।५८.

३— .... साम्यं प्रकृतिरुच्यते। चरक, सूत्र०

४—बुद्धिस्वास्थ्यं मनःस्वास्थ्यं स्वास्थ्यमैन्द्रियकं तथा।
ममास्तु देवदेवस्य कीर्त्तनात्॥ अ०पु०, २७०।१३.

ने सद्वृत्त की संज्ञा दी है और इसकी परिधि में इन्द्रिय एवं मन के द्वारा अनुष्ठेय नियम आते हैं। सद्वृत्त के अनुष्ठान से दो लाभ हैं एक तो आरोग्य की प्राप्ति तथा दूसरा इन्द्रियविजय।[1] स्वस्थवृत्त के पालन की अनेक उपादेयताओं को चरक ने व्यक्त किया है।[2]

वैयक्तिक स्वस्थवृत्त के अन्तर्गत दिनचर्या, रात्रि चर्या एवं ऋतुचर्या आती है। इन चर्याओं का पालन करता हुआ ही व्यक्ति सदा स्वस्थ रहता है और आरोग्य ही धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का उत्तम साधन है।[3] यही कारण है कि पुराण ने सर्वविध स्वस्थवृत्त को अपने में सम्मिलित किया।

अग्निपुराण के १५५वें अध्याय में निर्दिष्ट स्वस्थवृत्त की सामग्री को इन्ही उपरिनिर्दिष्ट शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा रहा हैं।

दिनचर्या

इसके आभ्यन्तर प्रातःकाल से लेकर सायंकाल पर्यन्त तक को सभी चर्यायें समाविष्ट हैं।

(अ) मलत्याग

वृद्धवाग्भट के अष्टाङ्ग संग्रह के समान ही अग्निपुराण ने प्रत्येक व्यक्ति को प्रातः ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर विष्णु आदि देवताओं के स्मरण के अनन्तर मल-मूत्र के त्याग का विधान प्रतिपादित किया है। इस पुराण के अनुसार मूत्र एवं पुरीष का त्याग दिन में उत्तर की ओर मुख करके तथा रात्रि में दक्षिण मुख

१—तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्।
तद्ध्यनुतिष्ठन् युगपत्सम्पादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रिविजयं चेति।
चरक, सूक्ष० ८।१७.

२—स्वस्थवृत्तं यथोद्दिष्टं यः सम्यगनुतिष्ठति।
स समाः शतमव्याधिरायुषा न वियुज्यते॥
नृलोकमापूरयते यशसा साधुसम्मतः।
धर्मार्थाविति भूतानां बन्धुतामुपगच्छति॥
परान् सुकृतिनो लोकान् पुण्यकर्मा प्रपद्यते।
तस्माद्वृत्तमनुष्ठेयमिदं सर्वेण सर्वदा॥ चरक, सूत्र० ८।३२--३४.

३—धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्। चरक, सूत्र० १।१५.

करने का विधान निर्दिष्ट है। प्रातः और सायम् काल की दोनों सन्ध्याओं में दिन के समान ही उत्तराभिमुख होकर मल-मूत्र का त्याग करना चाहिए। पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मल-मूत्र का विसर्जन मार्ग, जल एवं वीथिका में न हो अपित तृणयुक्त वीथी में होना उपयुक्त है।[१] वृद्ध वाग्भट ने अष्टाङ्गसंग्रह में इसी प्रकार की दिनचर्या के अन्तर्गत मल-मूत्र के त्याग का विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने उत्तराभिमुख एवं दक्षिणाभिमुख मलत्याग के नियमों के साथ-साथ ऐसे अनेक स्थलों का निर्देश किया है जहाँ पर मलत्याग करना सर्वथा निषिद्ध माना गया है इसके अन्तर्गत उन्होंने मलिन मार्ग, मिट्टी के ढेर, राख आदि स्थानों को इन निषिद्ध स्थलों में सम्मिलित कर लिया है। वृद्ध वाग्भट ने यह भी सौविध्य दिया है कि भय एवं असमर्थता की अवस्था से कहीं भी मल-त्याग किया जा सकता है। जहाँतक मलायनों के शुद्धि का प्रश्न है वहाँ उन्होंने मृत्तिका एवं जल के द्वारा इसका विधान किया है,[२] पर अग्निपुराण ने शोधनार्थ जल का उल्लेख न कर केवल मृत्तिका का ही निर्देश किया है।[३]

(इ) दन्तधावन

शौच एवं आचमन के अनन्तर स्वस्थवृत्त के दिनचर्या प्रसंग में अ० पु० ने दन्तधावन करने का संकेत किया है।[४] उन्होंने आयुर्वेद के ग्रन्थों के विवरण के अनुसार न तो दन्तकाष्ठ की लम्बाई, मोटाई और ना ही प्रयोज्य वृक्षों की नामावली ही दी है।

चरक ने दन्तधावनार्थ दन्तपवन या दातुवन को प्रातः सायम् करने का विधान बतलाया है और एतन्निमित्त कषाय, कटु एवं तिक्त रस वाले वृक्षों की दन्तपवन ग्राह्य है। इतना ही नहीं अपितु करञ्ज, करवीर, अर्क, माल्ती, अर्जुन एवं असन की वहाँ प्रशस्तता स्वीकार की गई है।[५] सुश्रुत ने दन्तकाष्ठ

१—अ० पु०, १५५।१,२.

२—अ० सं०, सूत्र० ३।८.

३—शौचं कृत्वा मृदाचम्य····। अ० पु०, १५५।३.

४—····भक्षयेद् दन्तधावनम्। अ० पु०, १५५।३.

५—आपोथिताग्रं द्वौ कालौ कषायकटुतिक्तकम्।
भक्षयेद् दन्तपवनं दन्तमांसान्यबाधयन्॥
करञ्जकरवीरमालतीककुभासनाः।
शस्यन्ते दन्तपवने ये चाप्येवंविधा द्रुमाः॥ चरक, सूत्र०, ५।७१-७३.

(दन्तपवन) की लम्बाई द्वादश अंगुल, मोटाई कनिष्ठिका अंगुलिवत्, सीधी, बिना गाँठवाली, व्रण तथा दो ग्रन्थि से रहित, नवीन, ऋतु एवं दोषानुसार रस एवं वीर्य से पूर्ण कषाय, मधुर, तिक्त एवं कटु रस में अन्यतम को उत्तम दन्तपवनार्थ स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रतिरसानुसार विभिन्न वृक्षों की दन्तधावन श्रेष्ठ मानी है यथा तिक्त रस में निम्ब, कषाय रस में बब्बूल, मधुर रस में मधूक एवं कटु रस में करञ्ज।[१] वाग्भट ने चरक की दन्तपवनार्थ ग्राह्य वृक्षों की सूची के अतिरिक्त सर्ज, अपामार्ग एवं अरिमेद को भी सम्मिलित कर लिया है।[२] वृद्ध वाग्भट ने निषिद्ध दन्त शोधन कालों का भी उल्लेख किया है।[३] इतना ही नहीं अपितु सुश्रुत ने उन व्यक्तियों को भी चर्चा की है जिनके लिए दन्तधावन निषिद्ध है।[४]

(उ) अभ्यंग

अग्निपुराण ने दिनचर्या के प्रसंग में प्रयुक्त होने वाले अन्य आयुर्वेदोक्त उपक्रमों-गण्डूष धारण, अञ्जन, नस्य, धूमपान, व्यायाम, क्षौरकर्म, अभ्यंग एवं शरीरपरिमार्जन को छोड़ दिया है पर अभ्यंग एवं व्यायाम के गुणों का अन्यत्र प्रसंगान्तर में उल्लेख किया है।

वातप्रधान प्रकृति के मनुष्य को अपनी परिस्थिति के अनुसार ग्रीष्म ऋतु में अंगमर्दन करना चाहिये। शिशिर ऋतु में साधारण या अधिक, बसन्त ऋतु में मध्यम और ग्रीष्म ऋतु में विशेष रस से अंगों का मर्दन करना चाहिए। प्रथमतः त्वचा का तदनन्तर अन्य मर्दन करने योग्य अंगों का मर्दन करना चाहिए।[५]

१—सुश्रुत, सूत्र० २४।४–७.

२—अ० हृ०, सूत्र० २।३.

३—नैव श्लेष्मातकारिष्टबिभीतधवधन्वजान्।
बिल्वबब्बूल निर्गुण्डीशिग्रुतिल्वकतिन्दुकान्॥
कोविदार शमीपीलुपिप्पलेङ्गुद गुग्गुलून्।
पारिभद्रकमम्लीकामोचक्यौ शाल्मली शणम्।
स्वादृवम्ललवणं शुष्कं सुषिरं पूतिपिच्छिलम्॥
अ०सं०, सूत्र ३।२०:२१.

४—सुश्रुत, चि०, २४।१०-१२.

५—अ० पु०, २८१।२६,२७.

स्नायु एवं रुधिर से परिपूर्ण शरीर में अस्थि (समूह) अत्यन्त मांसल सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार स्कन्ध, वाहु, जानु एवं जंघा के युगल मांसल प्रतीत होते हैं। अक्षकास्थि (जत्रु) एवं वक्षःस्थल का पूर्ववत् साधारणरीति से अभ्यंग करना चाहिए तथा समस्त अंग-सन्धियों को पूर्णतया मलकर उन्हें प्रसारित कर देना चाहिये किन्तु उनका प्रसारण हठात् एवं क्रमविरुद्ध नहीं करना चाहिए।[१]

इस पुराण ने अभ्यंग या मर्दन से केवल वात की शान्ति का गुण वतलाया है।[२] चरक ने अभ्यंग के गुणों को अनेक उपमानों के माध्यम से व्यक्त किया है। उनके अनुसार जिस प्रकार स्नेह के अभ्यंग से घट, स्नेह के मर्दन से चर्म अथवा उपांग (तेलादि द्वारा स्नेहन) से पहिये की धुरी दृढ़ तथा क्लेश सहन करने वाली हो जाती है उसी प्रकार अभ्यंग से मनुष्य का शरीर सुदृढ़ तथा कोमल त्वचा वाला हो जाता है। उसे वातज रोग नहीं होते तथा शरीर क्लेश एवं व्यायाम को सहने वाला हो जाता है।[३] सुश्रुत के अनुसार अभ्यंग शरीर को मृदु वनाता है, कफ एवं वात को नष्ट करता है, धातुओं को पुष्ट करता है तथा शरीर को शुद्ध करके वल एवं वर्ण से सम्पन्न बनाता है।[४]

(ऋ) व्यायाम

अ० पु० ने व्यायाम की कोई परिभाषा नहीं दी है। चरक के अनुसार मनोऽनुकूल शरीर की जो चेष्टा स्थिरता, दृढ़ता तथा वल वढ़ाने के निमित्त की जाती है उस चेष्टा का नाम शारीरिक व्यायाम है।[५] सुश्रुत ने शरीर के आयास-जनक कर्म को व्यायाम कहा है।[६]

अ० पु० के अनुसार मनुष्य को अजीर्णावस्था में भोजनानन्तर और तत्काल जल पीकर व्यायाम नहीं करना चाहिए। दिन के चार प्रहर होते हैं। इनमें से प्रथम प्रहरार्द्ध के व्यतीत हो जाने पर व्यायाम नहीं करना चाहिए।[७] सुश्रुत ने

१—अ० पु०, २८१।२८-३०,

२—"......वातं हन्याच्च मर्दनम्। अ० पु० १।३२.

३—चरक, सूत्र० ५।८२, ८३.

४—सुश्रुत, चि० २४।३०.

५—शरीर चेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी।
देहव्यायाम संख्याता मात्रया तां समाचरेत्॥ चरक, सूत्र ७।३०.

६—शरीरायासजनकं कर्म व्यायामसंज्ञितम्। सुश्रुत, चि० २४।३८

७—अ० पु०, २८१।३०-३२.

रक्तपित्त, कृशता, शोष, कास, क्षत से युक्त एवं स्त्री प्रसंग से क्षीण, तृष्णा तथा श्रम से पीड़ित व्यक्ति के लिए व्यायाम निषिद्ध बतलाया है।[१]

जहाँ तक व्यायाम के गुणों का प्रश्न है, अ० पु० ने इसके द्वारा कफ का नाश होना बतलाया है।[२] व्यायाम सेवन करने वाले मनुष्य धूप एवं परिश्रम युक्त कार्य करने में समर्थ होते हैं।[३] चरक ने व्यायाम के गुणों की चर्चा करते हुए कहा है कि इसके द्वारा शरीर में लघुता, कार्य करने की शक्ति, स्थिरता, क्लेश सहिष्णुता, दोषक्षय और अग्नि की वृद्धि होती है।[४] सुश्रुत ने व्यामाम के गुणों का अतिविस्तार से निरुपण करते हुए इसकी प्रशंसा में यह भी कह डाला है कि व्यायामशील व्यक्ति के निकट शीघ्र वृद्धावस्था नहीं आ पाती।[५]

(ए) स्नान

स्नान से पूर्व अभ्यंग एवं व्यायाम का विधान आयुर्वेदीय ग्रन्थों में है एतदर्थ अन्यन्त्र उल्लेख होने पर भी स्नान से पूर्व इनका निर्देश कर देना उचित समझा गया।

इस १५५वें अध्याय में दन्तधावन के अनन्तर स्नान की चर्चा आयी है। स्नान के गुणों का उल्लेख अग्निपुराण ने अन्यत्र एक प्रसंग में किया है। उनके अनुसार स्नान पित्ताधिक्य का शामक है और शीतल जल से दिन में एक बार अवश्य स्नान करना चाहिए।[६] स्नानान्त धूप का सेवन किया जा सकता है।[७] सुश्रुत के अनुसार स्नान, निद्रा, दाह एवं श्रमहर, स्वेद, कण्डू एवं तृषा का शामक, हृद्य, मलशोधक, समस्त इन्द्रियों का बोधक, तन्द्रा और पाप का शामक, सन्तोष एवं पुंस्त्व प्रदायक, रक्त प्रसादक एवं अग्निदीपन है।[८]

१—सुश्रुत, चि० २४।५०.
२—व्यायामं च कफं हन्यात्....। अ० पु०, २८।३२,
३—अ० पु०, २८१।३३.
४—चरक, सूत्र ७।३१.
५—सुश्रुत, चि० २४।३८—४२.
६—स्नानं पित्ताधिकं हन्यात्। अ० पु०, २८१।३३.
७—अ० पु०, २८१।३३,
८—सुश्रुत, चि० २४।५७, ५८.

स्नान के प्रकार

अ० पु० ने नित्य, नैमित्तिक, काम्य, क्रियाङ्ग, मलकर्षण एवं क्रियास्नान भेद से स्नान के ६ प्रकार बतलाये हैं।[१] इन उपर्युक्त षड्विध स्नानों की व्याख्या धर्मसूत्रों में निहित हैं। अ० पु० कार ने इनकी कोई विवेचना यहाँ प्रस्तुत नहीं की है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में इस प्रकार के स्नान भेद का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

स्नान के महत्व को संक्षिप्त रूप से प्रतिपादित करते हुए अ० पु० का कथन है कि जो नित्य स्नान नहीं करता उसके सभी कर्म निष्फल हो जाते हैं अतएव प्रतिदिन प्रातः स्नान करना सर्वथा समुचित है। विविध प्रकार के स्रोतों से प्राप्त जल के द्वारा स्नान करने से उत्तरोत्तर लाभ होता है—इसका भी निदर्शन अ०पु० ने किया है।

उनका यह कथन है कि भूमिस्थ कूप आदि से निकाले हुए जल की अपेक्षा भूमि पर स्थित जल पवित्र होता है। इससे पवित्र झरने का जल, उससे भी पवित्र सरोवर का जल और उससे भी पवित्र जल नदी का माना जाता है। तीर्थ के जल की प्रशंसा नदी के जल की अपेक्षा कहीं अधिक मानी गई है। गंगा के जल को तो सर्वाधिक पवित्र मान लिया गया है।[२]

अ०पु० में इस प्रसंग में उपन्यस्त सारस एवं गांग जल सुश्रुत की दृष्टि से व्याख्येय हैं। सारस अथवा तडागीय जल सप्तविध भौम-जल के अन्तर्गत परिगणित है। जहाँ तक गांग जल का प्रश्न है वह आन्तरिक्ष जल का अवान्तर भेद है। धार, कार, तौषार एवं हैम भेद से आन्तरिक जल ४ प्रकार का है। इनमें से धारारूप में बरसने वाला जल ही धार है जो कि लघु होने के कारण प्रधान है और यही पुनः गाङ्ग एवं सामुद्र भेद से दो प्रकार का है। गाङ्ग जल के परीक्षण का भी उल्लेख सुश्रुत ने किया है। उनके अनुसार यह गाङ्ग जल अश्विन मास में बरसता है। गाङ्गजल परीक्षण विधि यह है कि वृष्टि के समय यदि रजतपात्र में अकुथित एवं अविदग्ध शाल्योदन पिण्ड बरसते समय एक मुहूर्त्त तक अविकृत बना रहे तो यह समजा जाता हैं कि गाङ्ग जल बरस रहा

१—अ० पु०, १५५।३, ४.

२—अ० पु०, १५५।५,६ तथा गंगामाहात्म्यपरक ११० वाँ अध्याय द्रष्टव्य है।

है।[१] सुश्रुत के अनुसार गाङ्ग जल का अभिप्राय गंगा नदी के जल से नहीं है और संभवतः यही अर्थ अग्निपुराण में भी करना उचित प्रतीत होता है।

उपर्युक्त प्रकार के जल से स्नान करने का रहस्य यही प्रतीत होता है कि जो जल जितना गतिशील होगा वह उतना ही स्वास्थ्य का आपादक होगा। गंगा के जल की सर्वश्रेष्ठता मानने का यही कारण हो सकता है कि इसका जल हिमालय पर्वत की उपत्यका में स्थित विविध प्रकार के वनस्पतियों एवं धातुओं के सम्पर्क में आकर कभी विकृत नहीं होता अतएव उसकी सर्वोपरिता धार्मिक दृष्टि से कथञ्चित् युक्तियुक्त प्रतीत होती है।

स्नान की विधि का संक्षिप्त रूप से विवेचना करते हुए अ० पु० का कथन है कि सर्वप्रथम व्यक्ति को चाहिये कि वह जलाशय में गोता लगाकर शरीर का मल धो डाले। पुनः आचमन करके जल से मार्जन करना चाहिये। 'हिरण्यवर्णा' 'शन्नो देवीरभिष्टये' (यजु०,३६।१२) एवं 'आपो हि ष्ठा' (यजु० ३६।१४-१६) इन तीन ऋचाओं द्वारा तथा 'इदमापः' (यजु०, ६।१७) द्वारा शरीर-मार्जन का विधान है। इस प्रकार मार्जन के अनन्तर व्यक्ति को चाहिये कि वह जलाशय में पुनः डुबकी लगाकर जल के आभ्यन्तर ही जप करे। जप के लिए अघमर्षण सूक्त अथवा 'द्रुपदां वा' (यजु० २०।२०) या 'युञ्जते मनः' (यजु० ५।४) आदि सूक्त अथवा 'सहस्रशीर्षा' (यजु० ४०।३१) आदि सूक्त विधिविहित हैं। इन उपर्युक्त मन्त्रों के जप के अतिरिक्त गायत्री का जप विशिष्ट रूप से प्रशस्त है। इस उपर्युक्त अघमर्षण सूक्त में भाववृत्त देवता अघमर्षण ऋषि एवं अनुष्टुप् छन्द है तथा उसके द्वारा श्रीहरि का स्मरण विनियोग है। भक्तिपूर्वक वरण करने का ही नाम भावृत्त है।[२]

इस प्रकार वस्त्र परिवर्तन कर आद्र शाटी निचोड़ने के पूर्व ही देवता और पितरों का तर्पण करना चाहिये।[३]

उपर्युक्त पितृतर्पण के अनन्तर पुरुषसूक्त (यजु० अध्याय ३१) के द्वारा जलाञ्जलि देना चाहिए। इसके अनन्तर ही अग्नि-होत्र का विधान है और

१—सुश्रुत, सूत्र ४५।७.

२—अ० पु०, १५५।७-१०.

३—अ० पु०, १५५।११.

तत्पश्चात् अपनी शक्ति के अनुसार दान देकर योग एवं क्षेम की सिद्धि के लिए परमेश्वर की शरण में जाने का निर्देश है।[1]

विशिष्ट स्नान-प्रकार

अ० पु० ने २६७वें अध्याय में राजा आदि की विजयश्री बढ़ाने वाले 'माहेश्वर स्नानों' का वर्णन किया है। ये वे स्नान हैं जिन्हें शुक्राचार्य ने दानवेन्द्र वलि को कराया था। इस विधि के अनुसार प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व भद्रपीठ पर आचार्य जलपूर्ण कलशों से राजा को स्नान कराते समय निम्नांकित मन्त्र का पाठ करता है—

> 'ओम् नमो भगवते रुद्राय च वलाय च पाण्डुरोचितभस्मानुलिप्तगात्राय। तद् यथा जय जय सर्वान् शत्रून मूकय कलहविग्रहविवादेषु मज्जय। ओं मथ मथ सर्वपथिकान् योसौ युगान्तकाले दिधक्षति इमां पूजां रौद्रमूर्त्तिः सहस्रांशुः शुक्लः स ते रक्षतु जीवितम्। संवर्त्तकाग्नितुल्यश्च त्रिपुरान्तकरः शिवः। सर्वदेवमयः सोपि तव रक्षतु जीवितं लिखि लिखि खिलि स्वाहा'।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्र से स्नानकर तिल एवं तण्डुल की आहुति देनी चाहिये।[2]

सर्वदा विजय पाने के लिए अ० पु० ने कतिपय विशिष्ट स्नानों का विधान किया हैं जो निम्न प्रकार हैं :—

(१) **घृत-स्नान** : घृत के द्वारा किया गया स्नान परम आयुष्कर माना गया है।[3]

(२) **गोमय-स्नान** : गोबर (गोमय) द्वारा किये गये स्नान से लक्ष्मी की अभिवृद्धि होती है।[4]

(३) **गोमूत्र-स्नान** : गोमूत्र के द्वारा किया गया स्नान पापनाशक माना गया है।[5]

१—अ० पु०, १५५।१२, १३.
२—अ० पु०, २६७।१, २.
३—अ० पु०, २६७।४.
४—तदेव
५—तदेव

(४) क्षीर-स्नान : क्षीर-स्नान से बल एवं बुद्धि की वृद्धि होती है।[१]

(५) दधि-स्नान : दधि-स्नान से सम्पत्ति की वृद्धि होती है।[२]

(६) कुशोदक स्नान : कुशोदक स्नान पापान्तकारी माना गया है।[३]

(७) पञ्चगव्य स्नान : इस स्नान के द्वारा समस्त अभीष्ट की प्राप्ति बताई गई है।[४]

(८) शतमूल-स्नान : शतमूल शतावरी ओषधि का पर्याय है। इस प्रकार इसके मूल से सिद्ध जल के स्नान से सभी कामनाओं की प्राप्ति हो जाती है।[५]

(९) गोशृङ्गोदक-स्नान : गौ के शृंगों को यदि जल में कुछ समय के लिए डाल दिया जाय और उस जल से स्नान किया जाय तो वह समस्त पापों का शामक होता है।[६]

(१०) पलाशादि जल-स्नान : पलाश, बिल्वपत्र, कमल एवं कुश के सिद्ध जल के स्नान से सभी (वस्तुओं की) प्राप्ति हो जाती है।[७]

(११) बचादि जल-स्नान : वचा, हरिद्रा-द्वय एवं मुस्तक से सिद्ध किये गये जल का स्नान परम रक्षोघ्न (Antiseptic) माना गया है। इतना ही नहीं अपितु वह आयु, यश, धर्म एवं मेधाविवर्द्धक भी है।[८]

१—अ० पु०, २६७।५.
२—तदेव
३—तदेव
४—तदेव
५—अ० पु०, २६७।६.
६—तदेव
७—तदेव
८—तदेव २६७।७.

(१२) हेम जल स्नान : जल में यदि स्वर्ण को कुछ समय के लिए डाल दिया जाय और उस जल से स्नान किया जाय तो वह मङ्गलकारी होता है।[१]

(१३) रजत-ताम्र जल स्नान : जो गुण हेम जल स्नान के हैं वे ही रजत एवं ताम्र जल के समझने चाहिये।[२]

(१४) रत्नोदक स्नान : रत्न वासित जल से स्नान करने पर विजय की प्राप्ति होती है।[३]

(१५) सर्वगन्धोदक स्नान : सर्वगन्ध द्रव्यों से मिश्रित जल द्वारा स्नान करने पर सौभाग्य की प्राप्ति होती है।[४]

(१६) फलोदक स्नान : इसके स्नान से आरोग्य की प्राप्ति होती है।[५]

(१७) धात्र्युदक-स्नान : धात्री फल के जल से स्नान करने पर उत्तम लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।[६]

(१८) तिलादि जल स्नान : तिल एवं श्वेत सर्षप के जल में सिद्ध स्नान लक्ष्मी का आपादक है।[७]

(१९) प्रियङ्गूदक-स्नान : प्रियंगु-जल के स्नान से सौभाग्य की प्राप्ति होती है।[८]

(२०) पद्मादिजल स्नान : पद्म, उत्पल तथा कदम्बमिश्रित जल के स्नान से लक्ष्मी की, प्राप्ति होती है।[९]

(२१) बलाद्रुमोदक स्नान : बलावृक्ष के जल से स्नान करने पर बल की प्राप्ति होती है।[१०]

१—अ० पु०, २६७।८.
२ तदेव
३—तदेव
४—तदेव, २६७।८.
५—तदेव, २६७।९.
६—तदेव
७—तदेव
८—तदेव
९—तदेव, २६७।१०.
१०—तदेव

(२२) विष्णूदक स्नान : भगवान् विष्णु के चरणोदक का स्नान सभी स्नानों में श्रेष्ठ माना गया है।[1]

(२३) घृत-क्षीर स्नान : घृत मिश्रित दुग्ध स्नान विष्णु पूजन सहित पित्तरोगनाशक कहा गया है।[2]

(२४) पञ्चगव्य स्नान : पञ्चगव्य से स्नान करने पर वातरोगों की शान्ति होती है।[3]

(२५) द्विस्नेह-स्नान : घृत एवं जल संयुक्त रूप से द्विस्नेह कहलाते हैं। भगवान् विष्णु का अतिशय पूजन सहित द्विस्नेह स्नान करने से कफज रोग शान्त होते हैं।[4]

(२६) त्रिरस-स्नान : घृत, तैल एवं मधु द्वारा कराया गया स्नान 'त्रिरस स्नान' है।[5]

(२७) समल स्नान : घृत एवं तैल मिश्रित जल का स्नान 'समल स्नान है।

(२८) त्रिमधुर स्नान : मधु, इक्षुरस और दुग्ध इनके मिश्रित जल से किया गया स्नान 'त्रिमधुर स्नान' है। ये उपर्युक्त तीनों स्नान लक्ष्मी के प्रापक है।[6]

पूजाधिकार में वर्णित सामान्य स्नान विधि

इस पुराण ने पूजनादि क्रियाओं से पूर्व विधेय स्नान विधि का संक्षिप्त रुप से वर्णन किया है। अ०पु० के अनुसार 'क्ष्रौं' इस नृसिंह बीज या मन्त्र से सर्व प्रथम मृत्तिका को हाथ में लेना चाहिए। उस मृतिका को दो भागों में विभक्त कर एक भाग के द्वारा नाभि से लेकर पाद पर्यन्त लेपन तथा दूसरे भाग के द्वारा अपने अन्य सभी अंगों में लेपन कर मल-स्नान करने का विधान है। इसके पश्चात् शुद्ध स्नान करणार्थ जल में डुबकी लगाकर आचमन करना निर्दिष्ट

१—अ० पु०, २६७।१०
२—अ० पु०, २६७।१३.
३—अ० पु०, २६७।१४.
४—अ०पु०, २६७।१५.
५—अ०पु०, २६७।१६.
६—तदेव

हैं। नृसिंह मन्त्र से न्यास करके-आत्मरक्षा करनी चाहिए। तदनन्तर तन्त्रोक्त रीति से विधि स्नान करके प्राणायामादि पूर्वक हृदय में भगवान् विष्णु का ध्यान करते हुए 'ॐनमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मन्त्र से हाथ में मृत्तिका लेकर उसका तीन भाग करना चाहिए। तदनन्तर नृसिंह मन्त्र से द्वारा जाप करता हुआ उनसे दिग्बन्ध करें। प्रत्येक दिशा में वहाँ के विघ्नकारक भूतों को भगाने की भावना से उक्त मृत्तिका का बिखेरना ही दिगबन्ध है। इसके पश्चात 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस वासुदेव मन्त्र का जाप करके संकल्पपूर्वक तीर्थजल का स्पर्श करना चाहिए। इसके अनन्तर वेदादि के मन्त्रों से अपने शरीर का और आराध्य देव की प्रतिमा या ध्यानकल्पित विग्रह का मार्जन करना विहित है।

तदनन्तर अघमर्षण मन्त्र का जप कर वस्त्र धारण कर अग्रिम कार्य करने का विधान है। सर्वप्रथम अंगन्यास कर मार्जन मन्त्र से मार्जन करना चाहिए। इसके अनन्तर हाथ में जल लेकर नारायण मन्त्र से प्राणसंयम करके जल नासिका से लगाकर सूंघना चाहिए और पुनः भगवान् को ध्यान कर जल का परित्याग कर देना चाहिए। इसके पश्चात् अर्घ्य देकर 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मन्त्र का जप करना चाहिए। पुनः अन्य देवता आदि का भक्ति पूर्वक तर्पण करके योगपीठ आदि के क्रम से दिक्पाल पर्यन्त मन्त्र और देवताओं, ऋषियों, पितरों, मनुष्यों तथा स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण भूतों का तर्पण करके आचमन करना उचित है और इस प्रकार अंगन्यास करके अपने हृदय में मन्त्रों का उपसंहार करने के पश्चात् ही पूजन-मन्दिर में प्रवेश करना उचित है। इस प्रकार अन्य सभी पूजाओं में इस स्नान विधि का अनुसरण करना आवश्यक है।[1]

दिग्पाल स्नान विधि

यह दिग्पाल स्नान सवार्थसाधक एवं शांतिकर माना गया है। इसके अन्तर्गत बुद्धिमान् व्यक्ति नदीतट पर भगवान् विष्णु और ग्रहों को स्नान कराते हैं।[2]

अ०पु० ने इस प्रकरण में अनेक प्रकार के काम्य स्नानों का उल्लेख किया है।

(१) देवालय स्नान

ज्वर जनित पीड़ा, विघ्न एवं ग्रहों के कष्टों से पीड़ित होने पर उस पीड़ा से मुक्ति पाने के लिए पुरुष को देवालय का स्नान करवाना बतलाया गया है।[3]

१—अ०पु०, समग्र बाइसवाँ अध्याय.

२—अ०पु०,२६५।१.

३—अ०पु०,२६५।२.

(२) जलाशय एवं गृह स्नान

विद्या प्राप्ति की अभिलाषा रखने वाले छात्रों को जलाशय अथवा गृह में स्नान करना चाहिए।

(३) तीर्थजल स्नान

विजय के इच्छुक व्यक्ति के लिए तीर्थ जल में स्नान करना उचित है।[१]

(४) पुष्करिणी स्नान

जिस नारी का गर्भस्राव हो जाता है उसके लिए पुष्करिणी का स्नान लाभप्रद बताया गया है।[२]

(५) अशोक वृक्ष के निकट स्नान

जिस स्त्री के नवजात शिशु की जन्म लेते ही मृत्यु हो जाती है उसे अशोक वृक्ष के निकट स्नान करना चाहिए।[३]

(६) उद्यान स्नान

रजोदर्शन की इच्छा रखने वाली स्त्री पुष्प से शोभित उद्यान में स्नान करे।[४]

(७) समुद्र स्नान

पुत्राभिलाषी स्त्रियों के लिए समुद्र में स्नान करना विहित है।[५]

(८) गृह स्नान

सौभाग्य की कामना करने वाली स्त्रियों को घर में ही स्नान करना चाहिए।[६]

(९) विष्णु विग्रह के सम्मुख स्नान

सर्वविध कामना वाली स्त्री-पुरुष के लिए भगवान् विष्णु के विग्रह के सम्मुख स्नान करना सबसे उत्तम माना गया है।[७]

१—अ०पु, २६५।२.
२—अ०पु०, २६५।३.
३—तदेव.
४—अ०पु०, २६५।४.
५—तदेव.
६—तदेव.
७—तदेव

दिग्पाल स्नान की विधि यद्यपि स्वस्थवृत्त की स्नान विधि से पृथक् हैं तथापि उसके अन्तर्गत काम्य स्नान का वर्णन करना उचित समझा गया।

अ० पु० ने विनायक द्वारा उपसृष्ट व्यक्ति के सर्वविध मनोरथ-साधक स्नान का पृथक् २६६ वें अध्याय में उल्लेख किया है।

विनायक से उपसृष्ट व्यक्ति अपने को स्वप्न में गंभीर जल में स्नान करता हुआ एवं मुण्डित शिर के रूप में पाता है। इसके अतिरिक्त वह स्वप्न में ही आममांस खाने वाले गृद्ध एवं व्याघ्र आदि पशुओं की पीठ पर आरूढ होता है। जागृत अवस्था में भी जब वह कहीं जाता है तो उसे यह अनुभूति होती है कि शत्रु उसका पीछा कर रहा है। उसका चित्त विक्षिप्त रहता है और उसके द्वारा किये गये प्रत्येक कार्य का आरम्भ निष्फल होता है। वह अकारण ही खिन्न रहता है। इतना ही नहीं अपितु विनायक द्वारा पीड़ित कुमारी कन्या को शीघ्र वर उपलब्ध नहीं होता और विवाहिता स्त्री को संतान की प्राप्ति नहीं होती। श्रोत्रिय को आचार्य पद नहीं मिलता। शिष्य अध्ययन नहीं कर पाता। वैश्य को व्यापार में और कृषक को कृषि में कोई लाभ नहीं प्राप्त होता। राजा का पुत्र भी यदि इससे पीड़ित हो तो वह भी राज्य को हस्तगत नहीं कर पाता।[1]

विनायक स्नान विधि इसी प्रकार के विनायक-उपसृष्ट व्यक्तियों के लिये अ० पु० ने बताई है। जहाँ तक विनायक स्नान की विधि का प्रश्न है उसके निमित्त दिन और शुभ मुहूर्त का ही विचार किया जाता है। हस्त, पुष्प, अश्विनी, मृगशिरा तथा श्रवण नक्षत्रों में से किसी एक नक्षत्र में व्यक्ति को भद्रपीठ पर स्वस्ति वाचन कराकर स्नानार्थ बैठना चाहिए।[2]

स्नान से पूर्व उबटन (उद्वर्त्तन) का प्रयोग करना अग्निपुराण ने आवश्यक बताया है और एतन्निमित्त इस पुराण ने और इससे पूर्व के अध्याय में दो प्रकार के उद्वर्त्तनों का निर्देश किया है जो इस प्रकार है :—

(ऐ) प्रथम उद्वर्त्तन

काम्य स्नान करने वाले मनुष्य के लिये एक सप्ताह पूर्व से ही उबटन लगाने का विधान है। पुनर्नवा, रोचना, शताङ्ग एवं अगरुवृक्ष की छाल, मधूक, दो प्रकार की हल्दी, तगर, नागकेसर, अम्बरी, मञ्जिष्ठा, जटामांसी, यासक, कर्दम,

---

१—अ० पु०, २६६।१–६.

२—तदेव.

प्रियंगु, सर्षप, कुष्ट, कला, ब्राह्मी कुङ्कुम एवं सुक्तुमिश्रित पञ्चगव्य—इन सबको मिला कर उबटन का निर्माण करना चाहिये ।[१]

द्वितीय उद्वर्त्तन

इस उद्वर्त्तन का उल्लेख इसी विनायक-स्नान विधि के प्रसंग में हुआ है। इसमें पीली सरसों को पीस कर उसमें घी मिला कर उद्वर्त्तन बनाया जाता है जिसका मनुष्य के समस्त शरीर में लेपन करना होता है ।[२]

इस उद्वर्त्तन के प्रयोग के अनन्तर ही विनायक स्नान के लिये सन्नद्ध व्यक्ति के मस्तक पर सर्वौषध सहित सब प्रकार के सुगन्धित द्रव्य का लेप करना चाहिये और चार कलशों में निहित सर्वौषध सिद्ध जल द्वारा स्नान करणीय है। जलपूर्ण कलशों के आभ्यन्तर अश्वशाला, गजशाला, वल्मीक, नदी संगम तथा जलाशय से लाई गई पाँच प्रकार की मृत्तिका, गोरोचना, गन्ध (चन्दन, कुङ्कुम आदि) तथा गुग्गुलु आदि को भी डालना चाहिये। इस प्रकार शास्त्रोक्त विधि से यह विनायक स्नान कराया जाता है ।[३]

यद्यपि इस स्नान का भी सम्बन्ध स्वस्थवृत्तगत सामान्य स्नान से नहीं है तथापि उद्वर्त्तन और जल-सुगन्धीकरणार्थ अनेक औषधियों के उल्लेख के कारण इसका इस प्रकरण में समावेश करना उचित समझा गया। इस प्रकार यह स्नान-विधि निरूपित हुई।

(ओ) पानार्थ जल

अ० पु० ने पेय जल को छानकर पीने का ही विधान किया है।[४] सुश्रुत[५] के समान ही जल-शुद्धि के लिए कतक वृक्ष के फल का भी विधान अ० पु० ने किया है। उनके अनुसार तो कतक का नाम मात्र लेने से ही जल को शुद्धि हो जाती है ।[६]

---

१ अ० पु०, २६५।५-८.

२—अ० पु०, २६६।७.

३—अ० पु०, २६६।८, ९.

४ —अ० पु०, १६१।६.

५—सुश्रुत, सूत्र ४५।१७.

६—अ० पु०, १६१।१२.

इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी अ० पु० ने छने (पूत) जल के ही पान को प्रशस्त माना है।[1]

रात्रिचर्या

आहार, निद्रा एवं मैथुन की चर्चा उपस्तम्भत्रय में अ० पु० ने की है।[2] जहाँ तक आहार का सम्बन्ध है उस प्रसंग में हिताशी, मिताशी एवं जीर्णाशी होना व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक है।[3] पर्व को छोड़कर अन्य सभी तिथियों में स्त्रियों से मैथुन किया जा सकता है।[4] मैथुन के अन्त में स्त्री-पुरुष दोनों को स्नान करना चाहिये।[5]

ऋतुचर्या

आयुर्वेदीय ग्रन्थों के समान अ० पु० ने ऋतुचर्या का कोई विशिष्ट उल्लेख नहीं किया है। केवल अभ्यंग के प्रसंग में वात प्रकृति पुरुष को ग्रीष्म ऋतु में साधारण या अधिक, वसन्त ऋतु में मध्यम और ग्रीष्म ऋतु में विशेष रूप से अंगमर्दन करने का विधान निर्दिष्ट है।[6]

वैयक्तिक स्वस्थवृत्त

व्यक्ति से सम्बद्ध स्वस्थवृत्त को वैयक्तिक स्वस्थवृत्त कहा जाता है और अबतक वर्णित दिन, रात्रि एवं ऋतुचर्या का निरूपण इसी के अन्तर्गत समझना चाहिए।

आसन, शयन, यान, पत्नी, अपत्य एवं कमण्डलु—ये सभी वस्तुएँ अपनी हों तभी शुद्ध एवं प्रयोज्य मानी गई हैं।[7]

ढेला फोड़ने वाला, तिनका तोड़ने वाला एवं नाखून को चबाने वाला व्यक्ति विनष्ट हो जाता है। मुख आदि अंगों को बजाना नहीं चाहिए तथा रात्रि में

१—अ० पु०, १६११६, ७.
२—अ० पु० २८११७, १८.
३ - अ० पु०, २८११२०.
४—अ० पु०, १५४११९.
५—अ० पु०, १५९११९.
६—अ० पु०, २८११२६, २७.
७—अ० पु०, १५५११३, १४.

दीपक के बिना बाहर निकलना उचित नहीं। किसी के भी घर में प्रधान द्वार को छोड़कर किसी अन्य द्वार से प्रवेश नहीं करना चाहिये। अपने मुख को किसी भी वर्ण से विवर्ण नहीं करना चाहिये। यदि किसी प्रकार की कथा-वार्त्ता चल रही हो तो उसे भंग नहीं करना चाहिये। अपने वस्त्र को दूसरे के वस्त्र से बदलना नहीं चाहिए। सदैव कल्याणकारी वार्त्ता करनी चाहिए एवं किसी के अनिष्ट की चर्चा नहीं करनी चाहिए।[1]

पलाश के द्वारा बने आसन का व्यवहार नहीं करना चाहिए तथा देवता आदि की छाया से हटकर ही चलना चाहिए। दो पूज्य पुरुषों के मध्य से होकर कभी नहीं निकलना चाहिए। उच्छिष्टमुख होकर तारा आदि को नहीं देखना चाहिए। दोनों हाथों से शरीर को कभी खुजलाना नहीं चाहिए। बिना पितरों एवं देवताओं को तर्पण किये नदी को पार नहीं करना चाहिए। व्यक्ति को नग्न होकर स्नान नहीं करना चाहिए।[2] माला आदि को अपने द्वारा नहीं हटाना चाहिए। गदहा आदि के चलने से उठी हुई धूल से बचना चाहिए। दीन हीन व्यक्तिओं को कष्ट में देखकर कभी उनका उपहास नहीं करना चाहिए ना ही उनके साथ अनुपयुक्त स्थान पर निवास करना चाहिए। रजस्वला आदि पतित व्यक्तियों के साथ कभी वार्तालाप नहीं करना चाहिए। मुख को ढके बिना हँसना नहीं चाहिए इसी प्रकार जृम्भा और छींक भी नहीं लेना चाहिए।[3]

विद्वान पुरुष को स्वामी तथा अपने अपमान की बात को गुप्त रखना चाहिए। इन्द्रियों के वश में रहकर कभी काम नहीं करना चाहिए। मल आदि वेगों का अवरोध करना ठीक नहीं है। मार्ग लघंन कर चलने के पश्चात् सदैव जल से आचमन करना चाहिए। कल्याणमय पूज्य पुरुष के प्रति कभी हुंकार नहीं करना चाहिए। एक पाँव पर दूसरा पाँव रखकर नहीं बैठना चाहिए। जन्म, नक्षत्र के दिन चन्द्रमा, ब्राह्मण तथा देवता आदि की पूजा करनी चाहिए। षष्ठी, अष्टमी एवं चतुर्थी तिथियों में अभ्यङ्ग करना वर्जित है। घर से दूर जाकर मल-मूत्र का त्याग करना चाहिए।[4]

१—अ०पु, १५५।१८–२०.
२—अ०पु०, १५५।२१,२२.
३—अ०पु०, १५५।२३–२५.
४—अ०पु०, १५५।२६,२७,२८, ३१.

सामाजिक स्वस्थवृत्त

जो आचरण या कर्त्तव्य समाज के प्रति होने चाहिए उनका पालन करना सामाजिक स्वस्थवृत्त है। मार्ग चलते समय यदि भार से आक्रान्त व्यक्ति सामने आ जाय, दुःखी दृष्टिगत हो, गर्भिणी स्त्री एवं गुरुजन भी यदि मार्ग में आ जायें तो उन्हें मार्ग दे देना चाहिए। उदित एवं अस्त होते हुऐ तथा जलमग्न सूर्य को नहीं देखना चाहिए। नग्न स्त्री, कूप, हत्या और पापियों के स्थान की ओर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए। कपास, अस्थि भस्म तथा घृणित वस्तुओं का लाघंना भी निषिद्ध है। दूसरों के अन्तःपुर तथा कोपागार में सहसा प्रवेश नहीं करना चाहिए और दूसरों के दूत का भी काम नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार टूटी-फूटी नाव, वृक्ष, और पर्वत पर चढ़ना नहीं चाहिए।[1]

एक नदी में जाकर दूसरी नदी का नाम नहीं लेना चाहिए। जल में मल आदि का फेकना सर्वथा वर्जित है। इसी प्रकार मल को भी अपने हाथ से नहीं छूना चाहिए। वैद्य, राजा और नदी से हीन देश में कभी निवास नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्ति जहाँ के स्वामी म्लेच्छ, स्त्री या बहुनायक हो वहाँ भी निवास करना उचित नहीं हैं। अग्नि और जल को कभी भी एक साथ लेकर चलना नहीं चाहिए। उत्तम पुरुषों के साथ वैर भाव रखना उचित नहीं है।[2]

सद्वृत्त या आचारपरक स्वस्थवृत्त

इसके अन्तर्गत सदाचारपरक एवं मानसिक कर्त्तव्यों का सन्निवेश होता है।

धन, स्थान एवं शास्त्र के विषय में व्यक्ति को जिज्ञासा एवं कौतूहल रखना चाहिए। सदैव केशव का स्मरण करना मन को बलवान् बनाता है। व्याधि एवं शत्रु दुर्वल क्यों न हों उनकी कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कभी किसी की अप्रिय बात नहीं कहनी चाहिये। वेद, शास्त्र, राज, ऋषि और देवता की निंदा करनी त्याग देनी चाहिये। स्त्रियों के साथ ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये और उनपर विश्वास भी नहीं करना चाहिये। प्रतिदिन धर्मशास्त्र का स्मरण करते हुए देवताओं की आराधना करनी चाहिये।[3]

१—अ०पु०, १५५।१४, १७.

२ - अ०पु०, १५५।२१–२४, ३१.

३—अ०पु०, १५५।१७, २५, २९, ३०.

द्रव्य शुद्धि

जिस प्रकार स्वस्थवृत्त के अन्तर्गत प्राणियों की शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। उसी प्रकार व्यक्ति के लिये उपयोग में आने वाली सभी सामग्रियों की शुद्धि पर भी अग्निपुराणकार ने विशेष ध्यान दिया है। उन्होंने इस शुद्धि को द्रव्य शुद्धि के नाम से अभिहित किया है। इस द्रव्यशुद्धि के अन्तर्गत उन्होंने विभिन्न धातुओं एवं जाङ्गम पदार्थों से बने विभिन्न पात्रों तथा विशिष्ट अवसर पर प्राणियों के विभिन्न अङ्गों की शुद्धि का चित्रण किया है।

मृत्तिका से निर्मित्त पात्र पुनः पाक के द्वारा शुद्ध हो जाते हैं किन्तु मल-मूल आदि के स्पर्श हो जाने पर ये पुनः पकाने से शुद्ध नहीं होते। स्वर्ण-निर्मित्त पात्र आदि अपवित्र वस्तुओं से स्पर्श हो जायें तो धोने मात्र से पवित्र हो जाते हैं। ताम्र से बने पात्रों की शुद्धि खटाई और जल से होती है। कांस्य और लोह से तैयार किये गये पात्र राख (क्षार) से मलने पर पवित्र हो जाते हैं।[1]

मोती आदि की शुद्धि धोने मात्र से हो जाती है। जल से उत्पन्न (शङ्ख आदि) सभी प्रकार के पत्थरों से निर्मित पात्रों की तथा शाक, रस्सी, जड़, फल और बाँस आदि के दलों ने बनी हुई वस्तुओं की शुद्धि जल के धोने मात्र से हो जाती है।[2]

यज्ञकर्म में प्रयुक्त यज्ञ पात्रों की शुद्धि केवल (दाहिने) हाथ से कुश द्वारा मार्जन करने पर हो जाती है। घृत या तैल से स्निग्ध पात्रों की शुद्धि उष्ण जल से हो जाती है। घर की शुद्धि झाड़ू-बुहारु तथा लिम्पन से होती है। शोधन और प्रोक्षण (सींचने) से वस्त्र की शुद्धि होती है। रेह की मिट्टी और जल से वस्त्रों का विशोधन किया जाता है। यदि कथंचित् बहुत से वस्त्रों की ढेरी किसी अस्पृश्य वस्तु से स्पर्श कर जाये तो उस पर जल छिड़क देने (प्रोक्षण) मात्र से उनकी शुद्धि मान ली जाती है।[3]

काष्ठ द्वारा निर्मित्त पात्रों की शुद्धि पात्रों को काट कर छील देने से हो जाती है।[4]

१—अ० पु०, १५६।१५६।१,२.
२—अ० पु०, १५६।२, ४.
३—अ० पु०, १५६।४, ५.
४—अ० पु०, १९६.६.

शय्या आदि सहंत वस्तुओं के उच्छिष्ट आदि से दूषित होने पर उस पर जल छिड़क देने से उसकी शुद्धि हो जाती है। घृत, तैल आदि द्रव्य की शुद्धि दो कुश पात्रों के उत्पवन (उछालने) मात्र से हो जाती है। शयन, आसन, यान, सूप, शकट, (बैलगाड़ी) पुआल और ईंधन की शुद्धि प्रोक्षणमात्र से हो जाती है।[1] नारियल और तुम्बी जैसे फल निर्मित्त पात्रों की शुद्धि गोपुच्छ के बालों द्वारा रगड़ने से होती है।[2]

शङ्ख आदि प्राणिज-प्राणियों के अस्थि से निर्मित पात्रों की शुद्धि शृङ्ग-निर्मित पात्रों के समान ही पीली सरसों के लेप से हो जाती है।[3]

गोंद, गुड़, नमक, कुसुम्भ के फूल, ऊन एवं कपास की शुद्धि धूप में सुखाने (शोषण) से हो जाती है।[4]

नदी का जल सर्वदा शुद्ध माना जाता है। जो वस्तुएँ बाजार में फैलाई हुई होती हैं वे भी शुद्ध ही मानी जाती हैं।[5]

गौ के मुख को छोड़कर उसके सभी अङ्ग शुद्ध माने जाते हैं। घोड़े और बकरे के मुख को सर्वदा शुद्ध माना जाता है। इसी प्रकार स्त्रियों का मुख भी सदा शुद्ध है। दूध दुहने के समय बछड़े का, वृक्ष से फल गिरने पर पक्षियों का, मृगया (शिकार) वाले कुत्तों का मुख इसी प्रकार शुद्ध माना जाता है।[6]

भोजन करने, थूकने, सोने, पानी पीने, नहाने, सड़क घूमने और वस्त्र पहनने के बाद अवश्य आचमन करना चाहिये। मार्जार घूमने फिरने से शुद्ध हो जाता है। रजस्वला स्त्री चौथे दिन शुद्ध होती है। ऋतुस्नाता स्त्री पाँचवें दिन देवता एवं पितरों की पूजा में सम्मिलत होने योग्य मानी जाती है।[7]

शौच के पश्चात् पाँच बार गुदा दस बार बाये हाथ में पुनः सात बार दोनों हाथों में, एक बार लिङ्ग में तथा पुनः दो तीन बार हाथ में मिट्टी लगाकर धोना

---

१ – अ० पु०, १५६।६,७.
२—अ० पु०, १५६।७,८.
३—अ० पु०, १५६।७.
४—अ० पु०, १५६।८,९.
५—अ० पु०, १९६।९.
६—अ० पु०, १५६।१०, ११.
७—अ०पु० १५६।११-१३.

चाहिये। यह विधान गृहस्थों के लिये समान्यतः माना गया है किन्तु ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासी के लिये गृहस्थ की अपेक्षा चौगुने शौच का विधान है।[१]

अंशुपट्ट (टसर) के पात्रों की शुद्धि बेल के फल के गूदे से होती है। तीसी और सन आदि के सन से निर्मित वस्त्रों की शुद्धि गोमय एवं सरसों के चूर्ण से निर्मित उबटन से जाती है। मृगचर्म या मृगरोम से निर्मित आसन आदि की शुद्धि जल के प्रोक्षण मात्र से हो जाती है। इसी प्रकार पुष्प और फल की भी शुद्धि जल के द्वारा प्रोक्षण कर देने से हो जाती है।[२]

अग्निपुराण में द्रव्य शुद्धि का जो संक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण वर्णन है उसका आधार बौधायन धर्मसूत्र (१।५।३४, ३५ एवं १।६।३७-४१), वशिष्ठ (३।५८ एवं ६१-६३), मनु (५।१११-११४), याज्ञवल्क्य (१।१८२ एवं १९०), विष्णु (२३।२७, २३, २४), शंख (१६।३-४) स्मृतियाँ एवं स्मृत्यर्थसार (पृ० ७०) आदि ग्रन्थ हैं।

प्राचीन काल के स्मृतियों एवं धर्मसूत्रों में इसका मुख्य उद्देश्य यज्ञों में प्रयुक्त सामग्रियों के संशोधन से रहा है, क्योंकि अग्निपुराण में पठित जो भी द्रव्य शुद्धि के लिये निर्दिष्ट हैं वे सभी यज्ञ के दृष्टिकोण से हो लिखे गये हैं। अपने से पूर्वकालीन ग्रन्थों में विस्तृत रूप से उल्लिखित विवरण का उपादेयता की दृष्टिकोण से अग्निपुराणकार ने संग्रह कर लिया है।

१—अ०पु० १५६।१३-१४.
२—अ०पु० १५६।१५-१६.

षष्ठ अध्याय

द्रव्यगुणशास्त्र की सामग्री

औषधार्थ प्रयुक्त होने वाली सभी वस्तुओं को आयुर्वेद में द्रव्य माना गया है। इस प्रकार जगत् में कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है जो द्रव्य होकर औषध रूप न हो।[1] सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं। द्रव्यों का आश्रय स्थान (अधिष्ठान) पृथ्वी और उत्पत्तिस्थान (योनि) उदक है। आकाश, वायु और अग्नि समवाय रूप से रहकर द्रव्य के अभिनिर्वृत्ति एवं विशेष असादृश्य में कारण होते हैं। यद्यपि सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं तथापि जिस द्रव्य में जिस भूत की प्रधानता रहती है, उसी भूत की प्रधानता से उसे पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य एवं आकाशीय कहते हैं।[2] इनमें जिह्वा के साथ द्रव्य का संयोग होने पर जो स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है वह रस है।[3]

रस, गुण, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव

प्रत्येक औषधात्मक द्रव्य अपने निहित रस के द्वारा कार्य करते हैं। ये रस हैं—स्वादु, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त एवं कषाय। इनमें से आदि के तीन सौम्य एवं अन्त के तीन आग्नेय माने गये हैं।[4] कटु, अम्ल एवं लवण भेद से द्रव्य का विपाक तीन प्रकार का माना गया है।[5] विपाक की परिभाषा अ० पु० में नहीं है। वाग्भट ने विपाक की परिभाषा दी है। उनके अनुसार खाये हुए रसों का पचन स्थानों की जाठराग्नि के द्वारा पाक क्रिया पूर्ण होने पर शरीर में शोषित अन्न रस में जो रसान्तर (रस की) की उत्पत्ति होती है उसे विपाक कहा जाता है।[6] वृद्ध वाग्भट के अनुसार मधुर एवं लवण द्रव्यों का मधुर विपाक, अम्ल का

१—इत्थं च नानौषधभूतं जगति किञ्चिद्
द्रव्यममस्ति विविधार्थप्रयोगवशात्। अ० सं०, सू० १७।६.

२—इह हि द्रव्यं पाञ्चभौतिकम। तस्याधिष्ठानं पृथ्वी योनिरुदकं खानिलान-
लसमवायान्निर्वृत्तिविशेषौ....। अ० सं०, सू० १७।३.

३—तत्र व्यक्तो रसः। अ० सं० सू० १७।४.

४—अ० पु०, २८१।१.

५—अ० पु०, २८१।३.

६—जाठरेणाग्निना योगाद् यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः॥ अ० सं०, सू० ९।२०.

अम्ल विपाक, शेष कटु तिक्त एवं कषाय द्रव्यों का कटु विपाक होता है।[१] इसी विपाक के प्रसंग में अष्टांग संग्रह में पाराशर ऋषि का मत भी उल्लिखित है जिसके अनुसार अम्लरस का अम्ल, कटु रस का कटु एवं शेष चार रसों में मधुर, लवण, कषाय एवं तिक्त का मधुर विपाक होता है।[२]

शीत और उष्ण भेद से वीर्य को भी दो प्रकार का कहा गया है। चरक[३] और सुश्रुत[४] ने प्रभूत (विशेष कार्य करने की शक्ति वाले) द्रव्यगत भूतप्रसादातिशय रूप (जन्य), रस, गुण, विपाक और सारभूत अंश (सत्व) इन सब में व्यापक ऐसा द्रव्य जिस (रस, गुण, विपाक प्रभाव या भूतप्रसादातिशय रूप सत्वांश) के द्वारा संशोधन, संशमन आदि क्रिया करता है उसी को वीर्य कहा है। यद्यपि आयुर्वेदिक ग्रन्थों में वीर्य सम्बन्धी अनेक मत हैं किन्तु अ० पु० ने शीत और उष्ण इन्हीं दो को ही वीर्य माना है। अ० पु० ने शीत और उष्ण ऐसा जो दो विभाग वीर्य का उपस्थित किया है वह अ० सं० पर अवलम्बित है। वृद्ध वाग्भट का इस विषय में कथन है कि कुछ आचार्य, महाभूतों के आग्नेय तथा सौम्य गुण होने से तथा काल के आदान तथा विसर्ग काल इस प्रकार के दो विभाग के कारण गुरु आदि आठ प्रकार के वीर्य में से किन्ही महाभूतों के आग्नेय होने से ऐसा मानते हैं। उष्ण और सौम्य होने से शीत होते हैं।[५] मधुर, कषाय एवं तिक्त रस वाले शीत वीर्य तथा अवशिष्ट अम्ल, लवण तथा कटु रस वाले उष्ण कहे गये हैं (अ० पु०, २८१।४५)। जिस द्रव्य में रस, वीर्य एवं विपाक की समानता हो किन्तु कर्म में विशेषता हो अर्थात् उसमें से रस वीर्य एवं विपाक का कर्मों से भिन्न कर्म ही दृष्टिगत हो तो उस कर्म का कारण प्रभाव है। अ० पु० ने प्रभाव को अनिर्देश्य कहा है।[६] अ० हृ० ने प्रभाव का इसी प्रकार वर्णन किया है।[७] प्रभाव के उदाहरणों को भी अ० पु० ने उपन्यस्त किया है। गुडूची यद्यपि तिक्त है किन्तु वीर्य में वह उष्ण मानी गई है। यहाँ उसे तिक्त रस युक्त होने के कारण शीत वीर्य होना

१—विपाकतु प्रायः स्वादुः स्वादुलवणयोरम्लोऽम्लस्य कटुरिरेषां रसैरसौ तुल्यफलः। अ० सं० सू० १७।१७.

२—अ० सं० सू०, १७।१९-२०.

३—च० सूत्र० अ० २६.

४—सु०, सू० अ० ४१।९.

५—अ० सं०, सू० १७।१४.

६—अ० पु०, २८१।४.

७—अ० हृ०, सूत्र० ९।२६.

चाहिए था किन्तु प्रभाव के कारण वह उष्ण वीर्य वाली हो गई। हरीतकी (पथ्या) कषाय रस होने के कारण भी उष्णवीर्य है। मधुर रस वाला मांस भी उष्ण ही कहा गया है। लवण और मधुर का विपाक लवण, अम्ल का अम्ल तथा तिक्त एवं कषाय का कटु विपाक माना गया है। जो औषध द्रव्य, वीर्य और विपाक में भिन्न दिखाई पड़ते हैं उनका विनिश्चय प्रभाव से किया जाता है। उदाहरण के रूप में मधु (क्षौद्र) मधुर रस होने पर भी कटु विपाक वाला माना गया है।[१] प्रभाव का यह संक्षिप्त वर्णन वाग्भट के अ० सं०[२] एवं अष्टांग हृदय से लिया गया प्रतीत होता है।[३] इन दोनों ग्रन्थों ने प्रभाव के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

पञ्चविध कषाय-कल्पना

स्वरस, कल्प, क्वाथ, हिम और फाण्ट-ये पाँच कषाय कल्पनायें है जिनका उल्लेख अ० पु० ने द्रव्य गुण के प्रसंग में किया है। इस पञ्चविधि कषाय कल्पना की परिभाषा जो अ० पु० में दी गई है वह शाङ्र्गधर संहिता से पर्याप्त सादृश्य रखती है। अ० पु० का कथन है कि स्वरस या रस वह है जो द्रव्यों के पीडन या दबाने से निकलता है।[४] शाङ्र्गधर का कथन है कि तत्क्षण या उखाड़कर लाई गई ताजी रसयुक्त ओषधी को कूट कर कपड़े पर रख कर निचोड़ने से जो रस प्राप्त होता है वह 'स्वरस' है।[५] शाङ्र्गधर ने स्वरस की तीन परिभाषायें दी हैं।[६]

इसी द्रव्य को पीस कर उसकी लुगदी बना लेना 'कल्क' कहलाता है[७]। शाङ्र्गधर ने कल्क की परिभाषा में कुछ और भी संशोधन किमा है। उनके अनुसार उपर्युक्त वर्णन के अतिरिक्त शुष्क ओषधि को जल देकर पीसकर लुगदी बना लेने को भी 'कल्क' कहना चाहिये।[८] ओषधि को क्वाथ कर पुनः नीचे उतार कर रख लेना 'शृत' कहलाता है।[९] शाङ्र्गधर ने इसी को 'हिम' या

१--अ० पु०, २८१।२२,
२—अ० पु०, २८१।५-८.
३—अ० पु०, सू० १८।४४-४६.
४—अ० हृ०, सू० ९।२६-२७.
५—अ० पु०, २८१।२२.
६—आहृतात्तत्क्षणाकृष्टाद् द्रव्यात् क्षुण्णात्समुद्धरेत्।
वस्त्रनिष्पीडितो यः स रसः स्वरस उच्यते॥ शाङ्र्गधर, म०, १।२.
७—तदेव तथा श्लोक ३, ४.
८—अ० पु०, २८१।२२.
९—द्रव्यमार्द्रं शिलापिष्टं शुष्कं वा सजलं भवेत्। शा०, म०, ५।१.

'शीत कषाय' भी कहा है और इसमें अच्छी तरह कूटी हुई ओषधि का एक पल लेकर ६ पल ठण्डे जल में मिलाकर रातभर पड़ा रहने दे और प्रातःकाल उसे मसलकर छान ले तो यही 'शृत' है।[१] अ० पु० ने रात्रि में जल में पड़े रहने वाले और प्रातःकाल मसलकर छाने हुए द्रव्य को 'शीत' कहा है।[२] कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि 'क्वाथ' को ही अ०पु० ने 'शृत' कहा है। सद्यो भिश्रृत ओषधि (खूब सूक्ष्म कुटी हुई ओषधि) को अत्यन्त उष्ण जल में डालकर उसे कुछ समय तक पड़ा रहने दें। जब दोनों एक समान हो जायें तो यह 'फाण्ट' है।[3] शाङ्र्गधर ने यही परिभाषा दी है और इसका निर्माण क्वाथ के भी समान बताया है।[४] क्वाथ के निर्माण के लिए अ०पु० ने शाङ्र्गधर के समान ही क्वाथ्य वस्तु से षोडश जल लेकर चतुर्थांश तक पका लेने को 'क्वाथ' कहा है यही कषाय की कल्पना है। जहाँ कोई विधि नहीं निर्दिष्ट है वहाँ इसी विधि से क्वाथ का निर्माण किया जा सकता है। जल को ही कषाय माना गया है और स्नेह पाक में उसकी चौगुनी मात्रा ली जाती है। शाङ्र्गधर ने घृत एवं तेल की कल्पना में कल्क से स्नेह चौगुना और स्नेह से चौगुना द्रव्य लेकर घृत और तेल को शुद्ध करने को कहा है।[५] भैषज्य कल्पना की भाषा में यही घृत एवं तेल की मूर्च्छना है। अ०पु० का यह कथन है कि द्रव्य के समान मात्रा में ही स्नेह का क्षेपण करना चाहिए और जितना प्रमाण द्रव्य का है उससे चौथाई स्नेह का होना चाहिए जो द्रव्य जल से रहित तथा स्नेह से युक्त हो तो सम्बर्तित औषध वाला पाक स्नेह का माना गया है। जो वस्तु लेह्य है उसका तत्तुल्य प्रमाण होना चाहिए। उपर्युक्त रीति से स्वच्छ और स्वल्प औषध वाला क्वाथ कषाय कहलाता है। चूर्ण की मात्रा अक्ष बतायी गयी है। कषाय की ४ पल मात्रा वास्तविक प्रमाण है। यह वास्तव में मध्यम मात्रा है। अवस्था, समय, बल, अग्नि, देश, द्रव्य इन सबका भलीभाँति पर्यवेक्षण कर मात्रा की कल्पना की जाती है। विशेष रुप से जो द्रव्य मधुर होते हैं वे धातुवर्धक माने जाते हैं। धातु और दोष के समान गुण वाला जो द्रव्य होता है वही वृद्धिकारक माना जाता है।[६]

१—शाङ्र्ग०, म० ४।१,
२—अ० पु०, २८१।२३,
३—अ० पु०, २८१।२३,
४—शाङ्र्ग०, मध्य, ३।१-२,
५—अ० पु०, २८१।९—११,
६—अ० पु०, २८१।१२-१४,

औषध-मान

चरक[1] एवं सुश्रुत[2] ने क्रमशः मागध एवं कालिङ्ग मान का निर्देश किया है। अ० पु० ने अमरकोष (२।९।८५) के समान पौतव, द्रुवय एवं पाय्य इस त्रिविध मान के स्थान पर किसी भी विकल्प पद का प्रयोग नहीं किया है, यद्यपि अन्य सभी मान अमरकोषवत् है।

अ० पु० के अनुसार तुला, अङ्गुलि एवं प्रस्थ भेद से मान तीन प्रकार का होता है।[3] जो वस्तुयें तराजू (तुला) एवं बटखरे के द्वारा मापी जाती हैं वे तुला मान के अन्तर्गत आती हैं। अंगुलि मान से किसी वस्तु की लम्बाई, एवं उँचाई नापी जाती है। प्रस्थ से तरल वस्तुएँ मापी जाती हैं। हेमचन्द्र ने तुला द्वारा आंके हुए मान को पौतव, कुडव आदि के द्वारा किये गए मान को द्रुवय एवं हस्त आदि के द्वारा मापे गये मान को पाय्य कहा है।[4] इनमें से तुला का पौतव के साथ, प्रस्थ का द्रुवय के साथ एवं पाय्य का अंगुलि के साथ ऐक्य स्थापित किया जा सकता है।

अग्निपुराणोक्त ये मान निम्नरीत्या यहाँ प्रस्तुत हैं :—

५ गुञ्जा	=	१ आद्य माषक
१६ माषा	=	१ अक्ष या कर्ष
४ कर्ष	=	१ पल
१ सुवर्ण अक्ष	=	१ सुवर्ण या विस्त
१ पल सुवर्ण	=	१ कुरुविस्त
१०० पल	=	१ तुला
२० तुला	=	१ भार
१० भार	=	१ आचित

पाय्यं हस्तादिभिः। (हेमचन्द्र : अभि० चि० म०, ३।५३७),

१ कार्षापण	=	१ कार्षिक
१ ताम्र कार्षिक	=	१ पण

१—सिद्धि०

२—उत्तरतन्त्र

३—मानं तुलाङ्गुलिप्रस्थैः ... ...। (अ० पु०, ३६६।३९=अ० को०, २।९।८९)

४—तुलाद्येपौतवं मानं, द्रुवयं कुडवादिभिः।

ये सभी मान जिस प्रकार अ० पु०[१] में निर्दिष्ट हैं उसी प्रकार अमरकोष[२] में भी। जिस प्रकार द्रव्यगुण प्रकरण की अन्य सामग्री (वनस्पति, धान्य आदि के पर्याय) अमरकोष से अ० पु० ने ग्रहण की उसी प्रकार इसे भी। वस्तुतः इसे यह सामग्री चरक या सुश्रुत अथवा अष्टाङ्ग संग्रह से लेनी चाहिए थी। संभवतः विस्तार के भय से इसे वहाँ से न लेकर उक्त कोष से ही लेना उचित समझा हो। यही कारण था कि अ० पु० ने अमरकोषस्थ प्रस्थमान का यहाँ स्वल्प भी उल्लेख नहीं किया।[३]

देवार्चना-निमित्त प्रयुक्त ओषधियों के पुष्प

पुष्प, गन्ध, धूप, दीप एवं नैवेद्य से भगवान् विष्णु (हरि) प्रसन्न होते हैं। इस स्थल में जो पुष्प एतन्निमित्त योग्य एवं अयोग्य हैं उनका निरुपण किया जा रहा है।

पूजन में 'मालती' पुष्प उत्तम है।[४] 'तमाल' पुष्प भोग और मोक्ष का प्रदाता है।[५] 'मल्लिका' समस्त पापों का नाश करती है तथा 'यूथिका' विष्णुलोक प्रदान करने वाली कही गई है।[६] 'अतिमुक्तक' और 'लोध्र' पुष्प विष्णुलोक की प्राप्ति में सहायक माने गये हैं।[७] 'करवीर' पुष्पों से पूजन करने वालों को बैकुण्ठ की प्राप्ति होती है।[८] 'जवा' पुष्प से पुण्य की उपलब्धि होती है।[९] 'पावन्ती' 'कुब्जक' एवं 'तगर' पुष्पों से पूजन करने वाले को विष्णुलोक की प्राप्ति होती है।[१०] 'कर्णिकार' द्वारा पूजन करने से बैकुण्ठ की प्राप्ति होती है।[११] 'कुरुण्ट' पुष्पों से किया गया पूजन पापों का नाश करने वाला होता है।[१२] 'पदम्', 'केतकी' एवं 'कुन्द' पुष्पों से परमगति की प्राप्ति होती है। 'बाण' पुष्प, बर्बरा' पुष्प और

१—३६६।३९—३८,
२—२।६।८५-८७,
३—२।ख।८८,
४—अ० पु०, २०२।२.
५—तदेव, २०२।२.
६—तदेव, २०२।२.
७—तदेव, २०२।३.
८—तदेव, २०२।३.
९—तदेव, २०२।३.
१०—तदेव, २०२।४.
११—तदेव, २०२।४.
१२—तदेव, २०२।४.

'कृष्ण तुलसी' के पूजन से श्रीहरि का लोक प्राप्त होता है।[1] 'अशोक' 'तिलक' एवं 'अटरूष' के पूजन से मोक्ष की प्राप्ति होती है। 'विल्वपत्र' एवं 'शमी' पत्रों से परमगति सुलभ है। 'तमालदल' तथा 'भृगङ्गराज' के कुसमों से पूजन करने वाला 'विष्णुलोक में निवास करता है। 'कृष्ण तुलसी', 'शुक्ल तुलसी', 'कल्हार', 'उत्पल' 'पद्म', एवं 'कोकनद;—ये पुष्प पुण्यप्रद माने गये हैं।[2]

भगवान् श्रीहरि सौ कमल की माला समर्पण करने से परम प्रसन्न होते हैं। 'नीप', 'अर्जुन', 'कदम्ब', सुगन्धित कदम्ब', 'किंशुक', 'मुनिपुष्प', 'गोकर्ण', 'सन्ध्या-पुष्पी', 'बिल्वातक', 'रञ्जनी', 'केतकी', 'कूष्माण्ड', 'ग्रामकर्करी', 'कुश', 'कास', 'शरपत(शर)', 'विभीतक', 'मरुवक' तथा अन्य सुगन्धित पत्रों द्वारा भक्तिपूर्वक पूजन करने से भगवान् श्रीहरि प्रसन्न हो जाते हैं। इनसे पूजन करने वाले के पाप नष्ट हो जाते हैं तथा उसे भोग एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है। लक्ष स्वर्ण-भार से पुष्प उत्तम है, पुष्पमाला उससे भी करोड़ गुनी श्रेष्ठ है, अपने तथा दूसरों के उद्यानों के पुष्पों की अपेक्षा वन्य पुष्पों का तिगुना फल माना गया है।[3]

वनौषधियाँ एवं उनके पर्याय

अ० पु० का ३६३वाँ अध्याय (श्लोक १५-७१) १६९ वनौषधियों का पर्याय प्रस्तुत करता है। यह समस्त सामग्री अमरकोष (२।४।२०-१६९) से इस पुराण में आनुपूर्वी सम्मिलित की गई है। किसी भी ओषधि के गुण का कोई निर्देश अ० पु० में उपलब्ध नहीं होता।

इस प्रकरण की अग्रिम पंक्तियों में अ० पु० निर्दिष्ट वनौषधियों के पर्यायों की सन्दर्भ तुलना अमरकोष के द्वितीय काण्ड के वनौषधिवर्ग के सम्बद्ध सन्दर्भ के साथ प्रस्तुत की जा रही है। इन सभी पर्यायीं का वानस्पतिक नाम परिशिष्ट-एक में दिया गया है।

कतिपय वनौषधियों का सन्दर्भ एवं पर्याय सहित तुलनात्मक परिचय

वनौषधि संख्या	अ० पु० के वनौषधि पर्याय	अमरकोष गत वनौषधि पर्याय	
१	२	३	४
१.	बोधिद्रुम	बोधिद्रुम	
	चलदल	चलदल	
	३६३।१५	२।४।२०	(५)

१—अ० पु०, २०।५.

२—अ० पु०, २०।६-८.

३—अ० पु०, २०।८-१२.

१	२	३	४
२.	दधित्थः,	दधित्थः	
	ग्राही (=ग्राहिन)	ग्राही (=ग्राहिन्)	
	मन्मथः	मन्मथः	
	दधिफलः	दधिफलः	
	पुष्पफलः	पुष्पफलः	
	दन्तशठः	दन्तशठः	
	३६३।१५–१६	२।४।२१	(७)
३.	उडुम्बरः (डु)	उडुम्बरः (दु)	
	हेमदुग्धः	हेमदुग्धकः	
	३६३।१६	२।४।२२	(४)
४.	कोविदारः	कोविदारः	
	द्विपत्रकः	युगपत्रकः	
	३६३।१६	२।४।२२	(४)
५.	सप्तपर्णः	सप्तपर्णः	
	विशालत्वक्	विशालत्वक्	
	(=विशालत्वच्)	(=विशालत्वच्)	
	३६३।१७	२।४।२३	(४)
६.	कृतमालः	कृतमालः	
	सुवर्णकः	सुवर्णकः	
	आखेतः	आखेतः	
	व्याधिघातः	व्याधिघात	
	संपाकः	संपाक	
	चतुरङ्ला	चतुरङ्ला	
	३६३।१७	२।४२३–२४.	(८)
७.	जम्बीरः	जम्बीरः	
	दन्तशठः	दन्तशठः	
	३६३।१८	२।४।२४	(५)
८.	तिक्तशावकः	तिक्तशाकः	
	वरुणः	वरुणः	
	३६३।१८	२।४।२५	(५)

१	२	३	४
९.	पुन्नागः	पुन्नागः	
	पुरुषः	पुरुषः	
	तुङ्गः	तुङ्गः	
	केशरः (श)	केसर (स)	
	देववल्लभः	देववल्लभः	
	३६३।१८	२।४।२५	(५)
१०.	पारिभद्रः	परिभद्रः	
	निम्बतरुः	निम्बतरुः	
	पारिजातकः	परिजातकः	
	३६।३१९	२।४।२६	(४)
११.	वञ्जुलः	वञ्जुलः	
	चित्रकृत्	चित्रकृत्ः	
	३६३।१९	२।४।२७	(७)
१२.	पीतनः	पीतनः	
	कपीतनः	कपीतनः	
	आम्रातकः	आम्रातकः	
	३६३।१९–२०	२।४।२७	(३)
१३.	मधूकः	मधूकः	
	गुडपुष्पः	गुडपुष्पः	
	मधुद्रुमः	मधुद्रुमः	
	३६३।२०	२।४।२७	
१४.	पीलुः	पीलुः	
	गुडफल	गुडफल	
	स्रंसीः (=स्रंसिन)	स्रंसीः	
	३६३।२०	२१४।२८	(३)
१५.	नादेयो (स्त्री)	नादेयी	
	अम्बुवेतसः	अम्बुवेतसः	
	३६३।२०	२।४।३०	(४)
१६.	शोभाञ्जनः	शोभाञ्जनः	
	शिग्रुः	शिग्रुः	

१	२	३	४
	तीक्ष्णगन्धकः	तीक्ष्णगन्धकः	
	अक्षीरः (र)	अक्षीवः (व)	
	मोचकः	मोचकः	
	३६३।२१	२।४।३१	(५)
१७.	मधुशिग्रुः (रक्त शिग्रु)	मधुशिग्रुः	
	३६३।२१	२।४।३१	(१)
१८.	अरिष्टः	अरिष्टः	
	फेनिलः	फेनिलः	
	३६३।२१	२।४।३१	(२)
१९.	गालवः	गालवः	
	शावरः (व)	शाबरः (ब)	
	लोध्रः	लोध्रः	
	तिरीटः	तीरीटः	
	तिल्वः	तिल्वः	
	मार्जनः	मार्जनः	
	३६३।२२	२।४३३	(६)
२०.	शेलुः	शेलुः	
	श्लेष्मातकः	श्लेष्मातकः	
	शीतः	शीतः	
	उद्दालः	उद्दालः	
	वहुवारकः	वहुवारकः	
	३६३।२२	२।४।३४	(५)
२१.	वैकङ्कतः (वैं)	विकङ्कतः (वि)	
	श्रवावृक्षः (श्रु)	स्रुवावृक्षः (स्रु)	
	ग्रन्थिलः	ग्रन्थिलः	
	व्याघ्रपाद् (= व्याघ्रपाद्)	व्याघ्रपाद्	
	३६३।२३	२।४।३७	(५)
२२.	तिन्दुकः	तिन्दुकः	
	स्फूर्जकः	स्फूर्जकः	
	३६३।२३	२।४।३८	(४)

१	२	३	४
२३.	नादेयी	नादेयी	
	भूमिजम्बुका	भूमिजम्बुका	
	३६३।२३	२।४।४८	(२)
२४.	काकतिन्दुः	काकतिन्दुकः	
	पीलुकः	कालपीलुकः (काक)	
	३६३।२४	२।४।३९	(४)
२५.	पाटलिः	घण्टापाटलिः (घण्टा)	
	मोक्षः	मोक्ष	
	मुष्ककः	मुष्ककः	
	३६३।२४	२।४।३९	(५)
२६.	क्रमुकः	क्रमुकः	
	पट्टिकाख्यः	पट्टिकाख्यः	
	३६३।२४	२।४।४१	(४)
२७.	कुम्भी (स्त्री)	कुम्भी	
	कर्य्यः (र्य्य)	कर्यः (र्य)	
	कट्फल	कट्फलः	
	३६३।२४	२।४।४०	(५)
२८.	वीरवृक्षः	वीरवृक्षः	
	अरुष्करः	अरुष्करः	
	अग्निमुखी (स्त्री)	अग्निमुखो	
	भल्लातकी	भल्लातको	
	३६३।२५	२।४।४२	(४)
२९.	पीतसाल	पीतसालकः	
	सर्जकः	सर्जकः	
	असनः	असनः	
	३६३।२५	२।४।४३-४४	(६)
३०.	सर्जा	सर्ज	
	अश्वकर्णाः (कर्णी)	अश्वकर्णकः (कर्णक)	
	३६३।२६	२।४।४४	(५)

१	२	३	४
३१.	इन्द्रद्रुः वीर, इन्द्र ककुभः अर्जुनः ३६३।२६	इन्द्रद्रुः वीरतरु ककुभः अर्जुनः २।४।४५	(५)
३२.	इङ्गुदी (स्त्री पु०) तापसतरुः ३६३।२७	इङ्गुदी (स्त्री पु०) तापसतरुः २।४।४६	
३३.	शाल्मलिः मोचा ३६३।२६	शाल्मलिः मोचा २।४।४७	(५)
३४.	चिरविल्वः नक्तमालः (नक्तमाल) करञ्जः करञ्जकः ३६३।२७	चिरविल्वः नत्तमालः (नत्तमाल) करजः करञ्जकः २।४।४७	(४)
३५.	प्रकीर्य्यः (र्य्यः) पूतिकरजः ३६३।२७	प्रकीर्यः (र्य) पूतिकरजः २।४।४८	(४)
३६.	मर्कटी अङ्गारवल्लरी (स्त्री) ३६३।२७	मर्कटी अङ्गारवलारी २।७।४८	
३७.	रोही (=रोहिन्) रोहितकः प्लीहशत्रुः दाडिमपुण्पकः ३६३।२८	रोही (=रोहिन्) रोहितकः प्लीहशत्रुः दाडिमपुष्पकः २।४।४९	(४)
३८.	गायत्री (स्त्री) बालतनयः खदिरः	गायत्री बालतनयः खदिरः	

१	२	३	४
	दन्तधावनः	दन्तधावनः	
	३६३।२८	२।४।४९	(४)
३९.	अरिमेदः	अरिमेदः	
	विटखदिरः	विटखदिरः	
	३६३।२९	२।४।५०	(२)
४०.	कदरः	कदरः	
	३६३।२९	२।४।५०	(२)
४१.	पञ्चांगुलः	पञ्चांगुलः	
	वर्द्धमानः	वर्द्धमानः	
	चञ्चुः	चञ्चुः	
	गन्धर्वहस्तकः	गन्धर्वहस्तकः	
	३६३।२९	२।४।५०-५१	(११)
४२.	पिण्डीतकः	पिण्डीतकः	
	मरुवकः	मरुवकः	
	३६३।३०	२।४।५१	(६)
४३.	पीतदारु, देवदारु	पीतदारु	
	दारु पूतिकाष्ठं	दारु पूतिकाष्ठं	
	३६३।३०	२।४।५३	(८)
४४.	श्यामा	श्यामा	
	महिलाह्वया	महिलाह्वया	
	लता	लता	
	गोवन्दनी	गोवन्दनी	
	गुन्दा (द्रा)	गुन्द्र (द्रा)	
	प्रियङ्गु	प्रियङ्गु	
	फलिनी	फलिनी	
	फली	फली	
	३६३।३०, ३१	२।४।५५	(१२)
४५.	मण्डूकपर्णः	मण्डूकपर्णः	
	पत्रोर्णि	पत्त्रोर्ण	
	नटः	नटः	

१	२	३	४
	वटवङ्गः	वटवङ्गः	
	टुण्टुकः	टुण्टुकः	
	श्योनाकः (श)	स्योनाकः (स)	
	शुकनासः	शुकनासः	
	ऋक्षः	ऋक्षः	
	दीर्घवृन्तः	दीर्घवृन्तः	
	कुटन्नटः	कुटन्नटः	
	३६३।३१-३२	२।४।५६-५७	(१२)
४६.	पीतद्रुः	पीतद्रु	
	सरलः	सरलः	
	३६३।३२	२।४।६०	(३)
४७.	निचुलः	निचुलः	
	अम्बुजः	अम्बुजः	
	इज्जलः	हिज्जलः (हि)	
	३६३।३२	२।४।६१	(३)
४८.	काकोदुम्बरिका (डु)	काकोदुम्बरिका (दु)	
	फल्गुः	फल्गुः	
	३६३।३३	२।४।६१	(४)
४९.	आरष्टः सर्वतोभद्र	आरष्ट	
	पिचुमर्दः निम्बः	पिचुमर्दः	
	३६३।३३	२।४।६२	(६)
५०.	शिरीषः	शिरीषः	
	कपीतनः	कपीतनः	
	३६३।३३	२।४।६३	(३)
५१.	पिच्छिला	पिच्छिला	
	अगरु	अगरु	
	शिंशपा	शिंशपा	
	३६३।३४	२।४।६२	(३)
५२.	वकुलः	वकुलः	
	३६३।३४	२।४।६	(२)

१	२	३	४
५३.	वञ्जुलः	वंजुलः	
	३६३।३४	२।४।६४	(२)
५४.	जया	जया	
	जयन्ती	जयन्ती	
	तर्कारी	तर्कारी	
	३६३।३४	२।४।६५	(५)
५५.	गणिकारिका, श्रीपर्णम्	गणिकारिका	
	कणिका, अग्निमन्थः	कणिका, श्रीपर्णम अग्निमन्थ	
	३६३।३४-३५	२।४।६६	
५६.	वत्सकः	वत्सकः	
	गिरिमल्लिका (स्त्री)	गिरिमल्लिका	
	३६३।३४	२।४।६६	(४)
५७.	कालस्कन्धः	कालस्कन्धः	
	तमालः	तमालः	
	३६३।३५	२।४।६८	(३)
५८.	सिन्धुवारः (सिन्ध)	सिन्दुवारः (सिन्ध)	
	निर्गुण्डी	निर्गुण्डी	
	३६३।३६	२।४।६८	(५)
५९.	आस्फोता (स्त्री)	आस्फोता	
	३६३।३६	२।४।७०	(१)
६०.	तण्डुलीयः (चौराई का शाक)	तण्डुलीयः	
	अल्पमारिष	अल्पमारिष	
	३६३।३५	२।४।१३६	(२)
६१.	गणिका	गणिका	
	यूथिका	यूथिका	
	अम्बष्ठा	अम्बष्ठा	
	३६३।३६	२।४।७१	(४)
६२.	सप्तला	सप्तला	

१	२	३	४
	नवमालिका	नवमालिका	
	३६३।३६	२।४।७२	(२)
६३.	अतिमुक्तः	अतिमुक्तः	
	पुण्ड्रकः	पुण्ड्रकः	
	३६३।३७	२।४।७२	(४)
६४.	कुमारी	कुमारी	
	तरणिः	तरणिः	
	सहा	सहा	
	३६३।३७	२।४।७३	(३)
६५.	कुरवकः	कुरवकः	
	३६३।३७	२।४।७४	(१)
६६.	कुरुण्टकः	कुरुण्टकः	
	३६३।३७	२।४।७४	(१)
६७.	वाणा	वाणा	
	३६३।३८	२।४।७४	(३)
६८.	झिण्टी	झिण्टी	
	सैरेयकः	सैरेयकः	
	३६३।३८	२।४।७५	(७)
६९.	कुरुवकः (रुव)	कुरबकः (रव)	
	३६३।३८	२।४।७५	(१)
७०.	सहचरी	सहचरी	
	३६३।३८	२।४।७५	(२)
७१.	धूर्तः कितव	धूर्तः	
	धुस्तूरः (धस्तू)	धत्तूर (धत्तू)	
	३६३।३९	२।४।७७	(७)
७२.	रुचकः	रुचकः	
	मातुलुङ्गकः	मातुलङ्गकः	
	३६३।३९	२।४।७८	(२)

१	२	३	४
७३.	समीरणः	समीरणः	
	मरुवकः	मरुवकः	
	प्रस्थ पुष्प	प्रस्थ पुष्पः	
	फणिज्झकः (झ)	फणिज्जकः (ज)	
	३९३।३९	२।४।७९	(५)
७४.	पर्णासः	पर्णासः	
	कुठेरकः	कुठेरकः	
	३६३।४०	२।४।७९	(३)
७५.	वसुकः अर्क	वसुकः	
	आस्फोतः	आस्फोत (आ)	
	३६३।४०	२।४।८०	(७)
७६.	शिवमल्ली (=शिवमल्लिन्)	शिवमल्ली	
	पाशुपतः	पाशुपतः	
	३६३।४०	२।४।८१	(५)
७७.	वृन्दा (वृ)	वन्दा (व)	
	वृक्षादनी	वृक्षादनी	
	वृक्षरोहा	वृक्षराहा	
	जीवन्तिका	जीवन्तिका	
	३६३।४०-४१	२।४।८२	(४)
७८.	तन्त्रिका	तन्त्रिका	
	अमृता	अमृता	
	सोमवल्ली	सोमवल्ली	
	मधुपर्णी	मधुपर्णी	
	३६३।४१	२।४।८२	(९)
७९.	मूर्वा	मूर्वा	
	मोरटा	मोरटा	
	मधूलिका	मधूलिका	
	मधुश्रेणी	मधु श्रेणी	
	पीलुपर्णी	पीलुपर्णी	
	३६३।४१-४२	२।४।८३-८४	(१०)

१	२	३	४
८०.	पाठा	पाठा	
	अम्बष्ठा	अम्बष्ठा	
	विद्धकर्णी	विद्धकर्णी	
	प्राचीना	प्राचीना	
	वनतिक्तिका	वनतिक्तिका	
	३६३।४२	२।४।८२-८५	(१०)
८१.	कटु	कटु	
	कटुम्भरा	कटुंवरा	
	चक्राङ्गी	चक्राङ्गी	
	शकुलादनी	शकुलादनी	
	३६३।४३	२।४।८५-८६	(८)
८२.	आत्मगुप्ता	आत्मगुप्ता	
	प्रावृषायी	प्रावृषायी	
	कपिकच्छु	कपिकच्छु	
	मर्कटी	मर्कटी	
	३६३।४३	२।४।८६-८७	(९)
८३.	अपामार्गः	अपामार्गः	
	शैखरिकः	शैखरिकः	
	प्रत्यक्पर्णी	प्रत्यक्पर्णी	
	मयूरकः	मयूरकः	
	३६३।४४	२।४।८८-८९	(८)
८४.	द्रवन्ती	द्रवन्ती	
	शंबरी	शंबरी	
	वृषा	वृषा	
	३६३।४४	२।४।८७	(१०)
८५.	फञ्जिका (फ)	हञ्जिका (ह)	
	ब्राह्मणी	ब्राह्मणी	
	भार्गी	भार्गी	
	३६३।४४	२।४।८९	(९)

१	२	३	४
८६.	मण्डूकपर्णी	मण्डूकपर्णी	
	भण्डीरी	भण्डीरी	
	समङ्गा	समङ्गा	
	कालमेशिका	कालमेशिका	
	३६३।४५	२।४।९०-९१	(९)
८७.	रोदनी	रोदनी	
	कच्छुरा	कच्छुरा	
	अनन्ता	अनन्ता	
	समुद्रान्ता	समुद्रान्ता	
	दुरालभा	दुरालभा	
	३६३।४५	२।४।९१-९२	(१०)
८८.	पृश्चिपर्णी	पृश्चिपर्णी	
	पृथक्पर्णी	पृथक्पर्णी	
	कलशिः	कलशिः	
	धावनिः	धावनिः	
	गुहा	गुहा	
	३७३।४६	२।४।९२-९३	
८९.	निदिग्धिका (कण्टकारी)	निदिग्धिका	
	स्पृशी	स्पृशी	
	व्याघ्री	व्याघ्री	
	क्षुद्रा	क्षुद्रा	
	दुःस्पशी	दुःस्पशी	
	३६३।४६	२।४।९४	(१०)
९०.	अवल्गुजः	अवल्गुजः	
	सोमराजी	सोमराजी	
	सुवल्लिका	सुविल्लः	
	सोमवल्लिका	सोमवल्लिका	
	कालमेषी	कालमेषी	
	कृष्णफला	वाकुची	
	वाकुची		

१	२	३	४
	पूतिफली ३६३।४७	पूतिफली २।४।९५-९६	
९१.	चव्यम् चविका (चविका) ३६३।४८	चव्यम् चविकम २।४।९८	(८)
९२.	काकचिञ्चा गुञ्जा कृष्णला ३६३।४८	काकचिञ्च गुञ्जा कृष्णला २।४।९८	(२)
९३.	कणा उषणा उपकुल्या ३६३।४८	कणा उषणा उपकुल्या २।४।९७	(३)
९४.	गजपिप्पली श्रेयसी ३६३।४८	पिप्पली श्रेयसी २।४।९७	
९५.	विश्वा विषा प्रतिविषा ३६३।४९	विश्वा विषा प्रतिविषा २।४।९९	(८)
९६.	वनशृङ्गाट गोक्षुर ३६३।४९	वनशृङ्गाट गोक्षुरक २।४।९९	(७)
९७.	शतमूली नारायणी ३६३।४९	शतमूली नारायणी २।४।१००-१०१	(१०)
९८.	कालेयक हरिद्रु दार्वी	कालेयक हरिद्रु दार्वी	

१	२	३	४
	पञ्चपचा	पञ्चपचा	
	दारु	दारुहरिद्रा	
	३६३।४९, ५०	२।४।१०१, १०२	(७)
९९	हैंमवती	हैंमवती	
	३६३।५०	२।४।१०३	(१)
१००.	वचा	वचा	
	उग्रगन्धा	उग्रगन्धा	
	षड्गन्धा	षड्गन्धा	
	गोलोमी	गोलोमी	
	शतपर्विका	शतपर्विका	
	ःः६३।५०	२।४।१०२	(५)
१०१.	आस्फोता	आस्फोटा (टा)	
	गिरिकर्णी	गिरिकर्णी	
	३६३।५१	२।४।१०४	(४)
१०२.	सिंहास्य	सिंहास्य	
	वासक	वासक	
	वृष	वृष	
	३६३।५१	२।४।१०२-१०३	(८)
१०३.	कोकिलाक्ष	कोकिलाक्ष	
	इक्षुर	इक्षुर	
	क्षुर	क्षुर	
	३६३।५१	२।४।१०४	(५)
१०४.	मधुरिका	मधुरिका	
	छत्रा	छत्रा	
	मिशी	मिसि	
	३६३।५१	२।४।१०५	(६)
१०५.	विडङ्गम	विडङ्गम	
	क्रुमिघ्न	क्रुमिघ्न	
	३६३।५२	२।४।१०६	(६)

१	२	३	४
१०६.	वज्रद्रु	वज्र	
	स्नुक्	स्नुक्	
	स्नुही, सुधा	स्नुही	
	३६३।५२	२।४।१०५	(६)
१०७.	मृद्वीका	मृद्वीका	
	गोस्तनी	गोस्तनी	
	द्राक्षा	द्राक्षा	
	३६३।५२	२।४।१०७	(५)
१०८.	वला	वला	
	बाट्यालक	बाट्यालक	
	३६३।५२	२।४।१०७	
१०९.	काला	काला	
	मसूरविदला	मसूरविदला	
	३६३।५३	२।४।१०९	(७)
११०.	त्रिपुटा	त्रिपुटा	
	त्रिवृता	त्रिवृता	
	त्रिवृत्	त्रिवृत्	
	३६३।५३	२।४।१०८	(७)
१११.	मधुकम	मधुकम्	
	क्लीतक्	क्लीतकम्	
	यष्टीमधुक्	यष्टीमधुकम्	
	मधुयष्टिका	मधुयष्टिका	
	३६३।५३	२।४।१०९	(४)
११२.	विदारी	विदारी	
	क्षीरशुक्ला	क्षीरशुक्ला	
	क्रोष्ट्री	क्रोष्ट्री	
	सिता	सिता	
	३६३।५४	२।४।११०	

१	२	३	४
११३.	गोपी	गोपी	
	श्यामा	श्यामा	
	शारिवा	शारिवा	
	अनन्ता	अनन्ता	
	उत्पलशारिवा	उत्पलशारिवा	
	३६३।५४	२।४।११२	(५)
११४.	मोचा	मोचा	
	रम्भा	रम्भा	
	कदली	कदली	
	३६३।५५	२।४।११३	(६)
११५.	भण्टाकी	भण्टाकी	
	दुष्प्रधर्षिणी	दुष्प्रधर्षिणी	
	३६१।५५	२।४।११४	(५)
११६.	ध्रुवा	ध्रुवा	
	सालपर्णी	सालपर्णी	
	स्थिरा	स्थिरा	
	३६३।५५	२।४।११५	(५)
११७.	शृङ्गी	शृङ्गी	
	वृषभः	वृषभः	
	वृषः	वृषः	
	३६३।५५	२।४।११६	(३)
११८.	गांगेरुकी	गांगेरुकी	
	नागबला	नागबला	
	३६३।५६	२।४।११७	(४)
११९.	मुषली (ष)	मुसली (स)	
	तालमूलिका	तालमूलिका	
	३६३।५६	२।४।११९	(२)
१२०.	ज्योत्स्नी (ज्यो)	ज्योत्स्नी (ज्यो)	

१	२	३	४
	पटोलिका	पटोलिका	
	जाली	जाली	
	३६३।५६	२।४।११८	(३)
१२१.	अजश्रृङ्गी	अजश्रृङ्गी	
	विषाणी	विषाणी	
	३६३।५६	२।४।११९	(२)
१२२.	लाङ्गलिकी	लाङ्गलिकी	
	अग्निशिखा	अग्निशिखा	
	३६३।५७	२।४।११८	
१२३.	ताम्बूली	ताम्बूली	
	नागवल्ली	नागवल्ली	
	३६३।५७	२।४।१२०	
१२४.	हरेणु	हरेणु	
	रेणुका	रेणुका	
	कौन्ती	कौन्ती	
	३६३।५७	२।४।१२०	(६)
१२५.	ह्रीवेरः	ह्रीवेरः	
	दिव्यनागर		
	३६३।५७	२।४।१२१	(५)
१२६.	कालानुसार्य्यम्	कालानुसार्यम्	
	वृद्ध	वृद्धम्	
	अश्मपुष्पम्	अश्मपुष्पम्	
	शीतशिवम्	शीतविशवम्	
	शैलेयम्	शैलेयम्	
	३६३।५८	२।४।१३२-२३	(५)
१२७.	तालपर्णी	तालपर्णी	
	दैत्या	दैत्या	
	गन्धकुटी	गन्धकुटी	

१	२	३	४
	मुरा	मुरा	
	३६३।५८	२।४।१२३	(५)
१२८.	ग्रन्थिपर्णम्	ग्रन्थिपर्णम्	
	शुकम्	शुकम्	
	र्वहि	र्वाहिपुष्पम्	
	३६३।५९	२।४।१३२	(४)
१२९.	त्रिपुटा	त्रिपुटा	
	त्रुटि	त्रुटि	
	३६३।५९	२।४।१२५	(५)
१६०.	शिवा	शिवा	
	तामलकी	तामलकी	
	३६३।५९	२।४।१२७	(७)
१३१.	हनु	हनु	
	हट्टविलासिनी	हट्टविलासिनी	
	३६३।५९	२।४।१३०	(४)
१३२.	कुटन्नटम्	कुटनटम्	
	दाशपुरम्	दाशपुरम्	
	वानेयम्	वानेयम्	
	परिपेलवम्	परिपेलवम्	
	३६३।६०	२।४।१३१	(८)
१३३.	तपस्विनी	तपस्विनी	
	जटा	जटा	
	मांसी	मांसी	
	३६३।६०	२।४।१३४	(६)
१३४.	स्पृक्का	स्पृक्का	
	देवी	देवी	
	लता	लता	
	वधूः	वधूः	
	३६३।६०	२।४।१३३	

१	२	३	४
१३५.	कर्चूरक	कर्चूरक	
	द्राविडक	द्राविडक	
	३६३।६१	२१४।१३५	(४)
१३६.	गन्धमूली	गन्धमूली	
	शठी	शटी	
	३६३।६१	२१४।१५४	(५)
१३७.	ऋक्षगन्धा	ऋक्षगन्धा	
	छगलान्त्रा	छगलान्त्री	
	आवेगी	आवेगी	
	वृद्धदारक	वृद्धदारक	
	३६३।६१	२१४।१३७	(५)
१३८.	तुण्डिकेरी	तुण्डिकेरी	
	रक्फला	रक्फला	
	बिम्बिका	बिम्बिका	
	पीलुपर्णी	पीलुपर्णी	
	३६१।६३	२१४।१३९	(४)
१३९.	चाङ्गेरी	चाङ्गेरी	
	चुक्रिका	चुक्रिका	
	अम्बष्ठा	अम्ब्रष्ठा	
	३६३।६२	२१४।१४०	(५)
१४०.	स्वर्णक्षीरी	स्वर्णक्षीरी	
	हिमावती	हिमावती	
	३६३।६३	२१४।१३८	(५)
१४१.	सहस्रवेधी	सहस्रवेधी	
	चुक्र	चुक्र	
	अम्लवेतस	अम्लवेतस	
	शतवेधी	शतवेधी	
	३६३।६३	२१४।४१	(४)

१	२	३	४
१४२.	जीवन्ती जीवनी जीवा ३६३।६३	जीवन्ती जीवनी जीवा २।४।१४२	(६)
१४३.	भूमिनिम्बः किरातकः ३६३।६३	भूनिम्बः किराततिकः २।४।१४३	(३)
१४४.	कूर्चशीर्ष मधुकर ३६३।६४	कूर्चशीर्ष मधुरक २।४।१४२	(५)
१४५.	चन्द्रः कपिवृकः ३६३।६४	चन्द्रः २।४।४६	(५)
१४६.	दद्रुघ्नः एडगजः ३६३।६४	दद्रुघ्नः एडगजः २।४।१४७	
१४७.	वर्षाभूः शोथहारिणी ३६३।६४	 शोथघ्नी २।४।१४९	
१४८.	कुनन्दती (दन्ती) निकुम्भः ३६३।६५	दन्ती निकुम्भः २।४।१४४	
१४९.	यमानी वर्षिका ३६३।६५		
१५०.	लशुन गृञ्जन अरिष्ट महाकन्द	लशुनम् गृञ्जनम अरिष्ट महाकन्द	

१	२	३	४
	रसोनक	रसोनक	
	३६३।६५	२।४।१४८	(६)
१५१.	वाराही	वाराही	
	वदरा (व)	बदरा (ब)	
	गृष्टि	गृष्टि	
	३६३।६६	२।४।१५१	(४)
१५२.	काकमाची	काकमाची	
	वायसी	वायसी	
	३६३।६६	२।४।१५१	(२)
१५३.	शतपुष्पा	शतपुष्पा	
	सितच्छत्रा	सितच्छत्रा	
	अतिच्छत्रा	अतिच्छत्रा	
	मधुरा	मधुरा	
	मिसि	मिसि	
	अवाक्पुष्पी	अवाक्पुष्पी	
	कारवी	कारवी	
	३६३।६६-६७	२।४।१५२	(७)
१५४.	सरणा	सरणा	
	प्रसारिणी	प्रसारिणी	
	कटम्भरा	कटम्भरा	
	भद्रवला (व)	भद्रबला (ब)	
	७६३।६७	२।४।२५२,१५३	(५)
१५५.	कर्च्चूर	कर्च्चूर	
	शटी	शटी	
	३७३।३७	२।४।१५४	(५)
१५६.	पटोल	पटोल	
	तिक्त	तित्तक	
	कुलक	कुलक	
	३६३।१८	२।४।१५५	(४)

१	२	३	४
१५७.	कारवेल्ल	कारवेल्ल	
	कटिल्लक	कटिल्लक	
	३६३।६८	२।४।१५४	(३)
१५८.	कूष्माण्डक	कूष्माण्डक	
	कर्कारु	कर्कारु	
	३६३।६८	२।४।१५५	(२)
१५९.	ईर्वारु	ईर्वारु	
	कर्कटी	कर्कटी	
	३६३।६८	२।४।१५५	(२)
१६०.	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु	
	कटुतुम्बी	कटुतुम्बी	
	३६३।६९	२।४।१५६	(२)
१६१.	विशाला	विशाला	
	इन्द्रवारुणी	इन्द्रवारुणी	
	३६३।६९	२।४।१५६	(२)
१६२.	अर्शोघ्न	अर्शोघ्न	
	शूरण	शूरण	
	कन्द	कन्द	
	३६३।६९	२।४।१५७	(३)
१६३.	कुरुविन्द	कुरुविन्द	
	मुस्तक	मुस्तक	
	३६३।६९	२।४।१५९	(४)
१६४.	वंश	वंश	
	त्वक्सार	त्वक्सार	
	कर्मार	कर्मार	
	वेणु	वेणु	
	मस्कर	मस्कर	

१	२	३	४
	रसोनक	रसोनक	
	३६३।६५	२।४।१४८	(६)
१५१.	वाराही	वाराही	
	वदरा (व)	बदरा (ब)	
	गृष्टि	गृष्टि	
	३६३।६६	२।४।१५१	(४)
१५२.	काकमाची	काकमाची	
	वायसी	वायसी	
	३६३।६६	२।४।१५१	(१)
१५३.	शतपुष्पा	शतपुष्पा	
	सितच्छत्त्रा	सितच्छत्त्रा	
	अतिच्छत्त्रा	अतिच्छत्त्रा	
	मधुरा	मधुरा	
	मिसि	मिसि	
	अवाक्पुष्पी	अवाक्पुष्पी	
	कारवी	कारवी	
	३६३।६६-६७	२।४।१५२	(७)
१५४.	सरणा	सरणा	
	प्रसारिणी	प्रसारिणी	
	कटम्भरा	कटम्भरा	
	भद्रवला (व)	भद्रबला (ब)	
	७६३।६७	२।४।२५२,१५३	(५)
१५५.	कर्च्चूर	कर्च्चूर	
	शटी	शटी	
	३७३।३७	२।४।१५४	(५)
१५६.	पटोल	पटोल	
	तिक्त	तित्तक	
	कुलक	कुलक	
	३६३।१८	२।४।१५५	(४)

१	२	३	४
१५७.	कारवेल्ल	कारवेल्ल	
	कटिल्लक	कटिल्लक	
	३६३।६८	२।४।१५४	(३)
१५८.	कूष्माण्डक	कूष्माण्डक	
	कर्कारु	कर्कारु	
	३६३।६८	२।४।१५५	(२)
१५९.	ईर्वारु	ईर्वारु	
	कर्कटी	कर्कटी	
	३६३।६८	२।४।१५५	(२)
१६०.	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु	
	कटुतुम्बी	कटुतुम्त्री	
	३६३।६९	२।४।१५६	(२)
१६१.	विशाला	विशाला	
	इन्द्रवारुणी	इन्द्रवारुणी	
	३६३।६९	२।४।१५६	(२)
१६२.	अर्शोघ्न	अर्शोघ्न	
	शूरण	शूरण	
	कन्द	कन्द	
	३६३।६९	२।४।१५७	(३)
१६३.	कुरुविन्द	कुरुविन्द	
	मुस्तक	मुस्तक	
	३६३।६९	२।४।१५९	(४)
१६४.	वंश	वंश	
	त्वक्सार	त्वक्सार	
	कर्मार	कर्मार	
	वेणु	वेणु	
	मस्कर	मस्कर	

१	२	३	४
	तेजन	तेजन	
	३६३।७०	२१४।१६०-१६१	(१०)
१६५.	छत्रा	छत्त्रा (त)	
	अतिच्छत्र	अतिच्छत्त्र	
	पालघ्न	पालघ्न	
	३६३।७०	२१४।१६७	(३)
१६६.	मालातृणकम्	मालातृणकम्	
	भूस्तृण	भूस्तृण	
	३६३।७०	२१४।१६७	(२)
१६७.	तृणराज	तृणराज	
	ताल	ताल	
	३६३।७१	२१४।१६८	(२)
१६८.	घोण्टा	घोण्टा	
	पूग	पूगः	
	क्रमुक	क्रमुक	
	३६३।७१	२१४।१६९	(५)

औषधियों के विविध वर्ग

अ० पु० में ओषधियों के अनेक गण या वर्ग उपन्यस्त हैं उनको आयुर्वेदानुसार उनके घटक सहित यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

दशमूल

बृहत् पञ्चमूल (विल्व, गम्भारी, पाटला, अग्निमन्थ एवं श्योनाक) एवं लघुपञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी एवं गोक्षुर) का संयुक्त नाम दशमूल है (२७९।२२;२८५।८, ३२,४१)।

निशाद्वय

यह हरिद्रा एवं दारुहरिद्रा का संयुक्त नाम है (२८३।१;२८९।३५; २९८।९)।

पञ्चपल्लव

न्यग्रोध, उदुम्बर, पिप्पल, पारीष एवं प्लक्ष के कोमल-पत्रों (पल्लव) का सामूहिक नाम पञ्चपल्लव है (२२४।३९)।

पञ्चकोल

पिप्पली, पिप्पली मूल, चव्य, चित्रक एवं शुण्ठी (नागर) का संयुक्त नाम पञ्चकोल है (२७९।१३;२८९।१८)।

पञ्चभङ्ग

देवताड, शमी, भङ्गा, तालीस एवं निर्गुण्डी का संयुक्त नाम पञ्चभंग है (२९९।२५)।

पञ्चमूल

यह वृहत् पञ्चमूल का परिचायक है जिसके अन्तर्गत विल्व आदि पाँच ओषधियों की गणना होती है (२८५।२)।

पञ्चपत्र

न्यग्रोघ, उदुम्बर, पीपल, पारीष एवं प्लक्ष के कोमलपत्रों (पल्लवों) का सामूहिक नाम पञ्चपत्र है (२९९।३५)।

पञ्चवर्ण

पीत, सुग्गापंखी, शुक्ल, कृष्ण एवं रक्त—ये पञ्चवर्ण कहे गये हैं (२६७।२०-२१)।

फलत्रय

हरीतकी, विभीतक एवं आमलकी का संयुक्त नाम फलत्रय है (२८३।५, १९, ३२; ३०२।७)।

मधुत्रय

घृत, मधु एवं शर्करा का संयुक्त नाम है (५९।५३; ६२।४)।

रजनी द्वय

हरिद्रा एवं दारुहरिद्रा का संयुक्त नाम है (१७७।१७; २६५।६; २८६।८, २३; २८९।३१)।

षडङ्ग

मुस्त, पर्पट, उशीर, चन्दन, सुगन्धवाला एवं शुण्ठी का सामूहिक नाम षडङ्ग है (२७९।८)।

शीतत्रय

जायफल, कर्पूर एवं चन्दन का संयुक्त नाम शीतत्रय हैं (२६७।२०)।

सप्तधान्य

शालिधान्य, व्रीहिधान्य, शूकधान्य, शिम्बीधान्य, क्षुद्रधान्य तथा अन्य दो धान्य का संयुक्त नाम है (२०६।१५)।

सप्तव्रीहि

कृष्णव्रीहि, पाटलव्रीहि, कुक्कुटाङ्क व्रीहि, शालामुख व्रीहि, जतमुखव्रीहि, षष्टिक एवं एक अन्य व्रीहि का संयुक्त नाम है (२१२।६)।

त्रिकटु

शुण्ठी, मरिच एवं पिप्पली का संयुक्त नाम त्रिकटु है (२९७।८; २८५।८, ३८, ४६; ३०२।९)।

त्रिफला

हरीतकी, विभीतक एवं आमलकी का संयुक्त नाम त्रिफला है (२५८।२७; २७९।४६, ५०; २८०।४८; २८१।२५; २८३।६, १४, ४२, ४४, ४२; २८५।६, ७, २०, २३, २५, २७, २९, ३०, ३३, ३६, ३८, ४५, ४७, ५६, ५७, ६३, ७२; २८६।१, २, ८, २०; २८९।१६, २७, २८; ३००।३३)।

त्रिमधुर (मधुत्रयवत्)

२६७।१७; २८०।५.

त्रिरक्त

कुङ्कुम, रक्तपद्म एवं उत्पल ये त्रिरक्त है (२६७।२१)।

त्रिशीतक

जातिफल, कर्पूर एवं चन्दन का संयुक्त नाम त्रिशीतक है (२६७।२०)।

त्रिसुगन्ध

१. दालचीनी, इलायची एवं तेजपात इन तीनों द्रव्यों का सम भाग में योग होने से उसे त्रिसुगन्धि या त्रिजातक कहते हैं (२६७।१९)।

२. कर्पूर, चन्दन एवं कुङ्कुम अथवा कस्तूरी, कर्पूर और चन्दन इनमें से दोनों का संयुक्त नाम त्रिसुगन्धि है (२६७।१९)।

सप्तम अध्याय

अगदतन्त्र-विषयक सामग्री

अगदतन्त्र

अग्निपुराण के पाँच अध्यायों (२९४, २९५–२९८) में अगदतन्त्र या विषविद्या की सामग्री निहित है। यह विषविद्या आयुर्वेद के आठ अङ्गों में से एक है जिसका उल्लेख सुश्रुत[१] ने 'अगदतन्त्र' के नाम से, चरक[२] ने 'विषगर-वैरोधिक प्रशमन' के नाम से और अष्टांगहृदय[3] तथा अष्टांगसंग्रह[४] ने इसे 'दंष्ट्रा चिकित्सा' नाम से किया है।

सुश्रुत के अनुसार सर्प, कीट, मकड़ी, चूहा आदि के दंश से उत्पन्न विष-लक्षणों को पहचानने के लक्षण तथा विविध प्रकार के स्वाभाविक कृत्रिम एवं संयोग विषों से उत्पन्न विकारों के प्रशमन का जहाँ वर्णन हो उसे अगदतन्त्र कहा जाता है।[५]

अग्निपुराण ने इस अंग के लिए किसी पारिभाषिक शब्द का उल्लेख नहीं किया है अपितु दष्ट-चिकित्सा या विषहारी औषध एवं मन्त्र के रूप में संकेत किया है। इस स्थल में अध्यायानुसार विषयों का प्रतिपादन आयुर्वेदीय ग्रन्थों के प्रकाश में किया जा रहा है।

सर्प-प्रकार और उनकी उत्पत्ति

श्रेष्ठ सर्प

शेष, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शङ्खपाल एवं कुलिक—ये आठ नाम नागों में श्रेष्ठ माने गये हैं।[६] इन नागों में दो नाग ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो

१—सु० सू०, १।७.

२—च० सू०, ३०।२६.

३—अ० हृ०, सूत्र १।५.

४—अ० सं०, सूत्र १।१०.

५—अगद तन्त्रं नाम सर्पकीटलूतामूषिकादिदष्टविषव्यञ्जनार्थं विविधविष-संयोगोपशमनार्थं च। सु०, सू० १।१४.

६—अ० पु० २९४।२.

वैश्य और दो शूद्र कहे गये हैं। ये चार वर्णों के नाग क्रमशः दस सौ, आठ सौ, पाँच सौ एवं तीन सौ फणों से युक्त है।[1] इनके वंशज पाँच सौ नाग हैं उनसे असंख्य नागों की उत्पत्ति हुई मानी जाती है। आकारानुसार भेद से सर्प फणी, मण्डली और राजिल तीन प्रकार के माने गये हैं। ये सभी वात, पित्त और कफ-प्रधान हैं।[2]

सुश्रुत संहिता में कुछ विशेष चिन्ह और वर्णों के आधार पर ब्राह्मण आदि जातियों की परिकल्पना की गई है।[3]

अग्निपुराण ने इनके अतिरिक्त व्यन्तर, दोष मिश्र तथा दर्वीकर जाति वाले सर्पों की गणना भी की हैं। यह चक्र, हल, क्षत्र, स्वस्तिक और अंकुश के चिन्हों से युक्त माने गये हैं। गोनस सर्प विविध मण्डलों से चित्रित, दीर्घकाय एवं मन्द-गामी होते हैं। राजिल सर्प स्निग्ध एवं उसके उर्ध्वभाग तथा पार्श्वभाग रेखाओं से सुशोभित होते हैं। व्यन्तर सर्प मिश्रित चिन्हों से युक्त होते हैं। इनके पार्थिव, आप्य (जल सम्बन्धी), आग्नेय और वायव्य—ये चार मुख्य भेद और २७ अवान्तर भेद हैं। गोनस सर्पों के सोलह, राजिल जाति के सर्पों के तेरह और व्यन्तर सर्पो के इक्कीस भेद हैं।[4] सर्पोत्पत्ति के काल से भिन्न काल में उत्पन्न होने वाले सर्प व्यन्तर कहलाते हैं।[5] आषाढ़ से लेकर तीन मासों तक सर्पों की गर्भ-स्थिति होती है। गर्भोत्पत्ति का काल चतुर्थ मास है। एक सर्पिणी २४० अण्डों का प्रसव करती है। सर्प एक सप्ताह में आँख खोलते हैं (अण्डे से बाहर निकलने की अवधि एक सप्ताह विशेष कर कृष्ण सर्प के लिए) उसमें १२ दिनों के बाद ज्ञान का उदय होता है। बीस दिनों के बाद बत्तीस दाँत और चार दाढ़ें निकल आती हैं (सूर्य दर्शन पर ही)। सर्प की कराली, मकरी, कालरात्री और यम-दूतिका ये चार विषयुक्त दाढ़ें होती हैं। निर्मोक-त्याग की अवधि का काल छठा मास है और इनकी आयु एक सौ बीस वर्ष है।[6] शेष, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म और शंखपाल ये क्रमशः रवि, सोम, मंगल, बुध आदि दिनों के अधिपति माने गये हैं और ये अपने दिनों में ही बाहर निकलते हैं। किन्तु कुलिक

१—अ० पु०, २९४।३.
२—तंदेव, २९४।४.
३—सु० क०, ४।२५-२८.
४—अ० पु०, २९४।५-८.
५—अ० पु०, २९४।८.
६—अ० पु०, २९४।९-१३.

का बहिर्गमन प्रत्येक दिन के संधिकाल में होता है। इसके अतिरिक्त महापद्म और शंखपाल के साथ भी इसका उदय माना जाता है। मतान्तर के अनुसार महापद्म तथा शंखपाल के बीच की दो घड़ियों के मध्य भी इसका उदय होता है। यह कुलिकोदय काल सर्पदंश की दृष्टि से बड़ा ही अशुभ है।[1]

सर्पदंश में निन्दित नक्षत्र, दिन, तिथि एवं मारक काल

कृत्तिका, भरणी, स्वाति, मूल, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपद, अश्विनी, विशाखा, आर्द्रा, आश्लेषा, चित्रा, श्रवण, रोहिणी, हस्त नक्षत्र, शनि तथा मंगलवार एवं पञ्चमी, अष्टमी, षष्ठी, रिक्ता-चतुर्थी, नवमी, चतुर्दशी एवं शिवा (तृतीया) तिथि सर्पदंश में निन्दित मानी गई है। चारों सन्ध्याओं का योग दग्धयोग तथा दग्धराशि अनिष्टकारक मानी गयी है। एक बार का दंश दष्ट, दो बार का विद्ध और तीन बार का खण्डित कहलाता है। यदि सर्प द्वारा केवल स्पर्श हो पर दर्शन न हो तो उसे अदंश कहा जाता है।[2]

सर्पदंश के लक्षण, मृत्युकारक दंश, विषयुक्त दंशन एवं निर्विषदंश

एक, दो एवं तीन दंश वेदनाजनक और रक्तस्राव करने वाले हैं। इनमें एक पैर और कूर्म के समान आकार वाले दंश मृत्यु से प्रेरित होते हैं। विषयुक्त दंश से अंगों में दाह, शरीर में चीटियों के रेगने का सा अनुभव, कण्ठशोथ एवं अन्य पीड़ा से युक्त लक्षण एवं व्यथाजनक गाँठवाला दंश होता है। यही (सविष दंश) है।[3]

सर्पों का आश्रय स्थल

देवालय, शून्य-गृह, वल्मीक, उद्यान, वृक्ष के कोटर, दो सड़कों या मार्गों की संधि, श्मशान, नदी-सागर-संगम, द्वीप; चतुष्पथ, राजप्रसाद गृह, कमलवन, पर्वत-शिखर, बिलद्वार, जीर्णकूप; जीर्णगृहभित्ति, शोभाञ्जन, श्लेष्मातक, जम्बू-वृक्ष, उदुम्बर, वेणुवन, वटवृक्ष और जीर्ण प्राकार (चहर-दीवारी) आदि स्थानों में सर्प निवास करते हैं।[4]

इन्द्रिय-छिद्र, मुख, हृदय, कक्ष, जत्रु, तालु, ललाट, ग्रीवा, शिर, चिबुक, नाभि और चरण इन अंगों में सर्पदंश अशुभ हैं।[5]

१—अ० पु०, २९४।१३-१५.

२—तदेव, २९४।१६-१९.

३—तदेव, २९४।१९-२१.

४—तदेव, २९४।२१-२४.

५—तदेव, २९४।२४-२५.

सर्पदंश के निदान एवं उसकी साध्यासाध्यता में दूत का महत्त्व :

विष चिकित्सकों को सर्पदंश की सूचना देने वाला यदि पुष्पहस्त, सुवाक्, सुधिसमान, सर्पदष्ट मनुष्य के समान लिङ्ग एवं जाति वाला हो, शुक्ल वस्त्र

सर्प एवं उसके दन्त प्रकार

सर्प के दंष्ट्रा, विषदन्त, विषग्रन्थि, दन्त एवं जिह्वा का रेखाचित्र
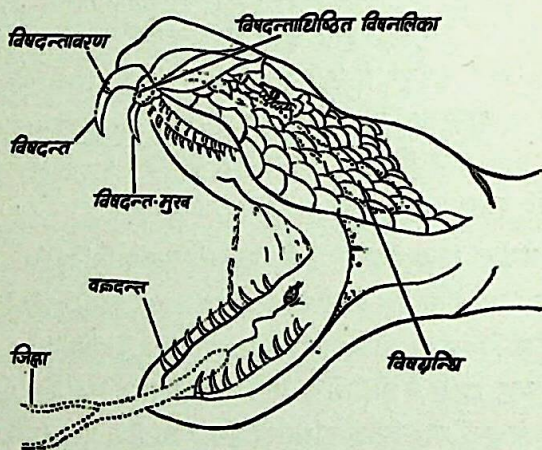
सर्पगत-दन्त-भेद

सर्प के आहार दन्त

अधो दंष्ट्रा के घन-दन्त

सर्प-दंश चिह्न

विषमय सर्पदंश के चिन्ह

विषविहीन सर्पदंश के चिह्न

पहने हो तो शुभ माना जाता है। उपर्युक्त लक्षणों के विपरीत जो दूत अपद्वार

से आया हो, शस्त्रयुक्त एवं प्रमादी हो, भूमि पर दृष्टि गड़ाये हो, हाथ में पाश आदि लिये हो, गद्गद् कण्ठ से बोल रहा हो, सूखे काठ पर बैठा हो, हाथ में काले तिल लिए हो, लाल रंग के धब्बे से युक्त वस्त्र धारण किये हो अथवा भीगे वस्त्र पहने हो, मस्तिष्क के केशों पर काले रंग के या लाल फूल पड़े हों, स्तनों का मर्दन करने वाला, नाखून को मुख से काटने वाला, गुदा का स्पर्श करने वाला, पावों से भूमि कुरेदने वाला, केशलुंचक एवं तृण छेदी-ऐसे दूत को दोषयुक्त कहा गया है। इन लक्षणों में से एक भी हो तो अशुभ है।[1] चिकित्सक और दूत की यदि इड़ा अथवा पिङ्गला या दोनों ही नाड़ियाँ चल रही हों तो उन दोनों के इन चिन्हों से डसने वाले सर्प को क्रमशः स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक जाना जा सकता है। दूत अपने जिस अङ्ग को स्पर्श करता है, सर्प का दंश रोगी के उसी अङ्ग में सम्भवतः होता है।[2] यदि दूत के पांव हिल रहे हों तो उसे अशुभ और स्थिर हो तो शुभ होता है। यदि दूत किसी व्यक्ति के पार्श्व में स्थित हो तो शुभ और अन्य भाग में हो तो अशुभ मानना चाहिये। यदि दूत सर्प-दंश की सूचना दे रहा हो तो उस समय कोई आ जाये तो उसका आगमन शुभ है। यदि किसी का गमन हो जाये तो अशुभ होता है। दूत की वाणी अत्यन्त दोषयुक्त हो अथवा सुस्पष्ट प्रतीत न होती हो तो निन्दित है। उसके सुस्पष्ट एवं विभक्त वचनों द्वारा ज्ञात होता है कि सर्प का दष्ट विषयुक्त है अथवा नहीं। यदि उसके वाक्य के आदि में 'स्वर' अक्षर आरम्भ हो तो सर्प दंश व्यक्ति की रक्षा हो सकती है यदि व्यञ्जन हो तो अशुभ है। यदि वर्गों के आरम्भ के चार अक्षर क्रमशः वायु, अग्नि, इन्द्र और वरुण देवता सम्बन्धी होते हैं, इन वर्गों के अंतिम अक्षर नपुंसक माने गये है। 'अ' आदि स्वर ह्रस्व और दीर्घ के भेद से क्रमशः इन्द्र एवं वरुण देवता सम्बन्धी होते हैं। दूत के वाक्य के आरम्भ में वायु और अग्नि होती है और मध्य में हरि(विष्णु) होते हैं। वरुण वर्ण प्रशस्त माना गया है, नपुंसक वर्ण अति दुष्ट रूप में निन्दित है।[3]

शुभ-अशुभ सूचक शब्द

विष चिकित्सक के प्रस्थान काल में मङ्गलमय वचन, मेघ तथा हाथी का गर्जन, दक्षिण पार्श्व में फलयुक्त वृक्ष का होना एवं वाम भाग में किसी पक्षी के कलरव का पाया जाना विजय या सफलता का सूचक है। प्रस्थान काल में गीत

१—अ० पु०,२९४।२५-२८.

२—अ० प०,२९४।२९-३०.

३—अ० पु०, २९४।३०-३५.

आदि के शब्द शुभ होते हैं। दक्षिण भाग में अनर्थ सूचक वाणी, चक्रवाक का रुदन—ऐसे लक्षण सिद्धि के सूचक हैं। पक्षियों की अशुभ ध्वनि एवं छींक—ये कार्य में असिद्धि प्रदान करने वाले होते हैं। वेश्या, ब्राह्मण, राजा, कन्या, गौ, हाथी, ढोलक, पताका, दुग्ध, घृत, दही, शङ्ख, जल, छत्र, भेरी, फल, मदिरा, अक्षत, सुवर्ण और चाँदी ये लक्षण सम्मुख होने पर कार्य सिद्धि के सूचक हैं। काष्ठ पर अग्नि से युक्त शिल्पकार मलिन वस्त्र का बोझ ढोने वाला पुरुष, गले में टंक धारण किये हुए मनुष्य, शृगाल, गृध्र, उलूक, कौड़ी, तेल, कपाल और निषिद्ध भस्म—ये लक्षण नाश के सूचक हैं। विष के एक धातु से दूसरे धातु में प्रवेश करने से विष सम्बन्धी सात रोग होते हैं। विष दंश पहले ललाट में, ललाट से नेत्र में और नेत्र से मुख में जाता है और मुख में प्रविष्ट होने के पश्चात् वह सम्पूर्ण धमनियों में व्याप्त हो जाता है, फिर क्रमशः धातुओं में प्रवेश करता है।[1]

सर्प दंश चिकित्सा

अग्निपुराण ने सुश्रुत के समान ही सर्पदष्ट व्यक्ति की चिकित्सा का विधान मन्त्र, ध्यान और औषध के द्वारा किया है। सुश्रुत ने सर्पदंश की चिकित्सा में मन्त्र के महत्व को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। सुश्रुत ने मन्त्र चिकित्सा का संकेत किया है, किन्तु किन मन्त्रों का उपयोग इस प्रयोग में निहित है इसका निर्देश कहीं भी नहीं किया है। हाँ सम्भवतः सुश्रुत को यह भय था कहीं बिना विधि, स्वर या वर्ण से प्रयुक्त मन्त्र असफलता न उत्पन्न कर दे। एतदर्थ उन्होंने अगद के उपचार का अवलम्बन करने का समर्थन किया है। सुश्रुत ने जो मन्त्र चिकित्सा का संकेत उपस्थित किया है उसका अग्निपुराण ने विशद उल्लेख कर न्यूनता की पूर्ति की है। अग्निपुराण के २९५ एवं २९६ अध्यायों में सर्पदंश के उपचारार्थ विविध प्रकार के मन्त्रों का उल्लेख है।[2]

'ॐ नमो भगवते नील कण्ठाय'

इस मन्त्र के जपने से विष का नाश होता है। औषध के रूप में घृत, गो शकृत्-रस के पान का विधान है। इस औषधि से सर्पदष्ट व्यक्ति के जीवन की रक्षा होती है।[3]

विष के प्रकार

जङ्गम एवं स्थावर भेद से विष दो प्रकार के कहे गये हैं। सर्प मूषक

१—अ० पु०, २९४।३६-४१.
२—सु० क० स०, ५।८.
३—अ० पु०, २९५।१-२.

आदि प्राणी जङ्गम के अन्तर्गत आते हैं एवं शृङ्गी आदि स्थावर के अन्तर्गत आते हैं।[1]

गरुड मन्त्र

सर्पदष्ट चिकित्सा के मन्त्र में शान्त स्वरयुक्त ब्रह्मा, लोहित, तारक और शिव इन चार अक्षरों का वियति (आकाश) सम्बन्धी गरुड मन्त्र का निर्देश है—यह इस प्रकार है—

"ॐ ज्वल महामते हृदयाय गरुडविशलशिरसे गरुडशिखायै गरुडविषभञ्जन प्रभेदन प्रभेदन वित्रासय वित्रासय विमर्द्य विमर्द्य कवचाय अप्रतिहतशासनं वं हूं फट् अस्त्राय उग्ररूपधारक सर्वभयङ्कर भीषय सर्वं दह दह भस्मीकुरु स्वाहा नेत्राय।"

इस उपर्युक्त मन्त्र के प्रयोग के लिए कतिपय विधि-विधान अग्निपुराण द्वारा निर्दिष्ट है। वेदिका पर मात्रिकामय कमल की रचना करनी चाहिए और यह कमल इस प्रकार बनाया जाय कि आठ दिशाओं में उसके आठ दल हों। पूर्वादि दलों में दो-दो के क्रम से समस्त स्वर-वर्णों को लिखना चाहिए। क वर्गादि वर्गों के अन्तिम दो-दो अक्षरों का उल्लेख करना चाहिए। उस कमल के केसर भाग को वर्ग के आदि अक्षरों से अवरुद्ध करना चाहिए तथा कर्णिका में आदि अक्षर 'र' लिखना चाहिए। मन्त्र के साधक को उस कमल को हृदयस्थ करके वायें हाथ की हथेली पर उसका चिन्तन करना चाहिए। अङ्गुष्ठ आदि में वियति-मन्त्र के वर्णों का न्यास करें तथा उनके द्वारा भेदित कलाओं का भी चिन्तन चाहिए। तदनन्तर चौकोर भू-पर पीले रंग का मण्डल वनाना चाहिए जिसके चारों ओर व्रज्र द्वारा चिह्नित हो। यह मण्डल इन्द्र देवता का होता है। अर्ध-चन्द्राकार वृत्त जलदेवता सम्बन्धी है। कमल का आधा भाग शुक्ल वर्ण का है, उसके देवता वरुण हैं। इसके अनन्तर स्वस्तिक चिह्न से युक्त त्रिकोणाकार वह्नि देवता के मण्डल का चिन्तन करना चाहिये। वायुदेवता का मण्डल विन्दुयुक्त एवं वृत्ताकार है वह कृष्ण माला से सुशोभित है ऐसा चिन्तन करना चाहिये। ये चार भूत अङ्गुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका इन चार अङ्गुलियों के मध्यपर्वों में स्थित अपने निवास स्थान में विराजमान हैं और सुवर्णमय नागवाहन से इनके वासस्थान आवेष्टित हैं। इस प्रकार चिन्तनपूर्वक क्रमशः पृथ्वी आदि तत्वों को अङ्गुष्ठ आदि के मध्य-पर्व में न्यास करना चाहिये साथ ही साथ वियति मन्त्र के चार वर्णों को भी क्रमशः उन्हीं में विन्यस्त कर—'इन वर्णों की क्रान्ति उनके

१—अ० पु० २९५।२.

सुन्दर मण्डलों के समान हैं'—इस प्रकार न्यास करके उसके पश्चात् रूपरहित शब्द तन्त्र मात्रामय शिवदेवता के आकाशतत्व का कनिष्ठा के मध्यपर्व में चिन्तन करके उसके आभ्यन्तर वेदमन्त्र के प्रपंत्र अक्षर का न्यास करना चाहिये। पूर्वोक्त नागों के नाम के आदि अक्षरों का उनके अपने मण्डलों में न्यास करना चाहिये। उसके पश्चात् पृथ्वी आदि भूतों के आदि अक्षरों का अङ्गुष्ठ आदि अंगुलियों के अंतिम पर्वों पर न्यास करना चाहिये। इस प्रकार न्यास करके ध्यानपूर्वक तार्क्ष्य मन्त्र से रोगी के हाथ का स्पर्श मात्र करके मन्त्रज्ञ विद्वान् स्थावर-जंगम दोनों प्रकार के विषों का नाश कर सकता है। विद्वान पुरुष को पृथ्वीमण्डल आदि में विन्यस्त वियति मन्त्र के चारों वर्णों का अपनी श्रेष्ठ दो (मध्यमा एवं अनामिका) अङ्गुलियों द्वारा शरीर के नाभिस्थान और पर्वों में न्यास कर तदनन्तर गरुड के स्वरूप का इस प्रकार ध्यान करना चाहिए 'पक्षिराज गरुड दोनों घुटनों तक सुनहरी आभा से युक्त हैं। घुटनों से लेकर नाभितक अङ्ग कान्ति हिम के समान श्वेत है, वहाँ से कण्ठ तक वे कुङ्कुम के समान अरुण प्रतीत होते हैं और कण्ठ से केश तक उनकी कान्ति असित (श्याम) है। वह समूचे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं। उनका नाम चन्द्र हैं और वह नागमय आभूषण से युक्त है उनकी नासिका का अग्रभाग नीले रंग का है, और उनके पंख बड़े विशाल हैं। मन्त्रज्ञ विद्वान् को अपने आपका भी गरुड के रुप में ही चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार गरुड स्वरूप मन्त्र प्रयोक्ता पुरुष के वाक्य से विष पर अपना प्रभाव डालता है। गरुड के हाथ की मुष्टि रोगी के हाथ में स्थित हो तो वह उसके अङ्गुष्ठ में स्थित विष का नाश करता है। मन्त्रज्ञ पुरुष अपने गरुड स्वरुप हाथ को ऊपर उठाकर उसकी पाँचों अङ्गुलियों के चालन मात्र से विष से उत्पन्न होने वाले मद पर दृष्टि रखते हुए उस विष का स्तम्भन कर सकता है।[1]

आकाश से लेकर भू-बीजपर्यन्त जो पाँच बीज हैं, उन्हें 'पञ्चाक्षर मन्त्रराज' कहा गया है (उसका स्वरूप इस प्रकार है—हं, यं, रं, वं, लं,)। अत्यन्त विष का स्तम्भन करना हो तो इस मन्त्र के उच्चारण-मात्र से मन्त्रज्ञ पुरुष विष को रोक सकता है। यह 'व्यत्यस्त भूषण' बीजमन्त्र है। अर्थात् इस बीजों को उलट फेरकर बोलना इस मन्त्र के लिए भूषण रूप है। इसको अच्छी तरह सिद्ध कर लिया जाये और इसके आदि में 'संप्लव प्लावय प्लावय' यह वाक्य जोड़ दिया जाय तो मन्त्र प्रयोक्ता पुरुष इसके प्रयोग से विष का संहार कर सकता है।[2]

इस मन्त्र के भलीभांति जप से अभिमन्त्रित जल के द्वारा अभिषेक करने

१—अ० पु०, २९५।३-१६.

२—अ० पु०, २९५।१६-१८.

मात्र से यह मन्त्र अपने प्रभाव द्वारा उस रोगी से डण्डा उठवा सकता है अथवा मन्त्र जप पूर्वक की गई शङ्ख भेरी आदि की ध्वनि को सुनने मात्र से यह प्रयोग

• तार्क्ष्य मन्त्र •
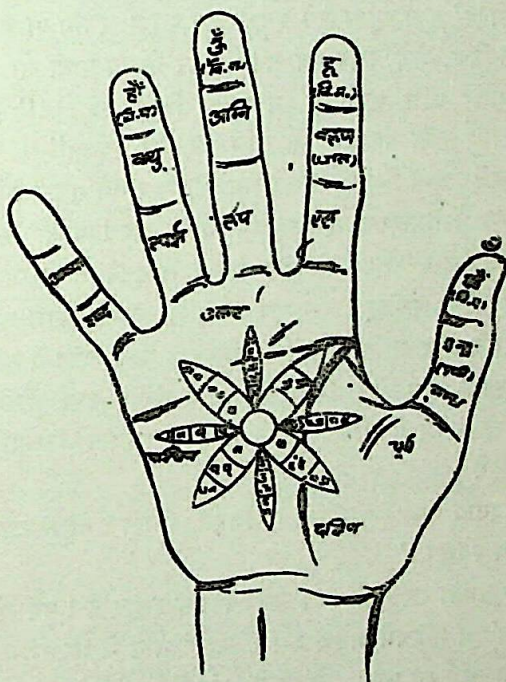
रोगी के विष को अवश्य ही दग्ध कर देता है। यदि भू-बीज 'लं' को तथा तेजो बीज 'रं' को उलट कर रखा जाय अर्थात् 'हं, यं, लं वं, रं—इस प्रकार मन्त्र

का स्वरूप कर दिया जाय तो उसका प्रयोग भी विष का नाश करता है। भू बीज और वायु-बीज का व्यत्यय करने से जो मन्त्र बनता है वह (हं, लं, रं, वं, यं) यह विष-संक्रामक मन्त्र है। 'रं, वं' मन्त्र का प्रयोग यदि घर बैठ कर भी किया जाय तो विष का नाश हो जाता है। जहाँ गरुड एवं वरुण की स्थापना हो वहाँ पर इसका जप करने से यह विष का नाशक है। यदि इन मन्त्रों के आदि में 'श्री' एवं अन्त में 'स्वधा' लगा दिया जाय तो इस मन्त्र का नाम 'जानुदण्डिमन्त्र' कहा जाता है। इसको जप करके स्नान या जलपान करने से सब प्रकार के विष, रोग, ज्वर एवं अपमृत्यु पर विजय पायी जा सकती है।[1]

"पक्षि पक्षि महापक्षि महापक्षि विधि स्वाहा।"
"पक्षि पक्षि महापक्षि महापक्षि क्षि क्षि स्वाहा" ॥
'पक्षिराजाय विद्महे पक्षिदेवाय धीमहि तन्नो गरुडः प्रचोद्यात्'।

ये दोनों मन्त्र अभिमन्त्रण पूर्वक जप करने पर विषघ्न सिद्ध होते हैं। उपर्युक्त दोनों पक्षिराज-मन्त्रों को 'रं' बीज से आवृत्त करके उनके पार्श्व भाग में भी 'रं' बीज जोड़ देना चाहिए। तदनन्तर दन्त, श्री, दण्डी, काल और लाङ्गली से उन्हें युक्त करा दे और आदि में पूर्वोक्त 'नीलकण्ठ-मन्त्र' जोड़ दे। इस प्रकार के मन्त्र को वक्षस्थल, कंठ और शिखा में न्यास करें। उक्त दोनों मन्त्रों का संस्कार करके उन्हें स्तम्भ में अंकित कर दे। इसके पश्चात् निम्नाङ्कित रूप से न्यास करना चाहिये।

'हर-हर हृदयाय नमः। कपर्दिने च शिरसे स्वाहा। नीलकण्ठाय वै शिखां कालकूटविषभक्षण स्वाहा।'

इस मन्त्र के देवता रुद्र है इसका स्वरूप इस प्रकार है। पूर्व श्वेत, दक्षिण पीत, उत्तर श्याम एवं पश्चिम अरुण वर्ण। चारों हाथों में क्रमशः अभय, वरद, धनुष तथा वासुकि नाग को धारण करते हैं कंठ में यज्ञोपवीत, पार्श्व भाग में गौरी विराजमान है।[2]

मन्त्रन्यास स्थान

दोनों पैर, दोनों घुटने, गुह्यभाग, नाभि, हृदय, कण्ठ और मस्तक-इन अङ्गों में मन्त्र के अक्षरों का न्यास करके दोनों हाथों में अर्थात् तर्जनी से लेकर तर्जनी-पर्यन्त अँगुलियों में मन्त्राक्षरों का न्यास करके सम्पूर्ण मन्त्र का अङ्गुष्ठों में न्यास करे। उपर्युक्त विविध-विधान द्वारा ध्यान और न्यास के द्वारा 'शूलमुद्रा द्वारा' विष का संहार होता है। यदि कनिष्ठा अङ्गुली ज्येष्ठा से बँध जाय और तीन

१—अ० पु०, २९५।१८-२२.
२—अ० पु० २९५।२३-२५.

अन्य अङ्गुलियाँ फैल जायें तो 'शूल मुद्रा' होती है। विष का नाश करने के लिये वाम हस्त और अन्य कार्य में दक्षिण हाथ का प्रयोग करना चाहिये।

'ओं नमो भगवते नीलकण्ठाय चिः अमलकण्ठाय चिः।
सर्वज्ञकण्ठाय चिः क्षिप ओं स्वाहा।
अमलनीलकण्ठाय नैकसर्वविषापहाय।

इस मन्त्र को पढ़कर झाड़ने से निसंशय विष का नाश होता है, रोगी के कान में जप कर दिया जाय अथवा रोगी के पास की भूमि को जूते से पीटा जाये तो विष का नाश होता है। रुद्र विधान करके 'नीलकण्ठ महेश्वर' का भजन करें इससे विष व्याधि का विनाश हो जाता है।[1]

विषनाशक मन्त्र तथा औषध

अग्निपुराण ने विष नाशक मंत्रों तथा कतिपय औषधियों का उल्लेख एक ही प्रकरण में किया है।

"ओं नमो भगवते रुद्राय छिन्द २ विषं ज्वलितपरशुपाणये च। नमो भगवते पक्षिरुद्राय दष्टकं उत्थापय २ दष्टकं कम्पय २ जल्पय २ सर्पदष्टमुत्थापय लल २ बन्ध २ मोचय २ वररुद्र गच्छ २ वध २ त्रुट २ वुक २ भीषय २ मुष्टिना संहर विषं ठ ठ"।

इस उपर्युक्त मन्त्र से सर्पदष्ट व्यक्ति को अभिमन्त्रित करने पर उसके विष का नाश हो जाता है।

स्तम्भक मन्त्र

"ओं नमो भगवते रुद्र नाशय विषं स्थावरजंगमं कृत्रिमाकृत्रिमविषमुपविषं नाशय नानाविषं दष्टकविषं नाशय धम २ दम २ वम २ मेघान्धकारधाराकर्ष-निर्विषयीभव संहर २ गच्छ २ आवेशय २ विषोत्थापनरूपं मन्त्रान्ताद्विषधारणं ओं क्षिप स्वाहा। ओं ह्रीं ह्रीं खीं सः ठन्द्रों ह्रीं ठः"।

इस मन्त्र के जप आदि करने से सिद्ध व्यक्ति सदैव सर्पों को बाँध लेता है।[2]

"गोपीजनवल्लभाय स्वाहा" (मन्त्र)

यह उपर्युक्त मन्त्र सम्पूर्ण अभीष्ट अर्थों को सिद्ध करने वाला है। गोपी जन शब्द का प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ अक्षर बीज स्वरूप है, जिसके द्वारा

१—अ० पु०, २९५।२६-२९.
२—तदेव, २९७।१.

हृदय, शिर, शिखा एवं कवच का न्यास होता है। इसके अनन्तर "कृष्ण चक्राय अस्त्राय फट्" बोलने से पञ्चांग न्यास की क्रिया पूर्ण होती है।

पाताल क्षोभक मन्त्र

"ओं नमो भगवते रुद्राय प्रेताधिपतये गुल्व २ गर्ज्ज २ भ्रामय २ मुञ्च २ मुह्य २ कट २ आविश २ सुवर्णपतंग रुद्रो ज्ञापयति ठ २"।

इस मन्त्र के द्वारा रोगी को अभिमन्त्रित करने से यह उसके लिए विष-नाशक है।[1] पहले 'हुं' रखे पुनः 'खे च छे'—ये तीन पद जोड़ कर मन्त्र की शोभा बढ़ती है। तत्पश्चात् 'क्षः स्त्री हूँ क्षे' लिखकर अन्त में फट जोड़ देना चाहिये। 'हुँ खे चछे क्षः स्त्री हूँ क्षे ह्रीं फट्' यह त्वरित विद्या है। यह विद्या समस्त कार्यों को सिद्ध करने वाली है। 'खे च छे' यह अक्षर—विद्या काल (अथवा काले साँप) के डसे हुए को भी जीवन देने वाले हैं।[2]

'ॐ हूँ खे क्षः' इस चतुरक्षरी विद्या का प्रयोग विष एवं सर्प दंश की पीड़ा को नष्ट करने वाला है।[3]

'खे स्त्रीं खे'—इस मन्त्र का प्रयोग कालसर्प द्वारा डँसे गये मनुष्य के जीवन की रक्षा करता है।[4]

सर्पदंश की औषध चिकित्सा

सर्प द्वारा डसे जाने पर व्यक्ति को जलते हुए काष्ठ, तप्त शिला, आग की ज्वाला, उष्ण कमल से दंश स्थान को जला देना चाहिए।[5]

शिरीष वृक्ष के बीज और पुष्प, मदार का दुग्ध और बीज एवं शुण्ठी, मरिच तथा पिप्पली (कटुत्रय) एक साथ पीसकर इनके पीने, लेपन करने तथा अंजन देने से विष का नाश होता है।[6]

शिरीष पुष्प के रस से भावित श्वेत मरिच के पान, नस्य और अंजन से विष का निसंशय विनाश होता है।[7]

१—अ० पु०, २७९।३.
२—तदेव, ३१६।१, २.
३—तदेव, ३१६।३.
४—तदेव, ३१६।३.
५—तदेव, २९७।४.
६—तदेव, २९७।४, ५.
७—तदेव, २९७।५.

कोषातकी, वचा, हिंगु, शिरीष और मदार का दुग्ध तथा इसमें त्रिकटु और मेषश्रृङ्गी का स्वरस मिलाकर नस्य के रूप में प्रयोग करने से विष का उपशमन होता है।[१]

अंकोल और कड़वी तोरई के सर्वांग चूर्ण से नस्य लेने से विष का उपशमन होता है।[२]

इन्द्रायण, वला, चित्रक (अग्नि), द्रोणपुष्पी, तुलसी, देविका और सहा इनके रस में त्रिकटु के चूर्ण को भिगोकर खाने से विष का नाश होता है।

कृष्ण पक्ष की पञ्चमी में एकत्र किया गया शिरीष के पञ्चांग का प्रयोग विष का नाशक है।[३]

चौराई का मूल और निशोथ समान मात्रा में घी के साथ पीने से मनुष्य सर्पविष पर नियन्त्रण पा लेता है।[४]

निम्ब पत्र को खाने से सर्प विष का उपचार होता है।[५]

गौनसादि चिकित्सा (मंडली सर्प)

"ह्रीं ह्रीं अमलपक्षि स्वाहा"

इस मन्त्र से अभिमन्त्रित ताम्बूल के प्रयोग से मण्डली सर्प के विष का नाश होता है।[६]

लशुन, रामठफल, कुष्ठ, अग्नि एवं व्योषक इनका सर्प विष में प्रयोग करना प्रशस्त माना गया है।[७]

स्नुहीक्षीर, गोदुग्ध, गोघृत का एक पक्ष तक पान करने से विष का नाश होता है।[८]

राजिल के द्वारा दष्ट होने पर सैन्धव के साथ कृष्ण का पान करना चाहिए।[९]

१—अ० पु०, २९७।६, ७.
२—तदेव, २९७।७.
३—तदेव, २९७।८.
४—तदेव, २७९।५९, ६०.
५—तदेव, २९७।५६.
६—तदेव, २९८।१.
७—तदेव, २९८।२.
८—तदेव, २९८।२.
९—तदेव, २९८।३.

आज्य, क्षौद्र और गो-शकृत् का जल अन्त्र के विष का नाशक है।[१] इसके पश्चात् कृष्णा, खाण्ड, दुग्ध, घृत तथा माक्षिक का पान करना चाहिये।[२]

सामान्य विषनाशक धूपन

व्योष, (मयूर) पिच्छ, बिडालास्थि, नेवले का रोम इन सबको समान भाग लेकर चूर्ण बना कर उसे भेड़ के दूध में भिगोकर धूपन करने स सभी प्रकार के विष नष्ट होते हैं।[३]

पाठा, निर्गुण्डी और अंकोल पत्र को समान भाग में लेकर तीनों के समान लशुन के साथ पीसकर बनाया हुआ धूप विषनाशक है।[४]

स्थानीय स्वेदन

अगस्त्य के पत्रों को काञ्जी में पकाकर उसके वाष्प से दंश स्थान को सेकनें से विष शीघ्र ही उतर जाता है।[५]

मूषक विष और उसकी चिकित्सा

अग्निपुराण ने मूषक १६ प्रकार के बताये हैं जब कि सुश्रुत इनकी संख्या १८ बतलाता है। अग्निपुराण ने मूषकों के नाम का उल्लेख नहीं किया है, जब कि सुश्रुत ने उनके नाम, दंश, लक्षण, औषध सहित गिनाये हैं।

सुश्रुत के अनुसार—

लालन, पुत्रक, कृष्ण, हंसिर, चिक्किर, छच्छुन्दर, अलस, कषाय, दशन, कुलिंग, अजित, चपल, कपिल, कोकिल, अरुण, महाकृष्ण, उन्दुर, महाश्वेता, कपिल और कपोताभ ये १८ प्रकार के मूषक हैं। इन चूहों का शुक्र जहाँ पर गिर जाता है तथा शुक्रयुक्त वस्तु का जिससे स्पर्श होता है तथा इनके दन्त, नख, आदि के द्वारा उस अंग का रक्त दूषित हो जाता है। इनके दंश काटनें से ग्रन्थि, शोथ, उभार, मण्डल (चकते) पिडिकाएँ (फुंसी) तथा तीव्र दाह, किटिभ, पर्वभेद, तीव्र वेदना, मूर्च्छा, अंग में शिथिलता, दुर्बलता, अरुचि, वमन, रोमहर्ष आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।[६]

१—अ० पु०, २९८।३.
२—तदेव, २९८।४.
३—तदेव, २९८।४.
४—तदेव, २९८।५.
५—तदेव, २९८।६.
६—सु० क०, ७।४-९.

अग्निपुराण ने मूषक की सामान्य चिकित्सा कही है जिसके अन्तर्गत केवल दो योगों का उल्लेख है।

कार्पास का रस तेल के साथ पान करने से मूषक विष का नाश होता है।[1]

फलिनी के फूलों का सोंठ और गुड़ के साथ भक्षण करने से मूषक विष का नाश होता है।[2]

लूता विष

अग्निपुराण ने लूता की २० जातियाँ बताई हैं जब कि सुश्रुत ने कृच्छ्रसाध्य एवं असाध्य दो मुख्य भेदों में विभक्त लूताओं की संख्या १६ मानी है। कृच्छ्र-साध्य के अन्तर्गत त्रिमण्डला, श्वेता, कपिला, पीतिका, आलविषा मूत्रविषा, रक्ता और कसना हैं एवं असाध्य के अन्तर्गत सौर्वणिका, लाजवर्णी, जालिनी एणीपदी, कृष्णा, अग्निवर्णी, काकाण्डा एवं मालागुणा की गणना है।[3]

लक्षण

सुश्रुत में अधिष्ठान भेद से लूता-विष के विशिष्ट लक्षण बताये गये हैं। ये लूतायें लालास्राव, नख, मूत्र, दंष्ट्रांन, रज, मल और शुक्र के माध्यम से विष को निकालती हैं। यह विष उग्र, मध्य एवं मन्द भेद से तीन प्रकार का होता है। सामान्य लक्षण के रूप में कण्डू (खुजली), कोठ, स्थिरत्व, अल्प आधार वाला रक्त स्राव के कारण उत्पन्न होता है। शोफ, कण्डू, रोमाञ्च एवं धूमोद्गार आदि लक्षण नख के द्वारा लगे विष के कारण होते हैं। यदि दंश बीच में काला तथा फटा हुआ हो तो विष-मूत्र के कारण है—ऐसा समझना चाहिए। दाँतों के द्वारा उत्पन्न हुआ विष कठिन, विवर्ण, स्थिर, मण्डली वाला तथा उग्रवीर्य होता है। रज, मल एवं शुक्र से उत्पन्न विष में छाले तथा दंश पके हुए आँवले के फल के समान अथवा पीलु के समान पाण्डु वर्ण का होता है।[4]

चिकित्सा

अग्निपुराणकार ने मूषक विष के समान ही लूता विष की समान्य चिकित्सा बताई है और इस पुराण में लूतानाशक तीन योग निर्दिष्ट हैं जो इस प्रकार हैं—

१—अ० पु०, २९८।६, ७.

२—तदेव, २९८।७.

३—सु० क०, ८।९४-९८.

४—सु० क०,

१. पद्माक, पाटला, कूठ, तगर, नेत्रवाला, खस, चन्दन, निर्गुण्डीं, सारिवा और शेलु—यह लूताविषनाशकगण माना गया है।[1]

२. गुञ्जा, निर्गुण्डी और अङ्कोल पत्र, शुण्ठी, हरिद्रा, दारुहल्दी, करञ्ज की छाल इनको पकाकर लूता विष से पीड़ित मनुष्य को पूर्वोक्त औषधियों से युक्त जल के द्वार सेचन करना चाहिए।[2]

३. श्वेत चन्दन, पद्माख, कूठ, ललाम्बु, उशीर, पाटला, निर्गुण्डी, शारिवा, शेलु—ये मकड़ी के विष का नाश करने वाली औषधियाँ (अगद) हैं।[3]

वृश्चिक प्रकार, दंश-लक्षण एवं चिकित्सा

अ० पु० में मूषक एवं लूता के समान वृश्चिक के भेदों की गणना का अभाव है। अग्निपुराण ने लूता के ही समान प्रथमतः वृश्चिक को मन्द विष, मध्य विष एवं महाविष—इन तीन भागों में विभक्त किया है और सुश्रुत ने मन्दविष वाले १२, मध्य ३ और तीव्र विष वाले की संख्या १५, इस प्रकार समग्र संख्या ३० मानी है। जहाँ तक वृश्चिक के द्वारा दंशलक्षण का प्रश्न है वहाँ अग्निपुराण सर्वथा मौन है। सुश्रुत ने तीनों प्रकार के वृश्चिक के लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया है। मन्द विष से वेदना, कम्पन, गात्रस्तम्भ एवं काले रक्त की प्रवृत्ति होती है। हस्त, पाद, आदि में दंश होने पर वेदना उर्ध्व-गामी होने के कारण वेदना ऊपर की ओर चढ़ती है तथा दाह, शोथ एवं ज्वर हो जाता है। इसी प्रकार मध्य वृश्चिक के काटने में जिह्वा में शोथ, भोजन में अरुचि तथा तीव्रमूर्छा हो जाती है। तीक्ष्ण विष वृश्चिक के काटने पर मध्य विष के वेग के समान लक्षण, छालों की उत्पत्ति, श्रम, दाह तथा ज्वर आदि लक्षण होते हैं तथा रोमकूप नासिका एवं मुख से काले रंग का रक्त तीव्रता से निकलने लगता है और रोगी का शीघ्र ही प्राणान्त हो जाता है।[4]

चिकित्सा

अग्निपुराण ने वृश्चिक की चिकित्सा का उल्लेख अनेक योगों के माध्यम से किया है जो निम्न है—

१. मञ्जिष्ठा, चन्दन, त्रिकटु, शिरीष एवं कुमुद के पुष्प—इन

१—अ० पु०, २९८।८;९.

२—तदेव, २९८।९,१०.

३—तदेव, २१९।६०-६१.

४—सु० क०, ८।६३-६४.

चारों योगों को एकत्र करना चाहिए। इनके लेप से वृश्चिकविष का नाश होता है।[1]

२. वृश्चिक-दंश के लिए मोरपंख और घृत का धूम लाभदायक है अथवा आक के दूध से पीसे हुए पलाश वीज का लेप करने से वृश्चिक के विष का नाश होता है। वड़ी हरड (शिवा) एवं जायफल को एक साथ पिलाने पर यह योग वृश्चिक दंश में लाभप्रद है।[2]

गर्दभ आदि विषघ्न उपचार

अग्निपुराणकार ने गर्दभ आदि विप्र के नाश के लिए—

"ओं नमों भगवते रुद्राय चिवि २ छिन्द २ किरि २ भिन्द २ खड्गेन छेदय २ शूलेन भेदय २ चक्रेण दारय २ ओं ह्रूं फट्"।

इस मन्त्र से अभिमन्त्रित औषध को देने का विधान किया है। इसके अतिरिक्त त्रिफला, खस, नागरमोथा, नेत्रवाला, जटामांसी, पद्मक और चन्दन को बकरी के दूध के साथ पिलाने पर गर्दभ आदि विषों का नाश होता है।[3] सुश्रुत ने गर्दभ विष का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। यह अग्निपुराण का मौलिक अवदान है।

शतपदी चिकित्सा

अग्निपुराण में शतपदी के भेदों का कोई उल्लेख नहीं है। सुश्रुत ने शतपदी आठ प्रकार की वताई है जिनके नाम हैं—परुषा, कृष्णा, चित्रा, कपिला, पीतिका, रक्ता, श्वेता तथा अग्निप्रभा। इनके काटने पर शोफ, वेदना तथा हृदय में दाह होती है। श्वेता तथा अग्निप्रभा के दंश से दाह तथा मूर्च्छा उपर्युक्त लक्षणों के साथ पाई जाती है तथा शरीर पर श्वेत वर्ण की पिडिकाए हो जाती है।[4]

चरक शतपदी के काटने से दंश स्थान पर स्वेद, वेदना, दाह आदि लक्षण का निर्देश करता है।[5]

अष्टांग संग्रहकार ने भी लिखा है—'पीत शतपदी दंशः श्वेदरुग्रागशोफवान्। असतीपुष्पवर्णो वा पिटकावान् भ्रमपदः'।[6]

१—अ० पु०, २९८।१०.
२—तदेव, २७९।५७ ५८.
३—तदेव, २९८।१२.
४—सु० क०, ८।३०.
५—च० चि०, अ० २३।१५५.
६—अ० सं०, उ० अ० ४२.

अग्निपुराण के अनुसार शिरीष का पञ्चाङ्ग और त्रिकटु का चूर्ण शतपदी के विष का नाशक है (अ० पु०, २९८।१३)।

उन्दूर (मेढक) विषघ्न उपचार

स्नुही दुग्ध के साथ शिरीष की छाल के चूर्ण का लेप मेढक के विष का नाशक है।[१]

सुश्रुत ने मेढक के आठ प्रकार बताये हैं और ये हैं—कृष्ण, सार, कुहुक, हरित, रक्त, यवर्णाभ, भृकुटी एवं कोटिक। इनके दंशलक्षण हैं—दाह, वमन तथा मूर्छा का अधिक मात्रा में होना।[२]

चरक ने सविष मण्डूक दष्ट के लक्षणों का निरुपण निम्नलिखित रूप से किया है—मेढक के दंश से दंशस्थान सूजा हुआ तथा वेदनायुक्त होता है। देह का वर्ण पीला हो जाता है, प्यास लगती है, वमन होता है तथा निद्रा आती है।[३]

सुश्रुत ने चिकित्सा के लिए मेषशृंङ्गी, वच, पान, जलवेत, कुटकी एवं बालक द्वारा बनाया गया अगद सभी प्रकार के मण्डूको के विष का नाशक माना है।[४]

मत्स्यविष नाशक चिकित्सा

त्रिकटु और तगरमूल घृत के साथ खिलाने पर यह मत्स्य विष का नाशक है।[५]

सर्वविध कीट एवं उनकी चिकित्सा

अग्निपुराण कीटों की उत्पत्ति एवं भेद का कोई उल्लेख नहीं किया है।

सुश्रुत ने चार प्रकार के कीट माने हैं इनमें से वायव्य कीट—१८, अग्नि कीट—२४, सौम्य या श्लेष्मज—१३ और सान्निपातिक—१२ प्रकार के माने गये हैं। इस प्रकार समस्त कीटों की संख्या ६७ बताई गई है। इसके अतिरिक्त सुश्रुत ने तीक्ष्ण विष एवं मन्द विष वाले कीटों के दंश के लक्षण का भी निरुपण किया है। इन तीक्ष्ण विष वाले कीटों के विष के कारण ज्वर, अङ्गमर्दन, रोमाञ्च

१—अ० पु०, २९८।१३.
२—सु०, क० ८।३१.
३—च० चि० अ० २३।१३५.
४—सु०, क०, ८।५०.
५—अ० पु०, २९८।१४.

दाह, मूर्च्छा, जृम्भा, कम्पन, श्वास, हिचकी, अतिशीत, पिड़िकओं की वृद्धि होना, शोफ, ग्रन्थियाँ, मण्डल, कर्णिकाएँ, विसर्प, किटिभ आदि लक्षण होते हैं, जो तत्तसम्बन्धी दोषों के उपद्रव हैं। इन मन्द विष वाले कीटों के काटने से मुख से लालस्राव, अरोचक, वमन, शिरोगौरव, शीत की कमी, पिडिका, कोठ, कण्डू की उत्पत्ति आदि लक्षण दिखाई पड़ते हैं।[1]

अग्निपुराण के अनुसार यवक्षार, त्रिकटु, वच, हिंगु, विडंग, सैन्धव, लवण, तगर, पाठा, अतिवला और कूठ—ये सब प्रकार के कीट-विषो के नाशक माने गये हैं।[2]

कुक्कुर-दंश की चिकित्सा

अग्निपुराण ने कुक्कुर दष्ट के लक्षण का कोई उल्लेख नहीं किया। इस पुराण ने इसका प्रथम निर्देश चिकित्सा प्रसंग में किया है (२९८।१५)।

उन्मत्त कुत्ते के विष के कारण कफ से दूषित हुई वायु जब संज्ञावह स्रोतों का आश्रय लेकर संज्ञा विनाश कर देती है तब उसकी पूंछ, हनु और स्कन्ध बहुत ढीले हो जाते हैं उनका इन अङ्गों पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता। मुख से प्रचुर लालस्राव निकलता है और वह बहरा हो जाता है। उस पागल विष वाले कुत्ते के काटने के स्थान में सुपुप्ति हो जाती हैं तथा उसमें से काले रंग का बहुत सा रक्त बहता है और प्राय: विषाक्त शस्त्र से विद्धव्रण के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं।[3] सुश्रुत ने कुत्ते के अतिरिक्त शृगाल, लकडबग्घा, रीछ, व्याघ्र आदि का उल्लेख किया हैं। वास्तविकता तो यह है कि इन सभी के दंश से एक समान ही लक्षण पाये जाते हैं।

उन्मत्त कुत्ते के काटे जाने पर यदि प्राणी उसी के समान चेष्टा करे तथा जिसकी अपनी क्रियाएँ नष्ट हो गई हों तो ऐसा मनुष्य मर जाता है।[4] कुत्ते के काटे जाने पर प्राय जलसंत्रास (Hydrophobia) रोग हो जाता है इसे अलर्क विष भी कहा गया है।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के अनुसार यह रोग मनुष्य को उन्मत्त पशुओं के काटने पर लालस्रावा (Virus) से उत्पन्न होता है। यह वायरस शरीर में प्रवेश कर परिसरीय वातनाडियों (Peripheral nerves) द्वारा

१—सु०, क०, ८।१९-२२.

२—अ० पु०, २९८।१४,१५.

३—सुश्रुत, क०, ७।४३-४५.

४—तदेव, ७।४६-४९.

केन्द्रीय वात-नाड़ी-संस्थान में पहुँच कर स्थायी हो जाता है। इनके कारण निगलने में कठिनाई, अङ्गवात, चीत्कार आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और तीन-चार दिनों में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

सुश्रुत ने कुत्ते के दंश में तीक्ष्ण संशोधन देने का विधान किया है।[1]

(१) अग्निपुराण ने मुलहठी, त्रिकटु, गुड़ और दुग्ध का योग कुत्ते के विष के हरण के लिए उपोयगी माना है।[2]

(२) इसके अतिरिक्त आक का दूध, तिल, तैल, पलल और गुड़—इनको समान मात्रा में लेकर पिलाने से कुत्ते का भयंकर विष शीघ्र ही दूर हो जाता है।[3]

इसी २९८ वें अध्याय के अन्त में विषघ्न ओषधियों के उत्पादन प्रसंग में अ० पु० ने कतिपय मन्त्र दिये हैं—

"ओं सुभद्रायै नमः सप्राभयै नमः"

यह ओषधि उखाड़ने का मन्त्र है। भगवान् ब्रह्मा ने सुप्रभादेवी को आदेश दे रखा है कि मानवगण जो ओषधियाँ बिना विधि-विधान के ग्रहण करते हैं, तुम उन ओषधियों का प्रभाव ग्रहण करो, इसलिए सुप्रभा देवी को नमस्कार करके ओषधि के चारों ओर मुट्ठी से यव बिखेर कर पूर्वोक्त मन्त्र का दस बार जप करके ओषधि को नमस्कार करें और कहे कि—'तुम उर्ध्व नेत्रा हो अतएव तुम्हें उखाड़ता हूँ। इस विधि से मन्त्र को उखाड़ना चाहिए तथा निम्नाङ्कित मन्त्र से उसका भक्षण करना चाहिये—

"नमः पुरुषसिंहाय नमो गोपालकाय च। आत्मनैवाभिजानिति रणे कृष्ण-पराज्यं एतेन सत्यवाक्येन अगदो मेऽस्तु सिध्यतु"

स्थावर विष की ओषधि आदि में निम्नलिखित मन्त्र का प्रयोग करना चाहिए।

"नमो वैडूर्य्यमाते तन्न २ रक्ष मां सर्वविषेभ्यो गौरि गान्धारि चाण्डालि मातङ्गिनी स्वाहा हरिमाये।"

विष का भक्षण कर लेने पर पहले वमन कराके विषयुक्त मनुष्य को शीतल जल से सेचन करना चाहिये। तदनन्तर उसको मधु और घृत पिला कर विरेचन कराना उचित है।

१—सु० क०, ७।६२.

२—अ० पु०, २९८।१५.

३—अ० पु०, २७९।५८.

अ० पु० के पाँच अध्यायों (२९४-२९८) में सर्प, लूता, वृश्चिक, गर्दभ, शतपदी, उन्दुर (मेढक), मत्स्य, सर्वविध कीट एवं कुक्कुर के प्रकार दष्ट लक्षण एवं चिकित्सा का उल्लेख हुआ। औषधि-चिकित्सा के साथ-साथ मन्त्र चिकित्सा का भी निर्देश अ० पु० का एक अपना वैशिष्ट्य है। गर्दभ-दष्ट एवं उसकी चिकित्सा अ० पु० में सर्वप्रथम दृष्टिगत होती हैं। सुश्रुत या चरक में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता।

अगदतन्त्र

(क) युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा

लूता विष

(१) श्वेत चन्दन, पद्माक, कूठ, लताम्बु, उशीर, पाटला, निर्गुण्डी, शारिवा और सेलु ये लूता के विष का नाश करते वाले होते हैं (२७९।६०, ६१)।

विष

(१) तुण्डलीयक, निर्गुण्डी, शारिवा, शेलु और अङ्कोल विष के अपहरण करने में सक्षम माने गये हैं (२८५।१६)।

वृश्चिक दंश चिकित्सा

(१) जिसे वृश्चिक ने काटा हो उसके लिये मोरपंख और घृत का धूम लाभदायक है अथवा आक के दूध से पिष्ट पलाशबीज का लेपन भी वृश्चिक विष का नाशक माना गया है। आक दूध, तिल तैल और गुड़ की समान मात्रा में लेकर पिलाने से भी वृश्चिक विष का नाश होता है (२७९।५७,५८)।

अश्व दंश चिकित्सा

(१) चौराई का मूल और निशोथ समान मात्रा में घृत के साथ पीने से मनुष्य अतिबलवान् कुक्कुर विष कीटों के विष पर शीघ्र नियन्त्रण पा लेता है (२७९।५९,६०)।

सर्पदंश-चिकित्सा

(१) निम्ब-पत्र का भक्षण सर्पदष्ट की ओषधी मानी गयी है (२७९।५५)।

(ख) दैवव्यपाश्रय चिकित्सा

विविध विषनाशक उपचार

जनार्दन भगवान् विष्णु के कीर्तन से सभी प्रकार के स्थावर, जंगम, कृत्रिम,

दन्तोद्भूत नखोद्भूत, आकाशोद्भूत एवं लूतादि प्रबल विष नष्ट हो जाते हैं (३१।२७,२८)।

विष निवारक बीजमन्त्र

(१) 'हंस' बीज का न्यास करके साधक तीन प्रकार के विष का निवारण कर सकता है (३२३।१०)।

विषरागादि नाशक उपचार

क्षेत्रपाल एवं मुण्ड पृष्ठ के पूजन से भयविनाश एवं विष और रोगादि का कुप्रभाव नष्ट होता है (११६।१७,१८)।

सर्पभय निवारक मन्त्रोपचार

सर्प सामका प्रयोग करने वालों को कभी सर्पों का भय नहीं होता (२६१।८)।

सर्पबाधानिवारक उपचार

'सुपर्णस्तवा०' (अर्थ० ४।६।३) इस मन्त्र का होम करने से सर्पों से बाधा नहीं होती (२६२।१०)।

अष्टम अध्याय

कौमारभृत्य विषयक सामग्री

बाल तन्त्र के विविध ग्रह, उनके भेद तथा उनसे आक्रान्त शिशुओं के लक्षण एवं उनकी चिकित्सा

आयुर्वेद के आठ अंगों के अन्तर्गत बालतन्त्र या कौमारभृत्य का महत्वपूर्ण स्थान है। अग्नि पुराण के २९९ वें अध्याय में बालग्रह हर-बालतन्त्र का निर्देश है। इसमें सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ आयुर्वेद के ग्रन्थों में बालकों के ग्रहों की चर्चा है वहाँ इसमें ग्रही नाम आया है। सुश्रुत ने बालतन्त्र के पर्यायभूत कौमार भृत्य शब्द की सीमा बताते हुए कहा है कि जिस आयुर्वेद के अंग में कुमार या बालक के भरण-पोषण, धात्री के दुग्ध के दोषों के संशोधन के उपाय, दूषित दुग्ध पान और दुष्ट ग्रहों से उत्पन्न व्याधिओं की चिकित्सा का वर्णन हो वह कौमार भृत्य है।[1] ऐतिहासिक सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि इस अंग का ज्ञान प्राचीन भारत में महाभारत के काल से ही था। यद्यपि महाभारत में इस प्रकार अष्टांग आयुर्वेद[2] का नाम ही दृष्टिगत होता है न कि कौमारभृत्य या बालतन्त्र का पृथक रूप से। महाभारत में भी बालग्रह से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री है। महाभारत के पश्चात् बौद्ध वाङ्मय के सुत्तपिटक के दीघ निकाय में २६ विद्याओं के अन्तंगत दारकतिकिच्छा (दारकचिकित्सा) का नाम मिलता है। "नवजात शिशु में बाह्य वातावरण से युद्ध करने के लिए स्वल्प मात्र भी शक्ति नहीं होती है। माता की गर्भशय्या में नौ मास निरापद विश्राम के अनन्तर उसको इस धरती पर अवतीर्ण होना पड़ता है तो तुरन्त एक प्रतिकूल वातावरण की औपसर्गिक विभीषिका (संक्रामक) उसे आत्मसात् करने के लिए प्रतीक्षा करती रहती है। अत्यन्त कोमल एवं संवेदनशील होने के कारण असावधानीवश, वह छठे या बारहवें दिन किसी अदृश्य वायु भक्षी रक्षस् (औपसर्गिक जीवाणु) से निगृहीत हो जाता है और उसी किसी एक विकार कें कारण विविध ग्रहों (उपसर्गज आंतकों) से आक्रान्त हो जाने के परिणामस्वरुप करालकाल के गाल में कवलित हो जाता

१—सुश्रुत सूत्र०, १।१३.

२—कच्चिद् वैद्याश्चिकित्सायामष्टाङ्गायां विशारदाः । महा०सभा,५।९१-

है। ऐसी अवस्था को प्राचीनों ने बालग्रह तथा आधुनिकों ने जन्मकालीन संक्रमण (Neonatal infection) की संज्ञा दी है।[१]

'ग्रहों को दूसरे शब्दों में वायुभोजी जीवाणु (Virus) का आक्रमण कह सकते हैं। इस प्रकार के वायुभोजी जीवाणु का ज्ञान भारतीय चिकित्सकों को अथर्ववेद (२।३१।२) के काल से ही था। सुश्रुत के उत्तर तन्त्र (अध्याय २७ से ३८) के संस्कृतांश (नागार्जुन-प्रथम शताब्दी) में शिशु के जन्मकाल के इन विकारों को नवग्रह की संज्ञा दी गई है।[२] इस स्थल में इन ग्रहों की मुक्ति के लिए व्यापाश्रय चिकित्सा के अतिरिक्त दैव व्यपाश्रय चिकित्सा का भी उल्लेख है। वराहमिहिर (५०० ई०) की वृहत्संहिता में नवग्रहों की लीला एवं पूजन का विधान है किन्तु उनके एवं सुश्रुत के नामकरण में बिल्कुल अन्तर है। वराहमिहिर सातों दिनों के आधार पर सात तथा राहु और केतु को लेकर नौ ग्रह मानते हैं[३] पर सुश्रुत में स्कन्दग्रह, स्कन्दापस्मार, शकुनिग्रह, रेवती, पूतना, शीतपूतना, मुख मण्डिका तथा नैगमेषजुण्ट या पितृग्रह—ये नवग्रह शिशु के जन्मकालीन व्याधि के रूप में वर्णित हैं। काश्यपसंहिता में रेवती, पूतना, अन्धपूतना, शीतपूतना या कटपूतना तथा मुखाचिका इन पाँच ग्रहों का वर्णन है।[४] किन्तु इन दोनों से पूर्व के ग्रन्थ महाभारत (वन०अ०२३०, आदि० ६६।२४, शल्यपर्व ४३।३७, सभापर्व ११।४१) में भी इसकी प्रचुर सामग्री है वहाँ अन्धपूतना के अतिरिक्त सुश्रुत के सभी ग्रह वर्णित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सुश्रुत ने अन्धपूतना को पूतना के सदृश कुछ अन्य लक्षण मिलने के कारण एक नवीन व्याधि मानी है। वाग्भट के अष्टांग हृदय में इनकी बालग्रह संज्ञा है। वाग्भट में सुश्रुत के द्वारा निर्दिष्ट नौ ग्रह के अतिरिक्त मेषग्रह, श्वग्रह एवं शुष्क रेवती ग्रह इस प्रकार तीन और ग्रह जोड़कर इनकी संख्या १२ कर दी गई है और ये शिशु के जन्म से लेकर १२ दिन तक संक्रामककाल के परिचायक हैं। वाग्भट ने रेवती के सदृश कुछ लक्षणों के मिलने एवं और कुछ नये लक्षणों के ज्ञान से परिचित होने के कारण शुष्करेवती आदि ग्रहों की सत्ता सिद्ध की है। इसके अतिरिक्त तथाकथित रावण के कुमार तन्त्र में नन्दना,

---

१—आचार्य: ज्योतिर्मित्र, बालग्रहों का ऐतिहासिक अध्ययन, आयुर्वेद विकास, जून, १९६८; पृ० ९ (अ.).

२—सुश्रुत, उत्तर० २७ से ३८ अध्याय.

३—वृहत्संहिता का ३ से ११ अध्याय एवं ७ वाँ ग्रहाध्याय इस प्रसंग में विशेष अनुशीलनीय है।

४—काश्यप०.

सुनन्दा, पूतना, मुखमण्डिका, कटपूतना, शकुनिका, शुष्करेवती, अर्यका, सूतिका निऋता, पिलिपिच्छिका एवं कामुका इस प्रकार १२ ग्रहों की चर्चा की है। वैद्यवर कल्याण विरचित बालतन्त्र में दिन, मास एवं वर्ष के अनुसार क्रमशः १०, १२ एवं ६ ग्रहों का निर्देश है।[1]

ठीक इसी प्रकार का वर्णन अग्नि पुराण के बालतन्त्र (आध्याय २९९) का है। वैद्यवर कल्याण के बालतन्त्र में शिशु जन्म के दिन से आरंभ कर १० दिन पर्यन्त होने वाले ग्रह इस प्रकार है—नंदनी, सुनन्दना, घण्टाली, कटकोली, अहंकारी, खट्वाङ्गी, हिंसिका, भीषणी, मेघा एवं रोदना (सप्तम पटल)। वर्ष के प्रत्येक मास में क्रमशः कुमारी मुकुटा, गोमुखो, पिङ्गला, बडवा, पदमा, पूतना, कुम्भकर्णिका, तापसी, सुग्रही एवं बालिका—ये १२ स्त्री ग्रह बालक पर आक्रमण करते हैं (अष्टम पटल)। इसी प्रकार १५ वर्ष तक की अवस्था तक बालक की रक्षा १६ स्त्री ग्रहों से करनी पड़ती हैं जो कि नाम भेद से इस प्रकार हैं—नन्दिनी, रोदनी, धनदा, चंचला, नर्त्तकी, यमुना, अनन्ता, कुमारिका, कलहंसा, देवदूती, कालिका, वायवी, यक्षिणी, स्वच्छन्दा कपी एवं दुर्जया।[2]

इस बालतन्त्र के विशद विवेचन से पूर्व यह जान लेता अति आवश्यक है कि बालक किसे कहते है ? सुश्रुत ने वयस् के तीन भेद किए हैं—बाल्यावस्था, मध्यावस्था एवं वृद्धावस्था। इनमें से १६ वर्ष से न्यून वयस् वाले को बालक की संज्ञा दी गई है। इसी बाल्यावस्था के क्षीरप, क्षीरान्नाद एवं अन्नाद—ये तीन भेद भी किये गये हैं। इनमें से एक वर्ष के बालक को क्षीरप, दो वर्ष के बच्चे को क्षीरान्नाद एवं उससे ऊपर १६ वर्ष तक के बच्चे को अन्नाद कहा गया है।[3] चरक ने बालक की और भी उत्तम व्याख्या की है। उनके अनुसार बालक उसे कहते हैं जिसकी धातुएँ अपरिपक्व हैं जिसमें जन्मोत्तर लैङ्गिक लक्षण व्यक्त नहीं हुए हैं, जो कोमल है एवं क्लेश को नहीं सह सकता, जिसमें पूरी परह से बल नहीं आया है, जिसमें श्लेष्म धातु की अधिकता है और जो

१—आचार्य, ज्योतिर्मित्र, आयुर्वेद विकास, जून; १९६८, पृ० ६ (आ).

२—नवम पटल,

३—वयस्तु त्रिविधं—बाल्यं मध्यं वृद्धमिति। तत्रोनषोडशवर्षा बालाः। तेऽपि त्रिविधाः—क्षीरपाः, क्षीरान्नादा अन्नादा इति। तेषु संवत्सरपराः क्षीरपा, दिवसवत्सरपराः क्षीरान्नादाः, परतोऽन्नादा। इति। सुश्रु० सू० ३५।३४.

१७ वर्ष से कम है वह बालक है।[1] आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी बाल चिकित्सा का क्षेत्र सुश्रुत की आयु सीमा तक का ही है। मेरे विचार में बालक की मर्यादा १६ वर्ष तक इसलिए तय की गई है कि इससे पूर्व शुक्र धातु की अभिव्यक्ति नहीं होती क्योंकि १६ वर्ष के समाप्त होते ही बालकों में श्मश्रु की रोमराजियाँ और कक्षा एवं गुह्य प्रदेशों में बाल उगने आरंभ हो जाते हैं।

नवग्रहों में सूर्य एवं चन्द्रमा का उल्लेख वेदों में सैकड़ों स्थानों में है और राहु केतु अदृश्य ही हैं। अवशिष्ट भौमादि पाँच ग्रह ही वास्तविक सूर्यमाला के ग्रह हैं परन्तु वेदों में हमें इन पाँचों अथवा इनमें से कुछ के विषय में स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता तो भी अनुमान करने योग्य स्थल बहुत से हैं—

अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्युर्म हो दिवः।
देवत्रा नु प्रवाच्यं समीचीनानि वावृदुक्ति मे अस्य रोदसी॥ (ऋ०, १।१०५।१०)

अर्थात् ये जो महाप्रबल (पाँच) देव विस्तीर्ण द्युलोक के मध्य में रहते हैं उनका मैं स्तोत्र बना रहा हूँ एक साथ आने वाले होते हुए भी (आज) वे सब चले गये। यद्यपि यहाँ देव शब्द प्रत्यक्ष नहीं है तथापि पूर्वापर सन्दर्भ से ज्ञात होता है विवक्षित अवश्य है। आकाश में पाँचों ग्रह बहुत कम दिखाई पड़ते हैं। बुध एवं शुक्र तो आकाश के मध्य में एक साथ कभी भी दिखाई नहीं पड़ते। ऋग्वेद (१०।५।३) में एक अन्य स्थान में भी 'पञ्चदेव' शब्द आया है अतः पञ्चदेव शब्द का अर्थ ग्रह ही हो सकता है। उपर्युक्त देवग्रहा वै नक्षत्राणि, अर्थात् यह नक्षत्र देवों के ग्रह हैं—वाक्य से इस कथन की पुष्टि होती है और इसी वाक्य से यह भी ज्ञात होता है कि वेद काल में ग्रहों का ज्ञान था।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि संहिता काल के पश्चात् उसके अन्तिम चरण उपनिषद् काल में इन ग्रहों के विकास का एक क्रियात्मक रूप दिया जा चुका था। छान्दोग्य उपनिषद् (७।१।१) में अन्य विद्याओं के साथ केवल भूत विद्या का उल्लेख है। सुश्रुत ने भूत विद्या की सीमा में ग्रह उपसृष्ट व्यक्ति की शान्ति, बलिकर्म आदि द्वारा चिकित्सा व्यवस्था का निर्देश किया है।[3] श्रीमद्भगवद्गीता में भी स्कन्ध का निर्देश है।[4]

१—तत्र बालमपरिपक्वधातुमजातव्यंञ्जनं सुकुमारक्लेशसहमसम्पूर्णबलं श्लेष्मधातप्रायमाषोडशवर्षम्॥ चरक०वि०, ४।१२२.

२—भारतीय ज्योतिष, दीक्षित : बालकृष्ण, पृ० ८५, ८६.

३—सुश्रुत, उत्तर० ६०।२९, ३०.

४—सेनानीनामहं स्कन्दः। श्रीमद्भगवद्गीता, १०।२४.

दिनानुसार आक्रामक ग्रही

१. पापिनी

लक्षण—यह ग्रही जन्म के प्रथम दिन शिशु को निगृहीत करती है। इससे पीड़ित होने पर शिशु के शरीर में उद्वेग हो जाता है और वह स्तन्य-पान करना पसंद नहीं करता। अपनी ग्रीवा को बारम्बार घुमाता है और उसकी इस चेष्टा से माता का बल क्षीण हो जाता है।

चिकित्सा—इस ग्रही से पीड़ित शिशु के स्वास्थ्य के लिए मत्स्य, मांस, सुरा, मद्य एवं गन्ध पदार्थ, सुगन्धित माला, धूप और दीपक के द्वारा बलि प्रदान करनी चाहिए। शिशु के शरीर पर धाय पुष्प, लोध्र, मञ्जिष्ठा एवं रक्त चन्दन से शिशु के शरीर पर लेप करना चाहिए। गुग्गुलु के द्वारा धूपन भी विहित है।[1]

२. भीषणी

लक्षण—यह ग्रही शिशु को जन्म के दूसरे दिन निगृहीत करती है। इससे पीड़ित होने पर शिशु को खाँसी आती है और वह लम्बी साँस लेता है। इसके अतिरिक्त उसका शरीर बारम्बार कम्पित होता है।

चिकित्सा—इस ग्रही से पीड़ित शिशु के उपचार के लिए पिप्पली, अपामार्ग एवं चन्दन को बकरी के मूत्र में मिलाकर शिशु के शरीर पर लेप करना चाहिए। इसमें भी पापिनी के कथित बलि देते हुए गो के सींग, दाँत एवं केश के द्वारा धूपन का विधान है।[2]

३. घण्टाली

लक्षण—यह ग्रही शिशु को तीसरे दिन निगृहीत करती है। इससे पीड़ित होने पर वह बारम्बार चीखता है, जृम्भा के साथ-साथ लम्बी आवाज करता है। वह भयभीत होकर गात्रोद्वेग से दुःखी हो जाने के कारण दुग्ध पान में कोई रुचि नहीं लेता।

चिकित्सा—केशर, अञ्जन गौर एवं हाथी के दाँत को बकरी के दूध में पीस कर शिशु पर लेप करना चाहिए। बलि के लिए नख, राई एवं बिल्व-पत्र के द्वारा धूपन देना चाहिए।[3]

१—अ० पु०, २९९।१-४.

२—तदेव, २९९।४, ५.

३—तदेव, २९९।६, ७.

४. काकोली

लक्षण—यह ग्रही शिशु को उसके जन्म के चतुर्थ दिन आक्रांत करती है। इससे पीड़ित होने पर शिशु के शरीर में उद्वेग होता है और वह बहुत वेग से रुदन करता है। उसके मुख से झाग निकलती है और वह ऊपर की ओर देखता रहता है।

चिकित्सा—इससे पीड़ित शिशु के उपचार के लिए आसव के सहित कुल्माष के द्वारा बलि का विधान है। हाथी के दाँत एवं सर्प के निर्मोक को घोड़े के मूत्र में पीस कर शिशु पर लेप करना चाहिए। धूपन के लिए राई, निम्ब-पत्र एवं भेड़िये के केशों का प्रयोग निर्दिष्ट हैं।[1]

५. हंसाधिका

लक्षण—इस ग्रही का आक्रमण जन्म के पाँचवें दिन होता है और इससे पीड़ित होने पर शिशु को जृम्भा एवं उर्ध्वश्वास हो जाता है। परिणामस्वरूप वह अपनी मुष्टि को बाँध लेता है।

चिकित्सा—बलि के लिए उपर्युक्त प्रकार से ही मत्स्य आदि का विधान है। काकड़ासिंगी, बला, लोध्र, मैन सिल एवं तालीस पत्र के द्वारा शिशु का लेपन करना चाहिए।[2]

६. फट्कारी

लक्षण—इस ग्रही का प्रकोप शिशु जन्म के छठें दिन होता है और इससे पीड़ित होने पर वह भयभीत हो जाने के कारण मूर्च्छित हो जाता है कभी-कभी वह जोरों से रुदन करता है। उसे दुग्ध पान करना रुचिकर प्रतीत नहीं होता। शिशु अपने अङ्गों को पटकता है।

चिकिरसा—इस ग्रही से पीड़ित होने पर मछली इत्यादि से बलि देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त राई, गुग्गुलु, कुष्ठ, हस्तिदन्त इत्यादि के द्वारा धूपन एवं शिशु का लेपन करना चाहिए।[3]

७. मुक्त-केशी

लक्षण—यह ग्रही शिशु के जन्म के सातवें दिन निगृहीत करती है जिसके कारण शिशु दुःखित हो जाता है और उसके शरीर से सड़ी गन्ध निकलने लगती

१—अ० पु०, २९९।८, ९.
२—तदेव, २९९।१०, ११.
३—तदेव, २९९।११, १२.

है। उसे बारम्बार जृम्भा आती है। वह थका होने के कारण बहुत अधिक रोता है और उसे खांसी हो जाती है।

चिकित्सा—इसके उपचार के लिए व्याघ्र के नख के द्वारा धूपन बताया गया है। वचा, गोबर एवं गोमूत्र के द्वारा शिशु के शरीर का लेपन होना चाहिये।[1]

८. श्रीदण्डी

लक्षण—यह ग्रही शिशु को आठवें दिन आक्रांत करती है। इससे पीड़ित शिशु चारों ओर ताकता है उसकी जिह्वा बराबर चलती रहती है। वह खाँसता तथा रोता है।

चिकित्सा—इसके उपचार के लिए पूर्वोक्त पदार्थ से ही मत्स्य आदि के द्वारा बलि का विधान है। हिंगुल के द्वारा धूपन तथा वचा-सरसों एवं लहसुन के द्वारा शिशु के शरीर पर लेप करना चाहिये।[2]

९. उर्ध्वग्राही

लक्षण—यह नवीं महाग्रही है जिसका आक्रमण शिशु जन्म के नवें दिन होता है। इससे पीड़ित शिशु उद्वेग और दीर्घ निश्वास से दुखी हो जाता है और वह अपनी दोनों मुष्टिकाओं को मुख से चबाता है।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा के लिये रक्त चन्दन कुष्ठ आदि के द्वारा शिशु का लेपन तथा वानर के रोम एवं नख के द्वारा धूपन का विधान निहित है।[3]

१०. रोदनी

लक्षण—यह ग्रही शिशु को उसके जन्म के दसवें दिन निगृहीत करती है जिसके कारण शिशु बराबर रोता रहता है। उसका शरीर नील वर्ण तथा कुछ गन्ध से युक्त हो जाता है।

चिकित्सा—निम्ब के द्वारा धूपन तथा कुष्ठ, वचा, राई एवं राल के द्वारा लेपन का विधान है। बलि के निमित्त खील (लाजा), कुल्माष, वन मूंग एवं भात से बलि दी जाती है।[4]

१—अ० पु०, २९९।१३, १४.
२—तदेव, २९९।१४, १५.
३—तदेव, २९९।१५, १७.
४—तदेव, २९९।१७, १८.

चिकित्सा की अवधि

इस प्रकार ये धूपदान आदि की क्रियाएँ शिशु के जन्म के तेरहवें दिन तक की जाती हैं। अंतिम तीन दिन की क्रियाएँ प्रायः दसवें दिन के समान ही हैं।[1]

मासानुसार रोगोत्पादक ग्रही

१. पूतना

लक्षण—यह ग्रही एक मास के शिशु को आक्रांत करती है जिसका स्वरूप शकुनि (पक्षिणी-वकी) की तरह है। इससे पीड़ित बालक कौवे के समान काँव-काँव करता है, रोता है, लम्बी साँसे लेता है और मूत्र के समान गन्ध से युक्त होता है।

चिकित्सा—इससे पीड़ित शिशु के उपचार के लिए गो-मूत्र से स्नान कराना तथा गोदन्त से धूपित करना चाहिये। ग्राम की दक्षिण दिशा में करञ्ज-वृक्ष के नीचे पीत वस्त्र, रक्त वर्ण वाले पुष्पों की माला, गन्ध तेल का दीपक, तीन प्रकार का पायस, मद्य, तिल, चार प्रकार का मांस और पूर्वोक्त पदार्थों की बलि निर्दिष्ट है।[2]

२. मुकुटा

लक्षण—यह ग्रही दो मास के शिशु को निगृहीत करते हैं। इसके प्रभाव से शिशु का शरीर पीला और ठण्डा पड़ जाता हैं। उसको वमन (छर्दि) होती है, नाक से पानी गिरता है और उसका मुख सूख जाता है।

चिकित्सा—इस ग्रही के निमित्त पुष्प, गन्ध, वस्त्र, मालपुआ, भात और दीपक की बलि प्रदान करनी चाहिये। इससे ग्रस्त बालक को कृष्णागुरु, सुगन्ध-बाला आदि से धूपित करने का विधान है।[3]

३. गोमुखी

लक्षण—यह ग्रही शिशु को तृतीय मास में निगृहीत करती है। इससे आक्रांत शिशु अधिक निद्रा लेता है। वह बारम्बार मल-मूत्र करता है और जोर जोर से रोता है।

चिकित्सा—इसके उपचार के लिये पहले यव, प्रियंगु, कुल्माष, शाक, भात

१—अ० पु०, २९९।१९.
२—तदेव, २९९।१९, २२.
३—तदेव, २९९।२२, २६.

और दुग्ध की पूर्व दिशा में बलि देनी चाहिये। तदनन्तर मध्याह्नकाल में शिशु को पञ्चभंग या पञ्चपत्र (पलाश, गूलर, पीपल, वट एवं बेल) से स्नान कराकर धूपित करना चाहिये।[1]

४. पिंगला

लक्षण—यह ग्रही शिशु को चतुर्थ मास में निगृहीत करती है। इससे गृहीत शिशु का शरीर शीतल एवं दुर्गन्ध युक्त होकर सूखने लगता है। ऐसे शिशु की मृत्यु अवश्यम्भावी है।[2]

५. ललना

लक्षण—यह पाँचवीं ग्रही है। इससे पीड़ित शिशु का शरीर शिथिल हो जाता है, मुख सूखने लगता है, देह पीली पड़ जाती है, तथा अपान वायु निकलती है।

चिकित्सा—इसके प्रतिकार के लिये दक्षिण दिशा में मत्स्य आदि से बलि देने का विधान है।[3]

६. पंकजा

लक्षण—यह ग्रही शिशु को उसके जन्म के षष्ठ मास में आक्रांत करती है। इससे गृहीत शिशु की चेष्टाओं में रोदन और विकृतस्वर आदि लक्षण मिलते हैं।

चिकित्सा—इसके निवारण के लिये मत्स्य, मांस, सुरा, भात, पुष्प, गन्ध आदि से बलि देनी चाहिये।[4]

७. निराहारा

लक्षण—इस ग्रही का आक्रमण शिशु के जन्म के सातवें मास में होता है। इससे पीड़ित शिशु दुर्गन्ध और दन्त रोग से पीड़ित होता है।

चिकित्सा—इसके उपचार के लिए पिष्ट मांस एवं सुरा-मांस की बलि देनी चाहिये।[5]

८. यमुना

लक्षण—यह ग्रही आठवें मास में शिशु पर आक्रमण करती है। इससे

१—अ० पु०, २९९।२४, २५.
२—तदेव, २९९।२५, २६.
३—तदेव, २९९।२६, २७.
४—तदेव, २९९।२७-२८.
५—तदेव, २९९।२८-२९.

पीड़ित होने पर शिशु के शरीर में दाने (फोड़े-फुंसियाँ) उभर आते हैं और शरीर सूख जाता है।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा नहीं करानी चाहिये।[1]

९. कुम्भकर्णी

लक्षण—इस ग्रही का प्रकोप नवें मास में होता है। इससे पीड़ित शिशु ज्वर और वमन से कष्ट पाता है तथा वह बहुत रोता है।

चिकित्सा—इसके शान्त्यर्थ पूर्वोक्त पदार्थ कुल्माष और मद्य आदि से ईशान-कोण में बलि वैश्वदेव यज्ञ का विधान है।[2]

१०. तापसी

लक्षण—इस ग्रही का आक्रमण शिशु-जन्म के दशम मास में होता है। इससे आक्रांत शिशु आहार का त्याग कर देता है (अर्थात् वह दुग्ध पान में रुचि नहीं लेता) और वह आँखो को बन्द किये रहता है।

चिकित्सा—शिशु के उपचार के लिए घण्टा, पताका, पिष्टान्न, सुरा एवं मांस की बलि निर्दिष्ट है।[3]

११. राक्षसी

लक्षण—यह ग्रही शिशु को ग्यारहवें मास में निगृहीत करती है। इससे आक्रांत शिशु नेत्र रोग से पीड़ित रहता है।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा व्यर्थ होती है।[4]

१२. चञ्चला

लक्षण—बारहवें महीने में यह ग्रही शिशु को आक्रांत करती है। शिशु, श्वास, दीर्घ-निःश्वास, भय आदि चेष्टाओं से युक्त रहता है।

चिकित्सा—मध्याह्न के समय कुल्माष और तिल आदि से बलि निर्दिष्ट है।[5]

१—अ० पु०, २९९।२९.
२—तदेव, २९९।३०.
३—तदेव, २९९।३१.
४—तदेव, २९९।३२.
५—तदेव, २९९।३२, ३३.

वर्षानुसार रोगोत्पादक ग्रही

१. यातना

लक्षण—इस ग्रही का प्रकोप दूसरे वर्ष में होता है। इससे शिशु को यातना सहनी पड़ती है और उसमें रोदन आदि दोष प्रकट होते हैं।

चिकित्सा—इसके प्रतिकार के लिए तिल, मांस, मद्य आदि से बलि देनी चाहिए और पूर्व की भाँति स्नान कराना चाहिए।[१]

२. रोदनी

लक्षण—इससे ग्रस्त बालक रोता और कांपता है तथा उसके मूत्र में रक्त आता है।

चिकित्सा—इसके उपचार के लिए गुड़, भात, तिल का पुआ और पिसे हुए तिल की बनी हुई प्रतिमा देनी चाहिए। बालक को तिल मिश्रित जल से स्नान कराकर पञ्चपत्र (पलाश, गूलर, पीपल, वट एवं बल) या राजफल के छिलके से धूपन देना चाहिए।[२]

३. चटका

लक्षण—इस ग्रही का आक्रमण चौथे वर्ष में होता है। इससे ग्रस्त बालक को सर्वाङ्गसाद एवं ज्वर आता है और सारे अङ्गों में व्यथा होती है।

चिकित्सा—इस ग्रही से पीड़ित शिशु के स्वास्थ्य के लिए पूर्वोक्त पदार्थ एवं तिल आदि से बलि देनी चाहिए और बालक को स्नान एवं धूपन कराना चाहिए।[३]

४. चञ्चला

लक्षण—इस ग्रही का आक्रमण पाँचवे वर्ष में शिशु पर होता है। इससे ग्रस्त बालक ज्वर, भय एवं अङ्ग-शैथिल्य से युक्त रहता है।

चिकित्सा—इसके शान्त्यर्थ चञ्चला को भात आदि की बलि देनी चाहिए तथा मेषभृङ्ग से धूपित करना चाहिए।[४]

१—अ० पु०, २९९।३३, ३४.

२—तदेव, २९९।३४, ३५.

३—तदेव, २९९।३६.

४—तदेव, २९९।३७, ३८.

५. धावनी

लक्षण—यह ग्रही छठें वर्ष में बालक को आक्रांत करती है। इससे गृहीत बालक का शरीर नीरस होकर सूखने लगता है। उसके अङ्ग-अङ्ग में पीड़ा होती है।

चिकित्सा—इसके उपचार के लिए सात दिनों तक पूर्वोक्त पदार्थों की बलि देनी चाहिए। बालक को भृङ्गराज से स्नान एवं धूपन कराना चाहिए।[१]

६. यमुना

लक्षण—सातवें वर्ष में बालक इस ग्रही से पीड़ित होता है। बालक छर्दि, मूत्रत्याग तथा अत्यन्त हास एवं रोदन से युक्त होता है।

चिकित्सा—इस ग्रही के निमित्त मांस, पायस, मद्य आदि से बलि देनी चाहिए तथा स्नान एवं धूपन कराना भी विहित है।[२]

७. जातवेदा

लक्षण—इस ग्रही का आक्रमण काल आठवाँ वर्ष है। इससे पीड़ित बालक भोजन छोड़ देता है और वह बहुत रोता है।

चिकित्सा—इसके निमित्त कृशरा (खिचड़ी) मालपुआ, दही आदि की बलि प्रदान करनी चाहिए। बालक को स्नान कराकर धूपन करना चाहिए।[३]

८. काला

लक्षण—यह ग्रही नौ वर्ष के बालक को आक्रांत करती है। इससे ग्रस्त बालक अपनी भुजाओं को कँपाता है, गर्जन करता है और भयभीत रहता है।

चिकित्सा—काला के शान्त्यर्थ मालपुआ, सत्तू, कुल्माष और पायस की बलि देनी चाहिए।[४]

९. कलहंसी

लक्षण—इसका आक्रमण काल दशवाँ वर्ष है। इस ग्रही से आक्रांत बालक के शरीर में दाह होता है, अङ्ग दुर्बल हो जाते हैं और वह ज्वर ग्रस्त रहता है।

चिकित्सा—इसके उपचार के लिए पाँच दिन तक पूरी, मालपुआ और

१—अ० पु०, २९९।३८, ३९.
२—तदेव, २९९।३९, ४०.
३—तदेब, २९९।४०, ४१.
४—तदेव, ६९९।४१, ४२.

दधि-अन्न की बलि देनी चाहिए। बालक का निम्ब पत्रों से धूपन एवं अनुलेपन करना चाहिए।[1]

१०. देवदूती

लक्षण—यह ग्रही बालक को ग्यारहवें वर्ष में निगृहीत करती है। इससे बालक कठोर वचन बोलता है।

चिकित्सा—पूर्व की भाँति ही लेप एवं बलि प्रदान करनी चाहिए।[2]

११. बालिका

लक्षण—इसका आक्रमण काल बारहवाँ वर्ष है। बालिका से आक्रांत बालक श्वास रोग से परेशान रहता है।

चिकित्सा—इसके उपचार के लिए पूर्वोक्त विधि से बलि एवं लेपन का विधान है।[3]

१२. वायवी

लक्षण—तेरहवें वर्ष में वायवी ग्रही आक्रांत करती है। इससे पीड़ित कुमार मुख रोग तथा अङ्ग शैथिल्य से युक्त होता है।

चिकित्सा—वायवी ग्रही को, अन्न, गन्ध, माल्य आदि की बलि देनी चाहिए और बालक को पञ्चपत्र (पलाश, गूलर, पीपल, वट एवं बेल) से स्नान करना चाहिए।[4]

१३. यक्षिणी

लक्षण—यह ग्रही बालक को चौदहवें वर्ष में आक्रांत करती है। इससे वह शूल, ज्वर, दाह आदि से पीड़ित रहता है।

चिकित्सा—मांस, भक्ष्य आदि के द्वारा बलि देनी चाहिए। इसकी शांति के लिए पूर्ववत् स्नान आदि भी करना चाहिए।[5]

१—अ० पु०, २९९।४२, ४३.

२—तदेव, २९९।४४.

३—तदेव, २९९।४४.

४—तदेव, २९९।४५,४६.

५—तदेव, २९९।४६,४७.

१४. मुण्डिका

लक्षण—यह ग्रही १५ वर्ष के बालक को निगृहीत करती है इससे पीड़ित बालक को सदैव रक्त स्राव होता रहता है।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा नहीं करानी चाहिए।[1]

१५. वानरी

लक्षण—१६ वर्ष का बालक इस ग्रही से आक्रांत होता है। इससे पीड़ित नवयुवक भूमि पर गिरता है और सदा निद्रा तथा ज्वर से पीड़ित रहता है।

चिकित्सा—इसके उपचार के लिए तीन दिन तक वानरी को पायस आदि की वलि देनी चाहिए। वालक को पूर्ववत् स्नान आदि कर्म कराना चाहिए।[2]

१६. गन्धवती

लक्षण—१७ वर्ष का बालक इस ग्रही से निगृहीत होता है। इससे ग्रस्त बालक के शरीर में उद्वेग बना रहता है वह जोर-जोर से रोता है।

चिकित्सा—इस ग्रही को कुल्माष आदि की बलि देनी चाहिए। पूर्ववत् स्नान, धूपन तथा लेपन आदि कर्म भी करना चाहिए।[3]

बालग्रही शान्त्यर्थं मन्त्र-चिकित्सा

दिन की स्वामिनी ग्रही पूतना है और वर्ष की सुकुमारी है।[4] इन सभी ग्रहीगण की शान्ति के लिए निम्नलिखित मन्त्र का प्रयोग करना चाहिए[5]—

ॐ नमः सर्वमातृभ्यो बालपीड़ासंयोग भुञ्जभुञ्ज चुट चुट स्फोटय स्फोटय स्फुर स्फुर गृह्ण गृह्ण आकट्टय एवं सिद्धरूपो ज्ञापयति। हर हर निर्दोष कुरु कुरु बालिकां बालं स्त्रियं पुरुषं वा सर्वग्रहाणामुपक्रमात्।

चामुण्डे नमो देव्यै ह्रूं ह्रूं ह्रीं अपसर अपसर दुष्टग्रहान ह्रूं तद्यथा। गच्छन्तु गृह्यकाः, अन्यत्र पन्थानं रुद्रो ज्ञापयति।

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित मन्त्र से भी बालग्रह जनित पीड़ा का निवारण होता है[6]—

१—अ० पु०, २९९।४७.
२—तदेव, २९९।४८.
३—तदेव, २९९।४९.
४—तदेव, २९९।५०.
५—तदेव, २९९।५१.
६—तदेव, २९९।५२.

मन्त्र—

ओं नमो भगवति चामुण्डे मुञ्च मुञ्च बलिं बालिकां वां ।

बलिं गृह्ण गृह्ण जय जय वस वस । सर्वत्र बलिदानेऽयं रक्षाकृत पठ्यते मनुः ।

ब्रह्मा विष्णु शिव स्कन्दो गौरी लक्ष्मीर्गणादयः ।

रक्षन्तु च ज्वराव्यान्तं मुञ्चन्तु च कुमारकम् ॥

अग्निपुराण ने दिन, मास एवं वर्ष के अनुक्रम से क्रमशः १०, १२ एवं १६ ग्रहियों का जो लक्षण चिकित्सा के सहित उल्लेख किया है वह वैद्यवर कल्याण विरचित बालतन्त्र (६४४ वि० सं०) में कुछ नाम परिवर्तन के साथ दृष्टिगत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अग्निपुराण में यह सामग्री या तो उक्त कल्याणतन्त्र से आयी अथवा उस काल में प्रचलित किसी अन्य बालतन्त्र से संगृहीत हुई जिसका अस्तित्व आज संशय का विषय है।

दोनों (अग्निपुराण एवं बालतन्त्र) में ग्रहियों की संख्या दिन-मास एवं वर्ष के शीर्षकान्तर्गत समान ही है। अधिकांश नाम एक जैसे ही हैं। लक्षणों में भी पर्याप्त साम्य दृष्टिगत होता है। यद्यपि चिकित्सा में उतना सादृश्य है तथापि अग्निपुराण में केवल ३ तान्त्रिक मन्त्र हैं जो दैवव्यपाश्रय चिकित्सा के अन्य बलि, मंगल, होम, धूप आदि विधाओं के साथ वर्णित हैं। जो मन्त्र अग्निपुराण में हैं वे बालतन्त्र में नहीं उपलब्ध होते हैं। इसी विषय के स्पष्टीकरण के लिए दो तालिकाएँ इस अध्याय में प्रस्तुत की गई हैं।

इसी वैद्यवर कल्याण के बालतन्त्र (दशम पटल) में दिवस, मास एवं वर्ष की संयुक्त ग्रही-मातृका (पूतना या नन्दिनी), सुनन्दना (पूतना), पूतना, मुखमण्डलिका (आकाशयोगिनी), विडालिका, षट्कारिका, कालिका, कामिनी, मदना, रेवती, सुदर्शना, पूतना, भद्रकाली, तारा, हुँकारिका एवं कुमारिका का लक्षण एवं चिकित्सा सहित उल्लेख है। इसके अतिरिक्त इसी बालतन्त्र एकादश पटल में पूतना, महापूतना, ऊर्ध्वपूतना, बालकान्ता, रेवती, महारेवती, पुष्प-रेवती, शुष्क रेवती शकुनि एवं शिशुमुण्डिका—इन १० ग्रहियों का सलक्षण चिकित्सा निर्देश है। इसमें भी बलि एवं मन्त्र का भी विधान है।

आयुर्वेदीय संहिताओं में सुश्रुत (उत्तरतन्त्र, २७/४, ५) ने नव बालग्रहों को विस्तार से प्रतिपादित किया है जिनमें स्कन्द, स्कन्दापस्मार एवं नैगमेष या पितृग्रह से ३ ग्रह तथा शकुनी, रेवती, अन्धपूतना, शीतपूतना एवं मुखमण्डिका

ये ५ ग्रहियाँ हैं। इन सभी का लक्षण एवं उपचार उत्तर तन्त्र के २७ से ३७ अध्यायों में प्रतिपादित है। काश्यप संहिता में इन बालग्रह एवं बालग्रहियों का चार स्थलों में उल्लेख है। प्रथम सन्दर्भ का स्थल खण्डित है तथापि शकुनि, स्कन्द, षष्ठी, एवं पूतना ग्रह से दूषित दुग्धवाली धात्री का निर्देश है (सूत्र १९)। द्वितीय सन्दर्भ (इन्द्रियस्थान ५।१।१३-२१), में स्कन्द स्कन्दापस्मार, स्कन्द-पिता, पुण्डरीक, रेवती, शुष्करेवती, शकुनि, मुखमण्डिका, पूतना एवं नैगमेष का सलक्षण चिकित्सा उल्लेख है। तीसरा सन्दर्भ बालग्रह चिकित्सा (१२०वाँ ताड़पत्र) का है जिसमें रेवती और पूतना की पौराणिक उत्पत्ति के साथ-साथ अन्धपूतना, शीतपूतना एवं कट्पूतना, मुखार्चिका का प्रतिपादन है। इसमें रेवती के वारुणी, रेवती, ब्राह्मी, कुमारी, बहुपुत्रिका, शुष्का, षष्ठी, यमिका, धरणी, मुखमण्डिका, माता, शीतवती, कण्डू, पूतना, निरुञ्चिका, रोदनी, भूतमाता, लोकमातमिट्टी, शरण्यां एवं पुण्यकीर्ति भेद से २० पर्याय आगणित हैं। पूतना के मलजा, वैश्वदेवी, पूतना, पावनी एवं क्रौंची ये पाँच पर्याय काश्यप ने बतलाये हैं। कल्पस्थान के धूपकल्प में पिशाच, यक्ष, गन्धर्व, भूत एवं स्कन्द ग्रहों की चर्चा हुई है। रेवती, पिलिपिच्छिका, रौद्री एवं वारुणी भेद से चार पर्याय रेवती के निर्दिष्ट हैं। कल्पस्थान के रेवतीकल्प में अनेक रूप एवं भेद वाली जातहारिणियों का विस्तार से निरूपण है। जिन्हें जातहारिणी आक्रान्त करती है उनका काश्यप ने अतिविस्तार से प्रतिपादन किया है। साध्य, याप्य एवं असाध्य भेद से इनको तीन श्रेणी में रखा गया है। इनमें से शुष्करेवती, कटम्भरा, पुष्पघ्नी, विकुटा, परिस्रुता, अण्डघ्नी, दुर्धरा, कालरात्रि, मोहनी एवं स्तम्भिनी साध्य के अन्तर्गत व्याख्यात हैं। याप्य के अन्तर्गत डाकिनी, पिशाची, यक्षी, आसुरी, कलि, वारुणी, षष्ठी, भीरुका, याप्या, मातङ्गी, भद्र-काली, रौद्री, वर्धिका, चण्डिका, कपालमालिनी एवं पिलिपिच्छिका पठित हैं। असाध्य के अन्तर्गत कुलक्षयकरी, पुण्यजनी, पौरुषादनी, संदंशी, कर्कोटकी, इन्द्रबडवा एवं बडवामुखी का समावेश है।

वाग्भट ने अष्टाङ्गहृदय (उत्तरतन्त्र अध्याय ३) में शकुनि, रेवती, पूतना, दृष्टिपूतना, शीतपूतना, मुखमण्डलिका एवं शुष्करेवती इन ७ ग्रहियों तथा स्कन्द-ग्रह, विशाख, पितृगृह, मेषग्रह एवं श्वग्रह भेद से ५ ग्रहों का प्रतिपादन हैं। रावण के कुमारतन्त्र में नन्दा, सुनन्दा, शकुनिका, अर्यका, पूतना, स्वस्तिमातृका, कटपूतना, मुखमण्डिका, निर्ऋतामातृका, कामुकामातृका एवं शुष्करेवती ग्रही वर्णित हैं।

दिनानुक्रम से आक्रामक ग्रही परक तुलनात्मक तालिका

लक्षण	अग्निपुराण २९९ अ०	कल्याण का बालतंत्र (सप्तम पटल)	लक्षण
गात्रोद्वेग, निराहारता, नाना (दिक्) ग्रीवा-विवर्त्तन, मातृबलहरण ।	१–पापिनी	१–नन्दिनी	ज्वर, गात्रशोष, स्वेद, आहारानभिनन्दन, छर्दि, मूर्च्छा ।
कास, निश्वास, मुहुर्मुहुः गात्रसंकोचन ।	२–भीषणी	२–सुनन्दा	ज्वर, हस्तपादसंकोच, दन्तखादन, श्वसन, चक्षु निर्मीलन, आहाराग्रहण, दिवारात्रिरोदन, अक्षि-राग, छर्दन, पुनः पुनः भीति, अत्यन्त कृशत्व ।
मुहुर्मुहुः क्रन्दन, जृम्भा, स्वनित, त्रास, गात्रोद्वेग, अरोचन ।	३–घण्टाली	३–घण्टाली	कम्प, उद्वेग, कास, श्वास, रोदन ।
गात्रोद्वेग, प्ररोच (द) न, फेन-उद्गार, दिग्दृष्टि ।	४–काकोली	४–कटकोली	अरुचि, उद्वेग, फेन, उद्गार, दिग्-ईक्षण ।
जृम्भा, श्वास, उर्ध्वश्वासधारणी, मुष्टिबन्धन ।	५–हंसाधिका	५–अहंकारी	जृम्भा, श्वास, मुष्टिबन्धन, उर्ध्ववीक्षण ।
भय, मोह, प्ररोदन, निराहारा, अंगविक्षेप ।	६-फट्कारी	६–खट्वाङ्गी	गात्र विक्षेप, हास्य, रोदन, मोदन ।
पूतिगन्ध, विजृंभण, साद, प्ररोदन, कास ।	७–मुक्तकेशी	७–हिंसिका	जृम्भा, श्वास, मुष्टिबन्धन ।
दिग्-निरीक्षण, जिह्वा-चालन, कास, रोदन ।	८–श्रीदण्डी	८–भीषणी	कास, श्वास, भृश-गात्र-संकोचन ।
उद्वेजन, ऊर्ध्वनिश्वास, स्वमुष्टिद्वयखादन ।	९–ऊर्ध्वग्राही	९–मेषा	त्रास, उद्वेग, स्वमुष्टिद्वय खादन ।
शश्वत-रोदन, सुगन्ध, नीलवर्णता ।	१०–रोदनी	१०–रोदना	कास, रोदन, मुष्टिबन्धन ।

मासानुक्रम से आक्रामक ग्रहों परक तुलनात्मक तालिका

लक्षण	अग्निपुराण	कल्याण का बालतंत्र (अष्टम पटल)	लक्षण
काकवद् रोदन, श्वास, मूत्रगन्धी, अक्षिमीलन	१–पूतना	१–कुमारी	उद्वेग, ज्वर, शोष ।
वपुः शीतता, शीतलता, छर्दि, मुखशोणादि	२–मुकुटा	२–मुकुटा	ग्रीवा निवृत्ति, निष्पन्दता, वपुः शीतला, बक्त्रस्थ-शोष, उद्गार, अरोचक ।
निद्रा, सविण्मूत्र प्ररोदन ।	३-गोमुखी	३-गोमुखी	रोदन, निद्रा, बहुमूत्र, बहुपुरीष, नेत्र-निमीलन, गोगन्ध ।
आर्त्ति, तनुः शीतता, पूतिगन्ध, शोष, ध्रुवमृत्यु ।	४–पिंगला	४ पिंगला	पयः पानारुचि, श्वेतता, भुजस्पन्द, आस्यशोषण, पूतिगन्ध ।
गात्रसाद, मुखशोष, अपान, पीतवर्ण	५–ललना	५–वडवा	अरोचक, कास, मुखशोषण, रोदन, सर्बगात्रसीदन, श्रान्ति, पयः पानारुचि ।
रोदन, विकृतस्वर	६–पंकजा	६–पद्मा	रोदन, शूल, स्वरभ्रंश ।
पूतिगन्ध, दन्तरुक्	७ निराहारा	७–पूतना	मुखाद् दुग्धनिर्हरण, कृशता, रोदन, छर्दि ।
विस्फोट, शोषण	८–यमुना	८–अजिका	गात्रभंग, ज्वर, अक्षिरुक्, प्रलाप, छर्दि ।
आर्त्ति, ज्वर, छर्दि	९–कुंभवर्णी	९–कुंभकर्णिका	अरोचक, छर्दि, ज्वर, पातालगन्धता ।
निराहारा, अक्षिमीलन	१०–तापसी	१०–तापसी	गात्रविक्षेप, क्षीरद्वेष, अक्षिमीलन ।
नेत्र पीड़ा	११–राक्षसी	११–सुग्रही	असुस्थ ।
त्रास, विचेष्टा ।	१२–चञ्चला	१२–बालिका	रोदन, छर्दि, श्वास, पुनः पुनः तृष्णा ।

वर्षानुक्रम से आक्रामक ग्रही परक तुलनात्मक तालिका

लक्षण	अग्निपुराण	कल्याण का बालतंत्र नवम पटल	लक्षण
यातना, रोदनादिक	१—यातना	१—नन्दिनी	अरोचक, अक्षिविक्षेप, गात्रदाह, प्ररोदन, सदा भूमिपतन।
कम्प. रोदन, रक्तमूत्र	२—रोदनी	२—रोदिनी	रक्तमूत्र, ज्वर, आध्मान, पद्मकेशर-वर्णता, पुनः पुनः दक्षिण हस्तस्फुरण।
शोफ, ज्वर, सर्वांगसाद	३—चटका	३—धनदा	अवीक्षण, अनाहार, ज्वर, शोष, अंगसादन, वामपादस्फुरण, छर्दना।
ज्वर, त्रास, अंगसाद	४—चंचला	४—चंचला	ज्वर, श्वास, अंगसाद।
शोष, वैरस्य (वैवर्ण्य), गात्रसदन	५—धावनी	५—नर्त्तकी	उद्वेजन, मुहुर्मूत्रता, गात्रस्फुरण, गात्रसाद, मुखशोष, विवर्णता।
छर्दि, अवाक्-ह्रास, रोदन	६—यमुना	६—यमुना	रोदन, उद्गार, जृम्भा, शोष, अंगदाह।
निराहार, प्ररोदन	७—जातवेदा	७—अनन्ता	आन्ध्य, सर्वगात्रसाद, मुखपरिशोष, मुहुर्मूत्रता, उद्वेग।
बाहुआस्फोट, गर्जन, भय	८—काला	८—कुमारिका	ज्वर, सर्वगात्रसाद, मुहुर्मुहुः कम्प।
दाह, अंगकृशता, ज्वर	९—कलहंसी	९—कलहंसा	ज्वर, दाह, कृशता।
निष्ठुरवाक्	१०—देवदूती	१०—देवदूती	नर्त्तन, प्रधावन, विड्बन्ध, वमन, क्रीड़ा, हसन, स्वगृहेक्षण।
श्वास	११—बालिका	११—कालिका	ज्वर, कास, श्वास, अक्षिरो (रा) ग, काकरव, अंगसाद।
मुख, बाह्यांगसादन	१२—वायवी	१२ वायसी	मुखशोष, ज्वर, जृम्भा, अंगसाद।
शूल, ज्वर, दाह	१३—यक्षिणी	१३—यक्षिणी	हृदरोग, ज्वर, रोदन, ह्रासन।
आर्त्ति, असृक्स्राव	१४—मुण्डिका	१४—स्वच्छन्दा	रक्तस्राव, नाभिदेश, में शूल।
भूमिपतन, सदानिद्रा, ज्वर	१५—वानरी	१५—कपी	भूमिपतन, निस्खलन, तीव्रज्वर।
गात्रोद्वेग, प्ररोचन	१६—गन्धवती	१६—दुर्जया	ज्वर, छर्दि, कम्प, यस्यामीति वचः (जाऊँगा)

वस्तुतः ये सभी ग्रहियाँ स्कन्द की अनुचरी मातृकायें हैं जिनकी एक बृहत् सूची महाभारत (शल्यपर्व, अध्याय ४६) में हैं। ये सभी वहाँ लगभग १६० संख्या में हैं। इनमें से कालिका (महा०, शल्य ४६।१४), क्रोशना (महा०, शल्य० ४६।१७), पद्मावती (४६।९), पिङ्गाक्षी (४६।१८, २१), पूतना (शल्य० ४६।१६), मुकुटा (४६।२३) एवं रेवती (४६।८; वन० २३०।२९) आयुर्वेदीय ग्रन्थों में भी निर्दिष्ट हैं।

अग्निपुराण के आभ्यन्तर आयुर्वेदीय संहितोक्त ग्रहों का बिल्कुल वर्णन नहीं है, पर ३८ ग्रहियों का दिवस, मास एवं वर्ष की मर्यादा के आधार पर वर्णन है। वैद्यवर कल्याण के बालतन्त्र में प्रायः इन ग्रहियों का लक्षण एवं चिकित्सा सहित विस्तार से प्रतिपादन है और ये अग्निपुराण से बहुत अंश में मिलते जुलते प्रतीत होते हैं। पर ऐसा प्रतीत होता है कि अग्निपुराण ने यह सामग्री कुछ इस बालतन्त्र से ली और कुछ अन्य ग्रन्थों से। तान्त्रिक मन्त्रों का सन्निवेश अग्निपुराण में भी है, पर बालतन्त्रों से कुछ भिन्न। बालतन्त्रोक्त ग्रहियों का विशद अध्ययन शोध ग्रन्थ के कलेवर वृद्धि के भय से यहाँ प्रस्तुत नहीं किया गया।

कौमारभृत्य

अष्टाङ्ग आयुर्वेद के अन्तर्गत कौमारभृत्य की गणना होती है इसी को बालतन्त्र भी कहा जाता है। चरक[1] एवं सुश्रुत[2] दोनों ने इसे कौमारभृत्य कहा है, पर अष्टांगसंग्रह[3] एवं अष्टांगहृदय[4] में इसे बालतन्त्र नाम से अभिहित किया गया है।

सुश्रुत के अनुसार जिस अंग में बालकों के पोषण, धात्री के दुग्ध के दोषों के संशोधन उपाय, दूषित दुग्धपान और ग्रहों से उत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा का वर्णन हो वह कौमारभृत्य है।[5]

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की गर्भव्यापद् एवं स्त्रीव्यापद् भी इसी के

१—चरक, सू० ३०।२६.
२—सुश्रुत, सूत्र १।१३.
३—सूत्र १।१०.
४—सूत्र १।५.
५—कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानज्वर व्याधीनानुपशमनार्थं चेति। सुश्रुत सूत्र १।०३.

अन्तर्गत समाविष्ट हैं। बालक माता पर आश्रित है अतएव सगर्भावस्था में जो भी व्याधि होगी वह इसके अन्तर्गत आयेगी।

इस प्रकरण में बाल ग्रहियों के अतिरिक्त कतिपय अन्य सम्बद्ध रोगों की चिकित्सा प्रस्तुत की जा रही है।

कौमारभृत्य युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा

गर्भस्राव

(१) पीली कटसरैया (कौरण्टक बीज), मधुक, श्वेत चन्दन, पद्म एवं उत्पल के मूल के चूर्ण को मधु शर्करा एव तिल के साथ सेवन कराने से गर्भ-स्राव की आशंका समाप्त हो जाती है और यह योग गर्भ स्थित करने में परम सहयोगी है (१८५।६८,६९).

नवम अध्याय

भूतविद्या विषयक सामग्री

आयुर्वेद का यह अंग प्राचीनतम है जिसका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् (७।१।२) में भी मिलता है। अ० पु० में इसकी प्रचुर सामग्री विद्यमान है। चरक[1] एवं सुश्रुत[2] ने इसे भूतविद्या तथा अष्टांगसंग्रह[3] एवं अष्टांगहृदय[4] ने इसे 'ग्रहचिकित्सा' नाम दिया है।

सुश्रुतानुसार जिस अंग में देव, दैत्य (असुर), गन्धर्व, यक्ष, रक्षस, पितृ, पिशाच, नागधारि ग्रहों से पीड़ित चित्त वाले रोगियों के शान्ति के लिए शान्ति-कर्म, बलिप्रदान एवं ग्रहोप शमनार्थ वर्णन होता है वह भूतविद्या है।[5]

इसी प्रकरण में रोगों की मन्त्र, हवन, चिकित्सा आदि भी प्रतिपादित है। चरक ने देवव्यपाश्रय[6], युक्तिव्यपाश्रय एवं सत्वावजय भेद से तीन प्रकार की औषध का निर्देश किया है। इनमें से दैवव्यपाश्रय के अन्तर्गत मन्त्र, औषधि, मणिधारण, मंगलकर्म, बलि-उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्त्य-यन, प्रणिपात, तीर्थगमन आदि का सन्निवेश होता है। युक्तिव्यपाश्रय में औषध चिकित्सा आती है। मन को तत्तद् विषयों से हटाकर स्थिर करना सत्वावजय है।

इसके अतिरिक्त सुश्रुत ने अमानुषोपसर्गप्रतिषेध, अपस्मार प्रतिषेध एवं उन्माद प्रतिषेध को भी भूत विद्या के अन्तर्गत माना है (सूत्र ३।४१)।

इस प्रकरण में अष्टांग आयुर्वेद के सभी अंगों के रोगों की देवव्यपाश्रय चिकित्सा (मन्त्र एवं हवन सहित) उल्लिखित है। मन्त्र विद्या और उसके भेदों का ज्ञान कर लेना यहाँ आवश्यक होगा।

१—चरक, सूत्र ३०।२६.

२—सुश्रुत, सूत्र १।१२.

३—सूत्र १।१०.

४—सूत्र १।५.

५—भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षः पितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्ट चेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादि ग्रहोपशमनार्थम्। सुश्रुत सूत्र १।१२.

६—तत्र देवव्याश्रयं-मन्त्रौषधिमणिमंगलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तो-पवासस्वस्त्ययनप्रणिपाततीर्थगमनादि.... (चरक, सू० ११।६३).

मन्त्र विद्या

बास से अधिक अक्षरों वाले मन्त्रों को 'मालामन्त्र', दस से अधिक अक्षरों वाले मन्त्रों को 'मन्त्र' और दस से कम अक्षरों वाले मन्त्र को 'बीजमन्त्र' कहा गया है। 'मालामन्त्र' वृद्धावस्था में सिद्धिदायक होते हैं, 'मन्त्र' यौवनावस्था में सिद्धप्रद है और पाँच अक्षर से अधिक तथा दस अक्षर तक के मन्त्र बाल्यावस्था में सिद्धि प्रदान करते हैं। अन्य मन्त्र सर्वदा और सबके लिये सिद्धिदायक हैं। जिन मन्त्रों के अंत में 'स्वाहा' पद का प्रयोग हो, वे स्त्रीजातीय हैं। जिनके अन्त में 'नमः' पद युक्त हो वे नपुंसक हैं। शेष सभी मन्त्र पुरुषजातीय हैं। जिनके आदि में प्रणव लगा हो, वे आग्नेय हैं और जिनके अन्त में 'प्रणव' का योग हैं, वे सौम्य कहे गये हैं।[1]

मन्त्रों की जातियाँ (भूत)

(१) वश्य, ज्वर एवं आकर्षण में पल्लव का प्रयोग सिद्धिकारक है।

(२) शान्ति तथा मोहन प्रयोग में 'नमः कहना चाहिये।

(३) पुष्टि तथा वशीकरण में 'वौषट्' कहना चाहिये।

(४) प्रीतिविनाश के प्रयोग में 'हुम्' कहना चाहिये।

(५) विद्वेषण तथा उच्चाटन में 'फट्' कहना चाहिये।

(६) पुत्रादि प्राप्ति के प्रयोग में तथा दीप्ति आदि में 'वषट्' कहना चाहिये। इस तरह मन्त्रों के छः भेदों का निरुपण किया गया है।[2]

भूतविद्या

क्षुद्रमहामारी एवं विषघ्न मन्त्र

'ओं क्षौं नमो भगवते नारसिंहाय ज्वालामालिने दीप्तदंष्ट्रायाग्निनेत्राय सर्वरक्षोघ्नाय सर्वभूतविनाशाय सर्वज्वरविनाशाय दह २ पच २ रक्ष २ हूं फट्'।

इस मन्त्र का जप क्षुद्रमहामारी विष एवं रोगों का शमन कर सकता है (३०६।१८)।

ग्रह-नाशक उपचार

करालमुख वाले बलवान् नरसिंह के कीर्त्तन से प्रेतग्रह, डाकिनीग्रह, वेताल-

---

१—अ० पु० २९३।२-५.

२—१२५।४१-४२.

ग्रह, पिशाचग्रह, गन्धर्वग्रह, यक्षग्रह, राक्षसग्रह, शकुनीग्रह, पूतनाग्रह, वैनायकग्रह, मुखमण्डीग्रह, क्रूररेवतीग्रह, वृद्धरेवतीग्रह, वृद्धग्रह, उग्रग्रह, मातृग्रह एवं बालग्रहों का उपद्रव शान्त होता है (३१।२९-३२)।

ग्रहबाधा शामक मन्त्र

''शब्द शब्द सूक्ष्म सूक्ष्म शिव शिव सर्वभद्र सर्वभद्र ॐ नमः शिवाय ॐ नमो नमः शिवाय ॐ नमो नमः''

इस मन्त्र को पढ़कर पूजन, जप एवं होम करने से यह रुद्रशान्ति ग्रहबाधा रोग शामक तथा मनोरथ साधिका है (३२४।१३)।

दुःस्वप्ननाशक जप

१. दुःस्वप्न के नाश के लिये 'जातवेदस्' (ऋ० १।९९।१)—इस मङ्गलमयी ऋचा का मार्ग में जप करना चाहिये। ऐसा करने से समस्त भय से व्यक्ति मुक्त हो जाता है और कुशलपूर्वक घर लौट आता है। प्रभात काल में इसका जप करने से दुःस्वप्न का नाश होता है (२५९।२५-२६)।

२. 'स्वप्नेनाभ्युप्याचुमुरिम०' (२।१५।९) आदि ऋचा का प्रातः मध्याह्न और अपराह्न में जप करना चाहिए, इससे सपूर्ण दुःस्वप्नों का नाश होता है (२५९।३२-३३)।

३. 'यो मे राजन्०' (ऋ० २।२८।१०) यह ऋचा दुःस्वप्न का नाश करने वाली है (२५९।३९)।

४. 'आपो हि०' (ऋ० १०।१६४) इस सूक्त का व्यक्ति को पवित्र होकर जप करना चाहिये। इससे दुःस्वप्न का नाश होता है (२५९।९२)।

दुःख स्वप्न नाशक मन्त्र

१. 'अद्य नो देव सवितः' (साम १४१) यह मन्त्र दुःख स्वप्नों का नाश करने वाला है (२६१।५)।

दुःस्वप्ननाशक उपचार

'यमस्य लोकाद०' (अथर्व० १९।५६।१) यह मन्त्र दुःस्वप्न का नाश करने वाला है।

बाधानाशक उपचार

१. 'विष्णो रराटमसि०' (यजु० ५।२१)—आदि मन्त्र सम्पूर्ण बाधाओं का नाश करने वाला है (२६०।१९)।

बाधानिवारक उपचार

१. 'इन्द्रेण दत्त०' (अथर्व० २।२९।४) यह मन्त्र समस्त बाधाओं का भी विनाशक है (२६२।११)

भयमोक्षक एवं मेध्य जप

१. 'अरण्यानीत्यरण्येषु०' (ऋ० १०।१४६।१) इस मन्त्र के जप से भय का नाश होता है। ब्रह्म सम्बन्धी दो ऋचाओं का जप करना चाहिए और पृथक्-पृथक् जल से ब्राह्मीलता एवं शतावरी को ग्रहण करने से मेधाशक्ति की प्राप्ति होती है। (२५९।८९-९०)।

भयनिवारक मन्त्र

१. भय उपस्थित होने पर 'त्र्यम्बकं' (यजु० ३।६०) मन्त्र का नित्य जप करने से मनुष्य समस्त भय से मुक्त हो जाता है (२६०।१६)।

भयमोक्षक जप

(अ) 'न हि०' आदि चार ऋचाओं के पाठ से मनुष्य महान् भय से मुक्त हो जाता है (२५९।६६)।

(आ) 'मही०' आदि चार ऋचाओं के पाठ से महान् भय से मुक्ति मिलती है (२५९।६७)।

भूतबाधा निवारक अपराजिता-मन्त्र

ग्रहपीड़ा ज्वर आदि की पीड़ा तथा भूत बाधा आदि के निवारण के लिये 'अपराजिता' मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये।

अपराजिता मन्त्र

ॐ नमो भगवति वज्रशृंङ्खले हन हन, ॐ भक्ष भक्ष, ॐ खाद, ॐ अरे रक्तं पिव कपालेन रक्ताक्षि रक्तपटे भस्माङ्गि भस्मलिप्तशरीरे वज्रायुधे वज्र-याकारनिचिते पूर्वां दिशं बन्ध बन्ध, ॐ दक्षिणां दिशं बन्ध बन्ध, नागपत्नीर्बन्ध बन्ध, ॐ असुरान् बन्ध बन्ध, ॐ यक्षराक्षसपिशाचान् बन्ध बन्ध, ॐ प्रेतभूत-गन्धर्वादयो केचिदुपद्रवास्तेभ्यो रक्ष रक्ष, ॐ उर्ध्वं रक्ष रक्ष अधो रक्ष रक्ष, ओं क्षुरिक बन्ध बन्ध, ॐ ज्वल महाबले, घटि घटि, ॐ मोटि मोटि सटावलिवह्नि वज्रप्राकारे हुँ फट, ह्रीं हूँ श्री फट् ह्रीं हः सर्वग्रहेभ्य सर्वव्याधिभ्यः सर्वदुष्टोपद्र-वेभ्यो ह्रीं अशेषेभ्यो रक्ष रक्ष। (१४२।२।०)

भूत दोष

१. वचा से सिद्धघृत भूतदोष का नाश करने वाला है। इसका कल्क बुद्धि को देने वाला तथा सम्पूर्ण मनोरथ को पूर्ण करने वाला है। इसके साथ-साथ कल्क से सिद्ध क्वाथ द्वारा बनाया हुआ नेत्र अञ्जन भी हितकारी है (२१९।५१-५२)।

महामारी अपसारक उपचार

'काण्डात् काण्डेति०' (यजु० १३।२०)—इत्यादि मन्त्र से दूर्वाकाण्ड की दस हजार आहुतियाँ देकर ग्राम या जनपद में फैली हुई महामारी को शान्त करना चाहिये। इस मन्त्र से रोगपीड़ित मनुष्य, रोग एवं दुःख से मुक्त हो जाता है (२६०।४७)।

महामारी अपसारक मन्त्र

१. 'भेषजमसि०' (यजु० ३।१९) इत्यादि मन्त्र से दधि एवं घृत का हवन किया जाय तो यह पशुओं पर आने वाली महामारी रोगों को दूर कर देता है (२६०।१६)।

मनोदुःखनाशक जप

मानसिक दुःख के विनाश के लिए जो प्रतिदिन "उद्वयं तमसः०" (ऋ० १।५०।१०) 'उदुत्यं जातवेदसः' (१।५०।१) इन ऋचाओं से प्रतिदिन उदित होते हुए सूर्य का उपस्थान करता है तथा उनके उद्देश्य से सात बार जलाञ्जली देता है उसको अभीष्ट प्राप्ति होती है (२५९।१६-१७)।

रुद्रशान्तिकर मन्त्र

कल्पघोर रुद्रशान्ति के अनन्तर सम्पूर्ण मनोरथ, पुत्र प्राप्ति, विष एवं व्याधि के विनाश आदि के लिये रुद्रशान्ति का प्रयोग बताया गया है (३२४।९,१०)।

वशीकरण

मायामन्त्र 'ह्रीं' से अभिमन्त्रित हो रोचना, नागकेसर, कुङ्कुम तथा मैनसिल का तिलक ललाट पर लगाकर मनुष्य जिसकी ओर देखता है वही वश में हो जाता है (३२३।१३)

वशीकरण मन्त्र

१. 'परीमे गामनेषत०' (यजु० ३५।१८) इस मन्त्र को उत्तम वशीकर

मन्त्र माना गया है। इस मन्त्र के प्रयोग से हिंसक मनुष्य भी वश में हो जाता है। उक्त मन्त्र से अभिमन्त्रित भक्ष्य, ताम्बूल, पुष्प आदि किसी को दे दिया जाय तो वह शीघ्र ही देने वाले के वशीभूत हो जायेगा (२६०।७६-७७)।

२. 'गणानां त्वा गणपति०' (यजु० २३।१९) इस मन्त्र से चौराहे पर सप्तधान्य का हवन करके होता सम्पूर्ण जगत् को वशीभूत कर लेता है (२६०। ७९-८०)।

वशीकरण

"ओं उत्तिष्ठ चामुण्डे जम्भय २ मोहय २ अमुकं वशमानय २ स्वाहा।"

यह २६ अक्षरों वाली सिद्ध विद्या है। नदी के तीर की मृत्तिका से लक्ष्मी की मूर्ति बनाकर धतूरे के रस एवं मदार के पत्ते पर उस अभीष्ट स्त्री का नाम लिखना चाहिये। इसके पश्चात मूत्रोत्सर्ग करने के पश्चात् शुद्ध हो उस मन्त्र का जप करे। यह मन्त्र अभीष्ट स्त्री को अवश्य वश में कर सकता है (३२३। १५-१६)।

सर्वसत्ववशीकर हवन-उपचार

प्रियंगु एवं पाटली पुष्प द्वारा हवन करने से सभी प्राणी वशीभूत किये जा सकते हैं (८१। ५१)।

काय चिकित्सा

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा

जाठराग्नि उद्दीपक जप

'हविष्यान्तमजरं स्वर्विदि०' (ऋ० १०।८८।१) इस मन्त्र का जप करने से मनुष्य रोग मुक्त हो जाता है तथा उसकी जाठराग्नि प्रबल हो जाती है (२५९। ८३)।

ज्वरान्तक हवन-उपचार

आम्र के पत्र का हवन ज्वरनाशक माना गया है (८१।५१)।

विविध रोग नाशक उपचार

विष्णु, अच्युत, अनन्त एवं गोविन्द नाम के उच्चारण रूप औषध से नेत्र, शिर एवं उदरगत रोग, अन्तःश्वास, अतिश्वास, परिताप, कम्पन, गुद, नासिका एवं पादरोग, कुष्ठ, क्षय, कामला, प्रमेह, अतिदारुण प्रमेह, भगन्दर, अतिसार,

मुखरोग, गुल्म (वल्गुली), अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, वातज-पित्तज-श्लेष्मज-सान्निपातिक एवं आगन्तुक रोग विस्फोट तथा लूता विष जन्य विकार शान्त होते हैं (३१।२०-२६)।

व्याधिविनाशक हवन-उपचार

दूर्वा का हवन व्याधि विनाशक माना गया है (८१।५१)।

सर्वरोगनाशक उपचार

दूर्वा, अक्षत तथा घी की आहुति देने से समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं (३२।१७)।

सर्वरोग शामक दैवव्यपाश्रय चिकित्सा

भगवान् विष्णु का ध्यान एवं पूजन समस्त रोगों को शान्ति के लिये सर्वोत्तम औषध है (२८०।४८)।

सर्वविध ज्वर शामक उपचार

वराह, नृसिंहेश्वर, वामनेश, त्रिविक्रम, हयग्रीवेश, सर्वेश एवं हृषीकेश की आराधना से सर्वदोषयुक्त यज्ञ या पाप के फलस्वरूप संभावित मृत्यु, बन्धन, रोग पीड़ा या भय का शमन होता है।

इसके अतिरिक्त इसके द्वारा ऐकाहिक, द्व्याहिक, तृतीयक, चातुर्थक, सतत, त्रिदोषज, सान्निपातिक एवं आगन्तुक ज्वर शीघ्र शान्त होते हैं (३१।९, १८, १९)।

शालाक्यतन्त्र

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा

नेत्ररोग निवारक मन्त्र

'पुष्कराक्षः'—यह नाम-मन्त्र नेत्र-रोगों का निवारण करने वाला है (२८४।९)।

नेत्र रोगापसारक उपचार

'वाजश्च मे०' (यजु० १८।१५-१९) इत्यादि पाँच मंत्रों से घृत की एक सहस्र आहुतियाँ देने से मनुष्य नेत्ररोग से मुक्त हो जाता है (२६०।६१)।

कौमारभृत्य

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा

गर्भाधानकर उपचार

अथर्ववेदानुसार 'येन चेह दिशं चैव०' यह मन्त्र गर्भ की प्राप्ति कराने वाला है (२६२।१८)।

गर्भमृत्यु निवारक जप

'ब्रह्मणोग्निः संविदानः०' यह ऋचा गर्भमृत्यु का निवारण करने वाली कही गई है (२५९।९१)।

गर्भस्राव निवारक उपचार

जिस नारी का गर्भ स्खलित हो जाता तो उसे पुष्करिणी में स्नान करना चाहिए (२६५।३)।

गर्भस्रावहर उपचार

'अबोध्यग्नि' (साम० १७।४६) इत्यादि मन्त्र से विधिवत् घृत का हवन करना चाहिये। फिर शेष घृत से मेखलाबन्ध का सेचन करना चाहिये। यह मेखलाबन्ध ऐसी स्त्रियों को धारण करना चाहिये जिनका गर्भ गिर जाता हो। तदनन्तर बालक के उत्पन्न होने पर उसे पूर्वोक्त मन्त्र से अभिमन्त्रित मणि पहनानी चाहिये (२६१।५-७)।

गर्भवेदना शामक जप

'विजिगीषुर्वनस्पते' (ऋ०५।७८।५) के जप से शत्रु रोगाग्रस्त हो जाता है। इसका जप करने से गर्भवेदना से मूर्च्छित स्त्री को गर्भ के संकट से छुटकारा मिल जाता है (२५९।५२)।

रजः प्रवृत्तिकर उपचार

रजोदर्शन की कामना करने वाली स्त्री को पुष्पों से सुशोभित उद्यान में स्नान करना चाहिए (२६५।४)।

शिशुबाधानिवारण विधि

जहाँ असमय गर्भपात हो या जहाँ बालक जन्म लेने पर मर जाता हो तथा जिस घर में विकृत अङ्ग वाले शिशु उत्पन्न होते हों। जहाँ समय पूर्ण होने से

पहले ही बालक की मृत्यु हो जाती हो वहाँ इन सब दोषों के लिए १० सहस्र आहुतियाँ देनी चाहिये (३२१।१३,१४)।

सुखप्रसवकर योग

(१) त्रिदश (काला धतूरा), अक्षि (पुत्रजीवक), शिव (घृत कुमारी) और सर्प (मयूर शिखा) से उपलक्षित ओषधियों के लेप करने से स्त्री सुखपूर्वक प्रसव कर सकती है (१४०।१५)।

(२) आटरूष, कलाङ्गली, काकमाची शिफा—इन सबको पीस कर नाभि के नीचे लेपन किया जाये तो वह स्त्री सुखपूर्वक प्रसव कर सकती है (२३०।२२)।

स्तन्य-दोष

सिंही, शटी, हरिद्राद्वय (निशायुग्म) एवं वत्सक का क्वाथ स्तन्य-दोष में प्रशस्त माना गया है (२८१।१)।

रसायनपरक

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा

अपमृत्यु निवारक उपचार

अथर्ववेदानुसार 'मुञ्चामि त्वा०' (३।११।१) यह मन्त्र अपमृत्यु का निवारक है (२६२।२०)।

आरोग्यप्रद मन्त्र जप

आरोग्य की कामना करने वाले रोगी को 'पुरीष्यासो ग्रयः०' (ऋ० ३।२२, ४)—इस ऋचा का जप करना चाहिए (२५९।१८)।

आरोग्य जर जप

आरोग्यलाभ के लिए 'वाचं महो०' इस ऋचा का जप करना चाहिये (२५९।६८)।

आरोग्यदायक मन्त्र

ओंकार आदि मन्त्र आरोग्य प्रदान करने वाले कहे गये हैं (१८४।१)

आरोग्य एवं दीर्घायुष्कर उपचार

आरोग्य, लक्ष्मी एवं दीर्घ जीवन प्राप्त करने के लिए मनुष्य को 'शं नो

देवी:०' (यजु० ३६।१२) इस मन्त्र से पलाश के फलों की आहुति देनी चाहिए (२६०।४२)।

आयुष्कर उपचार

'घृतवती भुवनानामभि'० (यजु०३४।४५) इस मन्त्र से किया गया घृत का होम आयु को बढ़ाने वाला है (२६०।३१)।

आयुष्कर मन्त्र

ओंकार आदि मन्त्र आयुवर्द्धक हैं (२८४।१)।

दीर्घायुष्कर योग

दीर्घ आयु के लिये 'आ नो भद्रा०' (ऋ० १।८९।२) इस ऋचा का जप करना चाहिये (२५९।२२)।

दीर्घायुष्कर जप

(१) दीर्घआयु के लिए 'ये के च मा०' (ऋग० ६।५२।१५) इस ऋचा का जप करना चाहिये (२५९।५९)।

(२) दीर्घकाल तक जीवित रहने की इच्छा वाले पुरुष को स्नान करके 'तच्चक्षुर्देवहितम्' (ऋ० ७।६६।१६)—इस ऋचा से उदयकालिक एवं मध्याह्नकालिक सूर्य का उपस्थान करना चाहिये (२५९।६४-६५)।

दीर्घ आयुष्कर उपचार

'युञ्जते मनः०' (यजु० ५।१४) इस अनुवाक का जप करने से दीर्घ आयु की प्राप्ति होती है (३६०।१९)।

२. 'अध्यवोचदधिवक्ता०' (यजु० १६।५) इत्यादि मन्त्र से आहुति देने पर व्याधिग्रस्त मनुष्य की रक्षा होती है। इस मन्त्र से किया गया हवन दीर्घ आयु एवं पुष्टि का आपादक है (२६०।५२)।

३. नित्य प्रातः एवं सायंकाल आलस्यरहित होकर 'असौ यस्ताम्रः' (यजु० १६।६) इसका पाठ करते हुए सूर्य का उपस्थान करने से अक्षय अन्न एवं दीर्घ आयु की प्राप्ति होती है (२६०।५४-५५)।

महामृत्युंजय मन्त्र

'ओं क्षंसुः वषट्' यह महामृत्युंजय मन्त्र है जो जप तथा होम के माध्यम से पुष्टिकारक है (३२३।१७)।

मृत्युञ्जय हवन-उपचार

तिल के द्वारा हवन करने एवं मृत्युञ्जय जप से मृत्यु पर विजय पायी जा सकती है (८१।५२)।

मृत्युभयमोक्षक एवं दीर्घायुष्कर जप

१. 'प्र देवत्रा ब्रह्मणे०' (ऋ० १०।३।१) इस ऋचा का मरुप्रदेश में मनुष्य प्राणान्तक भय से उपस्थित होने पर नियमपूर्वक जप करे। इससे मनुष्य शीघ्र भययुक्त होकर दीर्घ आयु प्राप्त करता है (२५९।७७-७८)।

२. यदि किसी सुहृद् की आयु क्षीण हुई प्रतीत हो तो स्नान करके 'यत्ते यमं०' (ऋ० १०।५८।१) इस मन्त्र का जप करते हुए मस्तक का स्पर्श करना चाहिये। पाँच दिनों तक हजार बार ऐसा करने से वह दीर्घ आयु प्राप्त करता है (२५९।८०-८१)।

मृत्यभय मोक्षक जप

'स्वादिष्टया०' (ऋ० ९।१-६७) इत्यादि सरसठ सूक्त समस्त पापों के नाशक, सबको पवित्र करने वाले तथा कल्याणकारी कहे गये हैं। छः सौ दस पावमानी ऋचायें हैं जिनको जप और हवन करने से मनुष्य भयंकर मृत्युभय को जीत लेता है (२५९।७५-७६)।

मृत्युशामक बीजमन्त्र

'ॐ हूँ हँ सः' इस मन्त्र से मृत्युरोग शान्त हो जाता है (३२३।१)।

मृत्युनाशक उपचार

'यस्तवां मृत्युः०' इत्यादि आथर्वण मन्त्र का जप मृत्यु का नाशक है (२६२।९)।

व्याधि निवारक मन्त्रोपचार

१. 'सोम राजानम्०' (साम० ९१) मन्त्र के जप से रोगी समस्त व्याधियों से छुटकारा पा जाता है (२६१।७)।

२. 'त्वमिमा ओषधि' (साम ६०४) इस मन्त्र का जप करने से मनुष्य कभी व्याधिग्रस्त नहीं होता (२६१।१०)।

व्याधि निवारक जप

पवित्र होकर 'शं नो भव०' (ऋ० ८।४८।४-५) इन दो ऋचाओं का जप-

पूर्वक भोजन करके हृदय का हाथ से स्पर्श करे इससे मनुष्य कभी व्याधिग्रस्त नहीं होता (२५९।६९-७०)।

रोगनाशक जप

'या ओषधयः०' इस मन्त्र के जप से रोगों का विनाश होता है (२५९। ८४)।

रोगनाशक मन्त्र

'उत देवाः०' (ऋ० १०।१३७।१) यह रोगनाशक मन्त्र है (२५९।८८)।

मेध्य उपचार

'तुभ्यमेन०' (अथर्व० २।२८।१) इत्यादि मन्त्र को नित्य दस सहस्र बार जप करते हुए उसका दशांश हवन करे एवं 'अग्ने गोभिर्नः०' मन्त्र से होम करे तो उससे उत्तम मेधाशक्ति की वृद्धि होगी (२६२।१४)।

दुर्मृत्युनिवारक उपचार

अथर्ववेदानुसार आयुष्य के उद्देश्य से आहुतियाँ देकर मानव दुर्मृत्यु को दूर कर सकता है (२६२।४)।

रोगभय निवारक उपचार

अथर्ववेदानुसार भैषज्यगण के उद्देश्य से होम करके होता समस्त रोगों को दूर करता है (२६२।२)।

रोगहीन जीवन प्रदाता यज्ञ

तीन दिन का उपवास रखने के पश्चात् 'मा नस्तोके०' (१।११४।८-९) आदि दो ऋचाओं द्वारा गूलर की घृतयुक्त समिधाओं का हवन करना चाहिये। ऐसा करने से मनुष्य मृत्यु के समस्त पाशों का छेदन करके रोगहीन जीवन बिताता है (२५९।३०)।

रोगनाशक उपचार

दूर्वा का हवन करने से व्याधि का नाश होता है। समस्त जीवों को वश में करने के लिये विद्वान पुरुष प्रियंगु और कदली के पुष्पों का हवन करें। आम के पत्ते का होम ज्वर का नाशक है। मृत्युंजय देवता या मन्त्र का उपासक मृत्यु-जीवी होता है (८१।५१-५२)।

रोग शामक उपचार

पञ्चधान्य, तिल और घृत आदि हवन की सामग्री द्वारा गायत्री मन्त्र से हवन करने पर रोग शान्त हो जाता है और शुभ फल की प्राप्ति होती है। ब्राह्मण को दूध देने वाली दो गौ का दान करने से भी रोग का शमन होता है।

श्री सम्पादक एवं आरोग्यकर मन्त्र

'ॐ हूँ विष्णवे नमः' यह मन्त्र उत्तम औषध है। इसके जप से देव, असुर आदि सभी श्रीसम्पन्न तथा निरोग हो जाते हैं (२८४।३)।

वाजीकरण

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा

पुत्रकर योग

पुत्र प्राप्ति के लिये गृहस्थ को 'दधिक्राव्णो०' (यजु० २३।३२) इस मन्त्र का हवन करना चाहिये। इससे निश्चित रूप से पुत्र की प्राप्ति होती है (२६०।३१)।

पुत्र प्राप्तिकर उपचार

अथर्ववेदानुसार 'अत्यम् ते योनिः०' इस मन्त्र के अनुष्ठान से पुत्र लाभ होता है (२६२।१९)।

पुत्र प्राप्तिकर मन्त्रोपचार

पुत्र की प्राप्ति के लिये 'जगत्सूति' का स्मरण करना चाहिये (२८४।१२)।

संतान प्राप्तिकारक जप

१. ऋचा का अग्नि की स्तुति करने पर संतान की अभिलाषा रखने वाले व्यक्ति को वरुण देवता सम्बन्धी 'अग्ने त्वम्' (ऋ० ५।२४।१) इन तीन ऋचाओं का नित्य जप करना चाहिये (२५९।५०)।

२. संतान की अभिलाषा रखने वाले पुरुष को पवित्र व्रत ग्रहण करके कर्दमेन० (श्रीसूक्त ११) इस मन्त्र से स्नान करना चाहिये (२५९।५४)।

संतान कामनापूरक जप

संतान की कामना करने वाले मनुष्य को 'संकाश्य सूक्त' का जप हितकर बताया गया है (२५९।८५)।

औषधियों एवं मन्त्रों द्वारा वशीकरण

वशीकरण

१. वशीकरण और आकर्षण की सिद्धि के लिए वन्धूक और पलाश के फूलों का हवन करना चाहिये (८१।४९)।

२. प्रियङ्गु, कुङ्कुम, कुष्ठ, मोहिनी, तगर एवं घृत—इन सबको मिलाकर लगाया हुआ तिलक वशीकारक है (१२३।२८-२९)।

वशीकरण योग

२. निम्नांकित औषधियों को सोलह कोष्ठ वाले चक्र में अंकित करना चाहिये—भृङ्गराज, सहदेवी, मयूरशिखा, पुत्रजीवक वृक्ष की छाल, रुदन्तिका, कुमारी, रुद्रजटा, विष्णुक्रान्ता, श्वेतार्क, लज्जालुका, मोहलता, काला धतूरा, गोरक्षककर्कटी, मेषश्रङ्गी तथा स्नुही। औषधियों के ये प्रदक्षिण—क्रम से ऋत्विज् १६, वह्नि ३, नाग ८, पक्ष २, मुनि ७, मनु १४, शिव ११, वसु-देवता ८, दिशा १०, शर ५, वेद ४, ग्रह ९, ऋतु ६, सूर्य १२, चन्द्रमा १ तथा तिथि १५—इन सांकेतिक नामों और संख्याओं से गृहीत होते हैं। प्रथम चार औषधियों का—भृङ्गराज, सहदेवी, मयूरशिखा एवं पुत्रजीवक—इनका चूर्ण बनाकर इनसे धूप का काम लेना चाहिये। दूसरे चतुष्क की औषधियों को पानी के साथ पीसकर उत्तम उबटन तैयार करके उसे अङ्गों में लगाना चाहिये। तीसरे चतुष्क की चारों औषधियों का अञ्जन तैयार करके नेत्रों में लगाना चाहिये और चौथे चतुष्क की चारों ओषधियों से मिश्रित जल के द्वारा स्नान करना चाहिए।

अधः पुष्पा को दक्षिण पार्श्व में धारण करना चाहिए तथा लाजवन्ती आदि को वामपार्श्व में, मयूरशिखा का पैर में तथा घृतकुमारी को मस्तक पर धारण करना चाहिए। रुद्रजटा, गोरख ककड़ी और मेढ़ाश्रृङ्गी—इनके द्वारा सभी कार्यों में धूप का कार्य लेना चाहिये। इन्हें पीसकर उबटन बनाकर जो अपने शरीर में लगाता है, वह देवताओं के द्वारा भी सम्मानित होता है। भृङ्गराज आदि चारों ओषधियाँ, जो धूप के उपयोग में आती है, ग्रहादिजनित बाधा दूरीकरणार्थ उद्वनि के रूप में प्रयोज्य हैं (१४०।१-९)।

वशीकरण गुटिका

ग्रह (मोहलता), अब्धि (अधः पुष्पा), सूर्य (गोरक्ष कर्कटी) और

त्रिदश (काला धतूरा)—इनके द्वारा बताई गई गुटिका सबको वश में करने वाली मानी गयी है (१४०।१७)।

वशीकरण

१. सहदेवी, महालक्ष्मी, पुत्रजीवी एवं कृतञ्जलि—इन सबका चूर्ण बनाकर सिर पर डाला जाय तो इहलोक के लिये उत्तम वशीकरण योग है (२०३।११,१२)।

२. वशीकरण के लिये योनि में शर्करा मिश्रित कदम्ब रस का लेप करना चाहिये (३०२।११)।

कन्या-वशीकरण मन्त्र

१. दस अङ्गुल लंबी लोहे की सुई को 'विश्वकर्मन्हविषा' (यजु० १७।२२) इस मन्त्र से अभिमन्त्रित करके जिस कन्या के द्वार पर गाड़ दिया जाये, वह कन्या और किसी की नहीं हो सकती है (२६०।२१-२२)।

दम्पतीवशीकरण योग

१. हिम, कपित्थ का रस, मागधी, मधुक एवं मधु—इनका लेप दम्पति के लिये कल्याणकारी है (३०२।१०)।

पति-वशीकरण

१. कटीरमूल, त्रिकटु एवं क्षौद्र का लेप योनि पर करके भी स्त्री अपने पति को आमरण वश में कर सकती है (३०२।१)।

२. स्त्री को चाहिये कि वशीकरण के प्रयोगकाल में त्रिफला के पानी से योनि को धोवे। अश्वगन्धा, यवक्षार, हल्दी और कपूर आदि योनि प्रक्षालनार्थ प्रयुक्त हो सकते हैं। पिप्पली, काली मरिच एवं वृहती के रस का लेप करने से उस स्त्री का पति उसके वश में रहता है (३०२।८,९)।

स्त्री वशीकरण उपचार

१. 'परि प्रिया हिवः कविः' (साम० ४७६) जिस स्त्री को प्राप्त करने की इच्छा हो उसे यह मन्त्र सुनाना चाहिये, ऐसा करने से यह स्त्री उसे चाहने लगेगी। इस मन्त्र का प्रयोग करते समय अन्य विचार नहीं करना चाहिये (२६१।१३-१४)।

स्त्री वशीकरण योग

१. सूर्य (गोरख ककड़ी) ऋतु, (काला धतूरा), पक्ष, पुत्रजीवक और शैल (अधः पुष्प)—इन ओषधियों का अपने शरीर में लेप करने से स्त्री वश में हो जाती है। चन्द्रमा (मेढ़ासिंगी), इन्द्र (रुद्रदन्तिका), नाग (मोरशिखा), रुद्र (घट कुमारी)—इन औषधियों का योनि में लेप करने से स्त्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं (१४०।११)।

सर्वजनवशीकरण योग

१. ऋत्विक् (भृङ्गराज), वेद (लज्जालु), ऋतु (काला धतूरा) तथा नेत्र (पुत्रजीवक)—इन औषधियों से तैयार किये हुए चन्दन का तिलक सब लोगों को मोहित करने वाला है (१४०।१०)।

२. तिथि (सेहुड़), दिक् (अपराजिता), युग (लाजवन्ती) और बाण (श्वेतार्क)—इन औषधियों द्वारा बनायी हुई गुटिका लोगों को वश में करने वाली है। जिस किसी को वश में करना हो उसके लिये भक्ष्य, भोज्य और पेय पदार्थ में इसकी एक गोली मिला देनी चाहिये (१४०।१२)।

३. त्रिदश (काला धतूरा), अक्षि (पुत्रजीवक) तथा दिशा (विष्णु-क्रान्ता) और नेत्र (सहदेवी) इन दवाओं का शरीर में लेप करके मनुष्य सर्पों के साथ क्रीडा कर सकता है (१४०।१३)।

●

दशम अध्याय

चिकित्सा (काय, शल्य एवं शालाक्यतन्त्रगत) विषयक सामग्री

काय चिकित्सा

अ० पु० में अपरा विद्या के अन्तर्गत वैद्यक शास्त्र[1] (आयुर्वेद) की गणना की गई है। अष्टांग आयुर्वेद में काय चिकित्सा की गणना चरक[2] में सर्वोपरि है। चरक ने काय-चिकित्सा की कोई परिभाषा नहीं दी है। सुश्रुत ने काय चिकित्सा पद की विस्तृत व्याख्या की है।[3] अष्टांगसंग्रह[4] एवं अष्टांगहृदय[5] में काय पद ही प्रयुक्त हुआ है।

सुश्रुत के अनुसार जिस अंग में सर्वशरीरगत रोगों यथा-ज्वर, रक्तपित्त, शोथ, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, अतिसार आदि की शान्ति का वर्णन हो वह कायचिकित्सा है।[6] यद्यपि काय शब्द का सामान्य अर्थ शरीर या देह होता है किन्तु आयुर्वेदज्ञों द्वारा प्रयुक्त काय शब्द चरक के टीकाकारों[7] के अनुसार 'अन्तरग्नि' का बोधक है। भोजन से रस आदि निर्माण करने वाले पाचक रस एवं जाठराग्नि सहित भूत एवं धातुओं की अग्नियाँ इसमें सम्मिलित हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार यह Internal Medicine है।

अ० पु० ने व्याधि पद की भी परिभाषा कहीं नहीं दी है जिसके संयोग से

१—अ० पु०, १।१७.

२—चरक, सूत्र ३०।२६.

३—सुश्रुत, सूत्र १।११.

४—सूत्र, १।१०.

५—सूत्र, १।५.

६—सुश्रुत, सूत्र १।११.

७—(१) कायचिकित्सेति कायस्यान्तरग्नेश्चिकित्सा (गंगाधर)।
(२) कायस्यान्तरग्नेश्चिकित्सा (चक्रपाणि) शिवदास सेन ने काय पद का अर्थ जाठराग्नि किया है।

८—तद् दुखसंयोगा व्याधय उच्यन्ते। सुश्रुत सूत्र १।३१.

प्राणी को दुःख हो वह व्याधि है—ऐसा सुश्रुत का कथन है।[१] चरक ने धातु (वात, पित्त एवं श्लेष्मा) के वैषम्य को विकार या व्याधि कहा है।[२] निदान का भी निर्देश अ० पु० में नहीं हुआ है। सुश्रुत के समान ही अग्निपुराण ने व्याधियों के शारीर, मानस, आगन्तुक एवं सहज (स्वाभाविक) ये चार भेद सोदाहरण दिये हैं उनके अनुसार ज्वर, कुष्ठ आदि शारीर के अन्तर्गत, क्रोध आदि मानस के अन्तर्गत, आघात आदि आगन्तुक के अन्तर्गत एवं मृत्यु, जरा आदि सहज के अन्तर्गत आते हैं।[3] सुश्रुत ने इन चारों के अविस्तार से उदाहरण दिये हैं।[४]

प्रस्तुत प्रकरण में कायचिकित्सा की परिधि में आने वाले लगभग ६० रोगों की चिकित्सा का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। किसी भी रोग का निदान, लक्षण, सम्प्राप्ति या उपद्रव अ० पु० में कथमपि वर्णित नहीं हैं। अ० पु० के विभिन्न स्थलों से तत्तद् रोगों की चिकित्सा को एकत्र कर यहाँ उनका विवरण प्रस्तुत है। कायचिकित्सा के जो भी रोग यहाँ चिकित्सा के दृष्टि से उल्लिखित हैं उन सबका ससन्दर्भ निर्देश परिशिष्ट सं० ८ (क) में कर दिया गया है।

अतिसार

१. श्रीविष्णु को पाँचों मूगों की बलि देने पर अतिसार रोग से मुक्ति प्राप्त हो जाती है (२६७।१४)।

२. इसमें पुराण शालि का चावल पथ्य है (३७९।१०)।

३. वासा (सिंही), शटी, हरिद्राद्वय (निशायुग), वत्सक इनके क्वाथ का सेवन करने से बालकों का अतिसार रोग नष्ट होता है (२८३।१)।

१—·······विकारो धातु वैषम्यम् । चरक० सूत्र.

२—इह खलु हेतुर्निमित्तमायतनं कर्त्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं निदानमित्यनर्थान्तरम् । तत् त्रिविधम्असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति । चरक, निदान १।.२

३—अ० पु०, २८०।१-५.

४—तेष्वागन्तवोऽभिघातनिमित्ताः । शारीरास्त्वन्नपानमूला वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ताः । मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्षविषादेर्ष्याभ्यसूया दैन्यमात्सर्यकाक्रोधलोभप्रभृतय इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति । स्वाभाविकास्तुक्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः ॥

सुश्रुत, सूत्र १।३३.

४. विश्वा, अजमोदा, सेंधा नमक, चिम्बा की छाल—इन सबके समान भाग में अभया को तक्र या गरम जल के साथ पीने से अतिसार रोग का नाश होता है (२८३।२८)।

५. बिल्व, आम्र, घातकी, पाठा, शुण्ठी एवं मोचरस सम भाग गुड एवं तक्र के साथ लेने से दुर्जय अतिसार शान्त होता है (२८५।५९, ६०)।

सशूल जीर्ण रक्तातिसार

१. इन्द्रयव (वत्सक), अतिविषा, शुण्ठी, (विश्वा), बिल्व एवं मुस्तक का क्वाथ (शृतशीत) साम, सशूल एवं जीर्ण रक्तातिसार में लाभदायक माना गया है (१२८३।२९)।

शोथयुक्त अतिसार

१. मुस्त, दारुहरिद्रा पाठा, विडंग एवं अतिविषा के क्वाथ में मरिच का चूर्ण मिलाकर सेवन करने से शोथयुक्त अतिसार शान्त होता है (२८५। ६१, ६२)।

शोणितातिसार

१. पियाल, आम्र, शल्लकी, बदरी, जम्बू एवं अर्जुन वृक्षों की क्षार क्षीर के साथ मधु में मिलाकर लेने से शोणितातिसार शान्त होता है (२८५। ५८, ५९)।

अपस्मार

१. शंखपुष्पी, वचा एवं कुष्ठ को ब्राह्मी रस से सिद्ध कर निर्मित गुटिका के प्रयोग से यह अपस्मार की नाशक है (२८५।१९)।

अरुचि

१. चित्रक (अग्नि), विडंग एवं व्योष के कल्क से सिद्ध दुग्ध अरुचि रोग का निवारण करता है (२८३।१७)।

२. कारवी, अजाजी, मरिच, द्राक्षा, वृक्षाम्ल, दाडिम, सौवर्चल, गुड़ एवं क्षौद्र सर्वविध अरुचि रोग के नाशक माने गये हैं (२८५।११)।

३. शृंगवेर का रस मधु के साथ सेवन करने पर अरुचि रोग का नाशक होता है (२८५।१२=चक्र० अरो० ११=वृ० मा० १४।११)।

अर्श (पथ्य)

१. इसमें यवान्न विरचित पदार्थ मांस, शाक, सौवर्चल नमक, कर्चूर, हरीतकी, मण्ड तथा जल मिलाया हुआ तक्र हितकारी है (२७९।३०)।

२. पूतीक, चित्रक (वन्हि), हरिद्रा (रजनी), त्रिफला तथा व्योष का चूर्ण भी लाभकर है।

३. अथवा गुड़ को अभया के साथ खाने से अर्श रोग नष्ट होता है (२८३।१४)।

४. निम्ब, पटोल, व्याघ्री, गुडूची तथा वासक इन सबको दस-दस पल लेकर भली-भाँति कूट कर उसके पश्चात १६ सेर जल में क्वाथ बनाकर उसमें एक सेर घृत तथा त्रिफला चूर्ण का कल्क मिलाकर चतुर्थ भाग शेष रहने तक पकाना चाहिये। इस प्रकार निर्मित यह पञ्चतिक्त घृत २० प्रकार के अर्श रोग का नाशक है (२८५।२१-२४)।

५. त्रिकटु (व्योष) युक्त घृत को तिगुने पलाश भस्म (क्षार) युक्त जल में सिद्ध करके पीने से निसन्देह अर्श रोग नष्ट होता है (२८५।५०, ५१)।

आमवात

१. पिप्पली, पिप्पली मूल, वचा चित्रक, नागर—इनका क्वाथ या इनका किसी प्रकार का पेय बनाकर पीने से आमवात नष्ट होता है (२८५।३९)।

२. दशमूल का क्वाथ नागर के साथ पीना चाहिये। शुण्ठी तथा गोक्षुर का क्वाथ प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करने से आमवात नष्ट होता है (२८५। ४१, ४२)।

आर्त्तिनुत (वेदनाशामक)

१. शरीष पुष्प के स्वरस में भावित श्वेत मरिच का चूर्ण सर्वविध आर्त्ति-नुत् है।

२. मसूर भी सभी प्रकार की वेदनाओं का शामक है (२८३।१५, १६)।

उदर

वचा, विडंग, अभया, शुण्ठी, हिंगु कुष्ठ (चित्रक) अग्नि तथा दीप्यक—इनके क्रमशः दो, तीन, छः, चार, एक, सात, पाँच तथा चार भाग ग्रहण करके बनाया गया चूर्ण उदर रोग का नाशक है (२८५।५४, ५५)।

उदर वृद्धि

१. उदर वृद्धि में त्रिवृत् का प्रयोग विहित है (२८५।४९)।

उदर रोग (पथ्य)

१. उदर रोग में क्षीर के साथ बाटी खानी चाहिए। घृत से साधित वास्तूक-शाक, गो घृत एवं शालि अन्न तथा तिक्त द्रव्य जठर रोगियों के लिये हितकर हैं। (२७९।१२)।

उन्माद

१, हिंगु, सौवर्चल तथा व्योष—ये सभी दो-दो पल लेकर चार सेर घृत एवं घृत से चौगुने गोमूत्र में लेकर सिद्ध करे और तदनन्तर उसका प्रयोग करे तो यह उन्माद का नाशक है (२८५।१८)।

२. शंखपुष्पी, वच तथा कुष्ठ को ब्राह्मी रस से सिद्ध कर निर्मित गुटिका जीर्ण-उन्माद रोग की नाशक है (२८५।१९)।

उरःक्षत

१. उरःक्षत रोगी को मधु और दुग्ध के साथ लाक्षा का चूर्ण लेना चाहिये (२७९।२८५)।

२. गिरिमृत्तिका, चन्दन, लाक्षा तथा मालती कालिका को पीस कर बनाई गई वर्त्ति उरःक्षत रोग की नाशक है (.२७ ।४५)।

ऊरुस्तम्भ

१. यदि ऊरुस्तम्भ रोग हो जाये तो उसका विनाश-यवान्न विकृति, पूप, शुष्क मूलक-शाक, पटोल तथा वेत्राग्र से होता है (२७९।३५)।

कटि शूल

१. शुण्ठी तथा गोक्षुर का क्वाथ प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करने से कटि-शूल शान्त होता है (२८६।४१, ४२)।

कफ रोग

१. मधु सहित त्रिफला तैल का प्रयोग तथा व्यायाम आदि को कफ का शामक माना गया है (२८०।४८)।

२. शृंगवेर का रस मधु के साथ लेने से यह कफ का नाशक है (२८५। १२)।

३. तैल और लवण के साथ मूत्र में सिद्ध की हुई हरीतकी का प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन कफ रोग का नाशक है (२८५।३७)।

४. त्रिफला, व्योष एवं सिन्धु के द्वारा सिद्ध किया हुआ घृत कफ का नाशक है (२८५।७२, ७३)।

कफ वृद्धि

१. त्रिकटु एवं त्रिफला का क्वाथ क्षार एवं लवण के साथ सेवन करने से कफ वृद्धि का नाशक है (२८५।३८)।

कफ (युक्त) रक्त (निष्ठीवन)

१. गुडूची, वासक, लोध्र, पिप्ली और क्षौद्र का सेवन कफयुक्त रक्त निष्ठीवन में लाभप्रद है (२८५।१४)।

कास

१. कुलत्थ, मुद्ग, रास्ना, शुष्क मूलक, जंगली पशुपक्षियों के मांस रस से निर्मित पूपों अथवा (मुर्ग) आदि विष्किर प्राणियों के मांस रस से सिद्ध, दधि एवं दाडिम से साधित, मातलुंगरस, मधु, द्राक्षा, एवं व्योष से संस्कृत यव, गोधूम एवं शालि अन्न का सेवन इस कास रोग में हितकर है (२७९। २१-२२)।

२. शुष्कमूल, कुलत्थ-मूल, जांगल रस प्राणियों के रस से सिद्ध यव, गोधूम, शालि एवं उशीर का सेवन कास में लाभदायक माना गया है (२७९।२३)।

३. शृंगी, कृष्ण एवं अतिविषा का चूर्ण मधु के साथ लेहन करने से कास रोग शान्त होता है (२८१।२)।

४. बिल्व, अग्निमंथ, श्योनाक, काश्मरी, पाटला, स्थिरा, त्रिकण्टक पृश्नि-पर्णी एवं बृहती एवं कण्टकारिका—ये औषधियाँ कास की नाशक कही गई है (२८५।३)।

५. देवदारु, बला, वासा, त्रिफला, व्योष, पद्मकाष्ठ, वायविडंग और सिता इन सबका समान भाग चूर्ण पाँच प्रकार के कास-रोगों का शामक है (२८५।७)।

६. दशमूल, शटी, रास्ना, पिप्पली, बिल्व, पौष्कर, शृंगी (कर्कट सिंगी) तामलकी, भार्गी, गुडूची एवं नागवल्ली से सिद्ध क्वाथ या यवागू कास का नाशक है (२८५।८, ९)।

७. कास से ग्रस्त व्यक्ति को शृंगवेर के रस का मधु के साथ सेवन करना चाहिये (२८५।१२)।

८. गुडूची, वासक, लोध्र, पिप्पली एवं क्षौद्र कास का नाशक है (२८५।१४)।

९. निम्ब, पटोल, व्याघ्री, गुडूची एवं वासक इन सबको दस-दस पल लेकर भली-भाँति कूट कर उसके पश्चात १६ सेर जल में क्वाथ बनाकर उसमें एक घृत तथा त्रिफला चूर्ण का कल्क मिलाकर चतुर्थ भाग शेष रहने तक पकाना चाहिये। इस प्रकार निर्मित यह पञ्चतिक्त २० प्रकार के कास रोगों का नाशक है (२८५।२१-२४)।

१०. वचा, विडंग, अभया, शुण्ठी, हिंगु, अग्नि एवं दीप्यक—इनके क्रमशः दो, तीन, छः, चार, एक, सात, पाँच एवं चार भाग करके बनाया गया चूर्ण कास का नाशक है (२८५।५४, ५५)।

कुष्ठ रोग

१. गोधूम, शालि, मुद्‌ग, ब्रह्मार्क्ष, खदिर, अभया, पञ्चकोल, जांगल-रस, निम्बुधात्री, पटोल मातुलंग-रस, अजाजी, शुष्क मूलक तथा सैन्धव—ये कुष्ठ-रोगियों के लिये हितकारी है।

पीने के लिये खदिर जल लाभप्रद है। पेया बनाने के लिये मसूर एवं मुद्‌ग का प्रयोग करना चाहिये। जीर्ण शालि पथ्य हैं। निम्ब, पर्पट, शाक एवं जांगल-रस—ये सभी हितकारक हैं। विडंग, मरिच, मुस्त, कुष्ठ, लोध्र, सुवर्चिका, मैनसिल तथा वच इन सबको गोमूत्र में पीस कर लेप करने से कुष्ठ रोग नष्ट होता है (२७९।१३-१६)।

२. वाकुची को तिल के साथ एक वर्ष तक खाया जाय तो कुष्ठ रोग नष्ट होता है। पथ्या, भल्लातकी, तैल गुड एवं पिण्ड खजूर—ये कुष्ठ रोग नाशक औषधियाँ हैं (२८३।१३)।

३. अभया के साथ पञ्चगव्य या घृत का सेवन कुष्ठ नाशक माना गया है (२८५।२०)।

४. पटोल, त्रिफला, निम्ब, गुडूची, धावणी, वृष एवं करञ्ज से सिद्ध किया हुआ घृत कुष्ठ का शमन करने वाला माना गया है (२८५।२०, २१)।

५. निम्ब, पटोल, व्याघ्री, गुडूची एवं वासक—इन सबको दस-दस पली लेकर भली-भाँति कूट कर उसके पश्चात् १६ सेर जल में क्वाथ बनाकर उसमें फिर घृत और त्रिफला चूर्ण का कल्क मिलाकर चतुर्थ भाग शेष रहने तक पकाना चाहिये। इस प्रकार निर्मित यह 'पञ्चतिक्त घृत' कुष्ठ रोग का नाशक है (२८५।२१-२३)।

६. निम्ब, पटोल, त्रिफला, गुडूची, खदिर एवं वृष अथवा भूनिम्ब, पाठा, त्रिफला, गुडूची एवं रक्त चन्दन—ये दोनों योग कुष्ठ रोग के नाशक हैं (२८५। २९, ३०)।

७. तिल, भल्लातक-पञ्चांग एवं वाकुची चूर्ण को खदिर के क्वाथ के साथ छः मास तक सेवन करने से कुष्ठ नष्ट होता है (२८६।३, ४)।

कृमि रोग

१. सर्वविध कृमियों के नाश के लिये विडंग चूर्ण तथा गोमूत्र का प्रयोग प्रशस्त माना गया है (२७९।४२)।

२. देवदारु, महाशिग्रु, फलत्रय एवं नागरमोथा (पयोमुक्) इनका क्वाथ अथवा कृष्णा और मृद्वीका का क्वाथ कृमिरोग का नाशक है (२८३।५, ७)।

३. त्रिफला, भृंगराज एवं शुण्ठी के रस में मधु एवं घृत अथवा मेषी दुग्ध अथवा गोमूत्र को मिलाकर शिग्रु को पिलाने से सर्वविध कृमि नष्ट होते हैं (२८३।७)।

४. पिप्पली मूल, वचा (ग्रन्थिक), वचा (उग्रा), अभया, पिप्पली (कणा) एवं विडंग चूर्ण को घृत में मिलाकर रखे। केवल इस चूर्ण के सेवन अथवा तक्र के साथ अथवा एक मास तक सेवन करने से यह योग कृमि रोग नाशक है (२८३।१८)।

५. विडंग का चूर्ण क्षौद्र के साथ चाटने से उदरगत कृमि नष्ट होते हैं (२८५।५७)।

६. विडंग, सैन्धव, क्षार और मूत्र के साथ सेवन की गई हरीतकी भी कृमिनाशक है (२८५।५८)।

गलगण्ड

१. लांगली के कल्क में निर्गुण्डी के रस के साथ सिद्ध किये हुये तैल के नस्य लेने से गलगण्ड रोग शान्त होता है (२८३।११)।

२. विष्वक्सेना, कमल, निर्गुण्डी से सिद्ध लवण को विडंग, चित्रक, सैन्धव, रास्ना दुग्ध, देवदारु एवं वचा के साथ मिलाकर चतुर्गुण तैल में कटु द्रव्य सहित जल मिश्रित कर सिद्ध किये गये तैल के अभ्यंग से गलगण्ड शान्त होता है (२८५।५१-५३)।

गण्डमाला

१. लांगली के कल्क में निर्गुण्डी के रस के साथ सिद्ध किये हुये तैल के नस्य लेने से गण्डमाला नष्ट होती है (२८३।११)।

गुदभ्रंश

१. चाङ्गेरी, कोल, दधि, मुस्ता, शुण्ठी क्षार एवं नागर से युक्त क्वाथ का घृत के साथ सेवन गुदभ्रंश का नाशक है (२८५।६०,६१)।

गुल्मरोग

१. लोध्र की छाल के क्वाथ से सिद्ध किया गया अनभिष्यन्दी अन्न, गुल्म में लाभप्रद है। इस रोग में वायु से रक्षा करनी चाहिए—यह प्रयत्न सर्वथा करणीय हैं (२७९।११)।

२. पिप्पली मूल (ग्रन्थिक), वचा (उग्रा), अभया, पिप्पली (कृष्णा) एवं विडङ्ग चूर्ण को घृत में मिलाकर रखे। केवल इस चूर्ण के सेवन अथव तक्र के साथ एक मास तक सेवन करने से गुल्म रोग नष्ट होता है (२८३।१८)।

३. सौवर्चल, चित्रक (अग्नि), हिङ्गुचूर्ण एवं दीप्य इनके साथ या विडङ्ग एवं चित्रक के साथ तक्र पान करने से गुल्मरोग शान्त होता है (२८३।३८)।

४. वचा, विडङ्ग, अभया, शुण्ठी, हिङ्गु कुष्ठ, चित्रक (अग्नि) एवं दीप्यक—इनके क्रमशः दो, तीन, छः, चार, एक, सात, पाँच एवं चार भाग ग्रहण करके बनाया गया चूर्ण गुल्म का नाशक है (२८५।५४,५५)।

५. पाठा, निकुम्भ, त्रिकटु, त्रिफला एवं अग्नि के चूर्ण की गोमूत्र के साथ बनाई गुटिका गुल्म की नाशक है (२८५।५६)।

ग्रहणी

१. तक्र और चित्रक ये दोनों ग्रहणी रोग के परम नाशक हैं (२७९।२४)।

२. पिप्पलीमूल (ग्रन्थिक), वचा (उग्रा), अभया, पिप्पली (कणा), एवं विडङ्गचूर्ण को घृत में मिलाकर रखें। केवल इस चूर्ण के सेवन अथवा तक्र के साथ एक मास तक सेवन करने से ग्रहणी रोग शान्त होता है (२८३।१८)।

३. दशमूल, शटी, रास्ना, पिप्पली, विल्व, पौष्कर, शृङ्गी, तामलकी, भार्गी, गुड़ची एवं नागवल्ली से सिद्ध क्वाथ या यवागू ग्रहणी रोग का नाशक है (२८५।८, ९.)।

चर्मरोग

१. अर्क, पूतीक, स्नुही, रुग्घात, एवं जातिपत्रों को गोमूत्र के साथ पीसकर उबटन लगाने से सभी प्रकार के चर्म रोग नष्ट होते हैं (२८३।१२)।

छर्दि

१. लाजा, शक्तु, शूल्य मांस, परुषक, वार्त्ताक एवं मयूरशिखा का सेवन छर्दि का नाशक माना गया है (२७९।३३)।

२. शृङ्गी, कृष्णा एवं अतिविषा के चूर्ण को मधु के साथ चाटने से छर्दि नष्ट होती है (२८१।२)।

३. वट, शृङ्गी, शिला, लोध्र, मधुक एवं मधु को तण्डुल के पानी के साथ पीने से छर्दि शान्त होती है (२८५।१३)।

४. पटोलपत्र के चूर्ण के साथ दाडिम के छाल का चूर्ण अथवा त्रिफलाचूर्ण के साथ गजपिप्पली, लौह चूर्ण, मधुयष्टि, आर्कव, उत्पल, मरिच एवं सेन्धानमक से सिद्ध कर बनाये गये तेल का अभ्यंग छर्दि का नाशक माना गया है (२८५।२६-२८)।

जठर-रोग

१. स्नुही क्षीर से अनेक बार भावना दी हुई पिप्पली (कृष्णा) का सेवन उदरविकार की परम औषध है (२८३।१७)।

ज्वरशामक उपचार

१. ज्वरजनित पीड़ा आदि में तथा विघ्न राज एवं ग्रहों के कष्ट से पीड़ित होने पर उस पीड़ा से मुक्ति चाहने वाले पुरुष को देवालय में स्नान करना चाहिये। (२६५।२)।

२. ज्वराक्रान्त व्यक्ति के बल की रक्षा करते हुए उसे लङ्घन कराना चाहिये।

ज्वर-युक्त पुरुष को शुण्ठी सहित लाजमण्ड तृषा एवं ज्वरशान्त्यर्थ देना चाहिये। छः दिन व्यतीत हो जाने पर मुस्त, पर्पट, उशीर, चन्दन, उदीच्य और नागर इससे सिद्ध किया हुआ क्वाथ रोगी को पिलाना चाहिये। रोगी जब दोषो से रहित हो जाय तभी स्नेहन कराना उचित है। रोगी के दोष जब शान्त हो जाये तो विरेचन द्रव्य देकर विरेचन कराना चाहिये। जीर्ण षष्टिक, नोवार, रक्तशाली और प्रमोदक ज्वर में हितकारी माने गये हैं। मुद्ग, मसूर, चणक, मधुकुष्ठक, कुलत्थ, आढकी, कर्कोटक, कटोल्वक, पटोल, निम्ब, पर्पट एवं दाड़िम भी ज्वर में पथ्य हैं। (२७९।३-७)।

३. शृङ्गी, कृष्णा एवं अतिविषा के चूर्ण को मधु के साथ चाटने से ज्वर शान्त होता है। (२८१।२).

४. विल्व आदि पञ्चमूल का क्वाथ वातिक ज्वर में लाभदायक है (२८५।२)।

५. विल्व, अग्निमंथ, श्योनाक, काश्मरी, पाटला स्थिरा, त्रिकण्टक, पृश्नि-पर्णी, बृहती एवं कण्टकारिका का प्रयोग ज्वर नाशक है (२८५।३)।

६. पावन, पिप्पलीमूल; गुडूची, विश्वा, आमलकी, कृष्णा एवं चित्रक (वह्नि)–ये सब प्रकार के ज्वर का अन्तकरने वाले माने गये हैं (२८५।३)।

७. गुडूची, पर्पट, मुस्त, किरात तिक्त एवं शुठी (विश्वभेषज) से निर्मित यह पञ्चभद्र क्वाथ वातिक ज्वर में लाभप्रद है (२८५।५)।

८. गुडूची, पर्पट, मुस्त, किरात, तिक्त एवं शुण्ठी (विश्वमेषज) से निर्मित यह पञ्चभद्र क्वाथ पैत्तिक ज्वर में लाभप्रद है (२८५।५)।

९. त्रिवृत, विशाल, कटुका, त्रिफला एवं आरग्वध के द्वारा क्षार सहित भेदन करने वाला यह क्वाथ सर्वज्वर नाशक हैं (२८५।६)।

१०. गुडूची, वासक, लोध्र पिप्पली एवं क्षौद्र ज्वर का नाशक हैं (२८५।१४)।

११. निम्ब, पटोल, त्रिफला, गुडूची, खदिर एवं वृष अथवा भूनिम्ब, पाठा, त्रिफला गुडूची एवं रक्तचन्दन–ये दोनों योग ज्वर को नष्ट करने वाले होते हैं (२८५।२९, ३०)।

१२. पटोलपत्र, अमृता, भूनिम्ब, वासा, अरिष्ट एवं पर्पट—इनके क्वाथ में खदिर मिला कर सेवन करने से यह योग विस्फोट ज्वरनाशक हैं (२८५।३१)।

१३. दशमूली, छिन्नरुहा, पथ्या, दारु हरिद्रा, पुनर्नवा, शिग्रु तथा विश्वजिता—ये ज्वर में लाभप्रद माने गये है (२८५।३२)।

तृष्णा

शालि चावल का जल, शीत या उष्ण दूध तृष्णा का नाशक माना गया है। मुस्त एवं गुड़ से बनी गुटिका यदि मुख में रखी जाये तो तृष्णानाशक है। (२७९।३४)।

२. वटवृक्ष की शिफा (कट्टुरोह), कमल एवं धान की खील का चूर्ण—इनको शहद में भिगोकर, वस्त्र में पोट्टली बनाकर मुख में रखकर उसके चूसने से तृष्णा शान्त होती है (२८३।३१)।

३. वट, शृङ्गी, शिला, लोध्र मधुक एवं मधु को तण्डुल के पानी के साथ पीने से यह योग तृष्णा का शामक है (२८५।१३ =चक्र० १७।१७=वृ० मा० १७।१७)।

४. गुडूची, वासक, लोध्र, पिप्पली एवं क्षौद्र तृष्णा का शामक माना गया है (२८५।१४).

पाण्डु

१. पिप्पलीमूल (ग्रन्थिक), वचा (उग्रा), अभया, पिप्पली (कृष्णा) एवं विडङ्ग चूर्ण को घृत में मिलाकर रखे। केवल इस चूर्ण के सेवन अथवा तक्र के साथ अथवा एक मास तक सेवन करने से पाण्डुरोग नष्ट होता है (२८३।१८)।

२. फलत्रय, अमृता, वासा, मधु, किराततिक्त तथा भूनिम्ब का क्वाथ मधु के साथ पीने से कामलासहित पाण्डुरोग नष्ट होता है (२८३।१९)।

३. शुण्ठी एवं गोक्षुर के क्वाथ का प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करने से पाण्डु रोग शान्त होता है (२८५।४१,४२)।

पाद रोग

१. माष, आक की छाल, पय, तैल, मधु, सिक्थ एवं सैन्धव लवण इनका योग पाद रोग नाशक है (२८३।३६)।

पादतल रोग (जल कुक्कुट)

शुण्ठी, सौवर्चला, हिङ्गु या शुण्ठी रस के साथ सिद्ध किया घृत अथवा इनका क्वाथ पीने से पादतल रोग का नाशक है (२८३।३६)।

पार्श्वशूल

१. दशमूल, शटी, रास्ना पिप्पली, बिल्व, पौष्कर, शृङ्गी, तामलकी, भार्गी, गुडूची एवं नागवल्ली से सिद्ध यवागू का क्वाथ पार्श्वशूल का नाशक है (२८५।८,९)।

२. विल्व, अग्निमंथ, श्योनाक काश्मरी, पाटला, स्थिरा, त्रिकण्टक, पृश्निपर्णी, वृहती एवं कण्टकारिका—यह पार्श्वार्त्ति में लाभदायक औषध है (२८५।३)।

पित्तमुक् योग

१. तुण्डलीयक का सेवन पित्त का निर्हरण करने वाला होता है (२८५।१०)।

२. वासा, निम्ब, पटोल का त्रिफला के साथ सेवन पित्त का नाशक है (२८५।५७)।

३. घृतमिश्रित दुग्ध से स्नान कराकर विष्णु का पूजन करने से पित्तरोग शान्त होता है (२६७।१३)।

४. निम्ब, पटोल, व्याघ्री, गुडूची एवं वासक इन सबको दस-दस पल लेकर भलीभांति कूट कर उसके पश्चात् १६ सेर जल में क्वाथ बनाकर उसमें एक सेर घृत तथा त्रिफला चूर्ण का कल्क मिला कर चतुर्थ भाग शेष रहने तक पकाना चाहिये। इस प्रकार निर्मित यह पञ्चतिक्त घृत ४० प्रकार के पैत्तिक रोगों का नाशक है (२८५।२१-२४)।

५. घी (आज्य), दुग्ध, मिश्री एवं शीतल चन्द्रकिरणें पित्त रोग-शामक मानी गई हैं (२८०।४७)।

प्रदर रोग

१. मञ्जिष्ठा (समङ्गा), धातकी पुष्प, लोध्र एवं नीलउत्पल का क्षीर के साथ सेवन करने से प्रदर रोग नष्ट होता है (२८५।६७)।

प्रमेह

१. अपूप, कुष्ठ, कुल्माष और यव आदि प्रमेह रोगियों के लिये लाभदायक हैं। यव के अन्न के भोजन, मुद्ग, कुलत्थ एवं जीर्ण शालि, तिक्त, रूक्ष, शाक

और तिक्तहरित शाक हितकर हैं। तिल, शिग्रु, विभीतक एवं इङ्गुदी का तेल भी लाभदायक माना गया है (२७९।१७-१८)।

२. त्रिफला, दार्वी, इन्द्रायण (विशाला) का क्वाथ अथवा आमलकी (धात्री) स्वरस अथवा हरिद्रा कलक का प्रयोग सभी प्रकार के प्रमेहों क्षौद्र मेह या अक्षौद्रमेह—में लाभ कर माना गया है (२८३।१५).

प्लीह-रोग

१. पिप्पली प्लीह-रोग नाशक मानी गई है (२८३।१६)।

२. पाठा, निकुम्भ, त्रिकुट, त्रिफला एवं अग्नि—इनके चूर्ण की गोमूत्र के साथ बनाई गुटिका प्लीहा रोग की नाशक है। (२८५।५६)।

मदात्यय रोग

१. इस रोग में तक्र, पिप्पली, एला, सैन्धव, मुक्ता, शिशिर जल से स्नान, सौवर्चल युक्त जीरा तथा मद्य हितकर है। (२७९।२७,२८)।

२. शुण्ठी (महौषध), अमृता, कण्टकारी, पुष्करमूल, पिप्पली मूल एवं पिप्पली का क्वाथ मदात्यय का नाशक है (२८५।१७)।

मूत्रकृच्छ्र

१. इस रोग में मुक्ता एवं हरिद्रा के साथ चित्रक का लेप, यवान्न विकृति, शालि, वास्तूक, सुवर्चल नमक, त्रपुष, एर्वारु, दूध, ईख के रस और घी से युक्त गेहूँ—ये खाने में हितकर हैं तथा पीने के लिये मण्ड और सुरा आदि देनी चाहिये। (२७९।३१,३२)।

२. पथ्या, गोक्षुर, दुस्पर्शा, राजवृक्ष एवं शर-इनके क्वाथ में शहद मिल.कर पीने से मूत्रकृच्छ्र रोग का विनाशक है (२८३।३४)।

मूर्च्छा

१. महौषध, अमृता, कण्टकारी, पुष्करमूल, पिप्पली मूल एवं पिप्पली का क्वाथ मूर्च्छा शामक माना गया है (२८५।१७)।

राजयक्ष्मा

मुद्ग, यव एवं गोधूम, एक वर्ष तक रखा पुराना धान का चावल तथा जाङ्गल रस—ये भी राजयक्ष्मा के रोगियों के भोजन के लिये प्रशस्त हैं। (२७९।१२)।

रक्तपित्त

१. अधोग रक्तपित्त में वमन और उर्ध्वग में विरेचन कराना विहित है। इस रोग में शुण्ठी से रहित षडङ्ग का पान कराना चाहिये। सक्तु, गोधूम, लाजा, यव, शालि, मसूर, कुष्ठ, चपक एवं मुद्ग इनका भक्षण करना चाहिये। ये उपर्युक्त वस्तुए घृत तथा दुग्ध से साधित होनी चाहिये (२७९।७-१०)।

२. वासा रस को मिश्री और मधु में मिलाकर पीने से या वरी, द्राक्षा, बला एवं शुण्ठी—इनसे सिद्ध किया हुआ दूध पीने से रक्त एवं पित्तरोग का नाश होता है (२८३।२०)।

वातरोग

१. भगवान् श्रीहरि को पञ्चगव्य से स्नान कराने से मनुष्य का वातरोग नष्ट हो जाता है (२६७।१४)।

२. वात रोग से पीड़ित रोगी के लिए जीर्ण यव, गोधूम, शालि, जाङ्गल-रस, मुद्ग, आमलक, खर्जूर, मृद्वीका, वदर, मधु, घृत, इन्द्रायण, निम्ब, पर्पटक, वृष तथा तक्रारिष्ट हितकारी है (२७९।२५, २६)।

३. रास्ना या सहचरी (झिण्टी) से सिद्ध तैल वातरोगियों के लिए परम हितकारी कहा गया है (२७९।५३)।

४. स्निग्ध तथा उष्ण भोजन, अभ्यङ्ग एवं तेलपान करने से वातरोग का निवारण होता हैं (२८०।४७)।

५. वासा मूल एवं व्याधिघात का क्वाथ शुद्ध एरण्ड के तेल में मिलाकर पीने से वातशोणित शान्त होता है (२८३।१६)।

६. निम्ब, पटोल, व्याघ्री, गुडूची एवं वासक इन सबको दस-दस पल लेकर भलीभाँति कूट कर, उसके पश्चात् १६ सेर जल में क्वाथ बनाकर उसमें एक सेर घृत और त्रिफला चूर्ण का कल्क मिलाकर चतुर्थ भाग शेष रहने तक पकाना चाहिए। इस प्रकार यह निर्मित्त 'पञ्चतिक्त घृत' ८० प्रकार के वातरोगों का नाशक है (२८५।२१-२४)।

७. तैल और लवण के साथ गोमूत्र में सिद्ध की हुई हरीतको का प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन वात रोग नाशक है (२८५।३७)।

८. वासा, निम्ब, पटोल एवं त्रिफला का एक साथ सेवन वात-रोग नाशक होता है (२८५।५७)।

वातजन्य

१. गुग्गुलु शीत जल, गुडूची को त्रिफलाजल से एवं बला, पुनर्नवा, एरण्ड, बृहतीद्वय, गोक्षुर, एवं हिङ्गु को लवण के साथ सेवन करने से वातजन्य. रुजा शान्त होती हैं। (२८५।४५,४६)।

अस्थिगत-वात

१. रास्ना, गुडूची, एरण्ड, देवदारु एवं महौषध—ये अस्थिगतवात में हितकारी हैं। (२८५।४०)।

मज्जगत-वात

१. रास्ना, गुडूची, एरण्ड देवदारु एवं महौषध—ये मज्जगत आमवात में लाभदायक हैं (२८५।४०)।

संधिगतवात

१. रास्ना, गुडूची, एरण्ड, देवदारु एवं महौषध संधिगत आमवात में लाभदायक हैं। (२८५।४०)।

सर्वाङ्गवात

१. रास्ना, गुडूची, एरण्ड, देवदारु एवं महौषध सर्वाङ्गवात में लाभदायक हैं। (२८५।४०)।

वातशोणित

१. वातशोणित रोग के नाश के लिए रक्तयष्टि, गोधूम, यव, मुद्ग, लघु आहार, काकमाची वेत्राग्र, वास्तूक एवं सुर्वचल का प्रयोग करना चाहिए (२७९।३८-३९)।

२. शाखा एवं पत्र सहित प्रसारिणी का तैल एवं गुडूची का स्वरस कल्क, चूर्ण अथवा क्वाथ अधिक समय तक सेवन करने से वात शोणित रोग शान्त होता है (२८५।४२, ४३)।

३. पिप्पली वर्धमान या गुड़ के साथ पथ्या का सेवन करने से यह वातशोणित का नाशक है (२८५।४४)।

४. पटोल, त्रिफला, तीव्र कटुक, एवं अमृता—इनका पाक तैयार करके सेवन करने से दाहयुक्त वातशोणित शान्त होता है (२८५।४४, ४५)।

विपाक (अजीर्ण ?)

१. विल्व, अग्निमंथ, श्योनाक, काश्मरी, पाटला, स्थिरा, त्रिकण्टक, पृश्नि-पर्णी, बृहती एवं कण्टकारिका विपाक में लाभप्रद है (२८५।३)।

विबन्ध

१. शुण्ठी, सौर्वचला, हिङ्गु चूर्ण या शुण्ठी रस के साथ सिद्ध किया गया घृत अथवा इनका क्वाथ पीने से विबन्ध दोष एवं तत्सम्बन्धी रोग नष्ट होते हैं (२८३।३७)।

२. त्रिफला, व्योष एवं सैन्धव लवण (सिन्धु) के द्वारा सिद्ध किया हुआ घृत विबन्ध का नाशक हैं (अ० पु० २८५।७२, ७३)।

शूल

१. त्रिफला एवं व्योष को समभाग में लेकर गुग्गुलु के साथ सिद्ध कर प्रयोग करने से यह शूल रोग में लाभप्रद है (२८५।३६)।

२. वचा, विडङ्ग, अभया, शुण्ठी, हिङ्गु, कुष्ठ, चित्रक (अग्नि) एवं दीप्यक—इनके क्रमशः दो, तीन, छः, चार, एक, सात, पाँच एवं चार भाग ग्रहण करके बनाया गया चूर्ण उदर रोग का नाशक है (२८५।५४, ५५)।

विसर्प

१. इस रोग में मुद्‌ग, आढ़क, मसूर, सैन्धव नमक, घृत, द्राक्षा, शुण्ठी, आमलक, बदर (कोल) को तिल सहित जांगलरस से एवं मिश्री, मधु एवं अनार के रस से मिलाकर लेना चाहिए (२७९।३६-३७)।

२. धात्री, पटोल एवं मूँग का क्वाथ घृत के साथ प्रयुक्त होने पर विसर्प शामक है (२८३।३९)।

शोथ

१. जिसे शोथ हो उसे गुड़ के साथ हरीतकी अथवा गुड़ के साथ शुण्ठी का सेवन करना चाहिये (२७९।२४)।

२. शुण्ठी, दारुहरिद्रा, पुनर्नवा, क्षीर, त्रिकटु, त्रिफला एवं क्षार को अयोरज मिलाकर गोमूत्र के साथ दिये जाने पर समस्त प्रकार के शोथ नष्ट होते हैं।

३. गुड, शिग्रु, निशोथ एवं सैन्धव लवण का चूर्ण भी शोथ शामक माना गया हैं (२८३।३९, ४०)।

४. दशमूली, छिन्नरुहा, पथ्या, दारुहरिद्रा, पुनर्नवा, शिग्रु तथा शुण्ठी (विश्वजित) शोथ में लाभप्रद हैं (२८५।३२)।

५. कार्षिक, पिप्पलीमूल, पञ्चलवण, पिप्पली, चित्रक, शुण्ठी, त्रिफला, त्रिवृत्, वचा, दोनों क्षार (यवक्षार, सर्जक्षार), शाद्वला, दन्ती, स्वर्णक्षीरी और विषाणिका को चूर्ण कर इनकी बेर के समान गुटिका बना कर सौवीर के साथ ग्रहण करने से शोथ में लाभ होता है (२८५।४७-४९)।

६. दारुहरिद्रा, पुनर्नवावर्षाभू, एवं नागर इनसे सिद्ध किया हुआ दुग्ध शोथनाशक है (२८५।४९, ५०)।

७. अर्क, पुनर्नवा (वर्षाभू) एवं निम्बक्वाथ से सेक करने पर शोथ शान्त होता है (२८५।५०)।

श्लीपद

१. श्लीपद रोग से ग्रस्त व्यक्ति को शाखोटक की छाल के क्वाथ के साथ मधु और दुग्ध का पान करना चाहिए (२८३।३५)।

श्लेष्म रोग

१. श्रीहरि को द्विस्नेह-द्रव्य से स्नान कराकर अतिशय श्रद्धापूर्वक पूजन करने से कफ सम्बन्धी रोगों से मुक्ति मिल जाती है (२६७।१५)।

२. निम्ब, पटोल, व्याघ्री, गुडूची एवं वासक इन सबको दस-दस पल लेकर भली-भाँति कूट कर उसके पश्चात् १६ सेर जल में क्वाथ बनाकर उसमें एक सेर घृत तथा त्रिफला चूर्ण का कल्क मिलाकर चतुर्थ भाग शेष रहने तक पकाना चाहिये। इस प्रकार निर्मित यह पञ्चतिक्त घृत २० प्रकार के श्लैष्मिक रोगों का नाशक है (२८५।२१-२४)।

श्वास

१. कुलत्थ, मुद्ग, रास्ना, शुष्क मूलक, जांगल पशु-पक्षियों के मांस रस से निर्मित यूषों अथवा (मुर्ग) आदि विष्किर प्राणियों के मांसरस से सिद्ध, दधि एवं दाडिम से साधित, मातुलुंग रस, मधु, द्राक्षा एवं व्योष से संस्कृत यव, गोधूम एवं शालि-अन्न का सेवन श्वास रोग में हितकर है (२८९।२०-२१)।

२. दशमूल, बला, रास्ना और कुलत्थ से बनायी गयी पेया, यूष एवं रस से युक्त क्वाथ श्वास के रोग को शान्त करता है (२७९।२२-२३)।

३. शुष्क मूल, कुलत्थ मूल, जांगलरस, प्राणियों के रस से सिद्ध यव, गोधूम, शालि एवं उशीर का सेवन श्वास रोग में लाभदायक है (२७९।२३)।

४. दशमूल, शटी, रास्ना, पिप्पली, बिल्व, पौष्कर, श्रृंगी, तामलकी, भार्गी, गुडूची एवं नागवल्ली से सिद्ध क्वाथ या यवागू श्वास रोग का नाशक है (२८५।८, ९)।

५. श्रृंगवेर का रस मधु के साथ लेने से श्वासरोग का नाशक है (२८५।१२)।

हिक्का

१. दशमूल, बला, रास्ना और कुलत्थ से बनायी गयी पेया, यूष एवं रस से युक्त क्वाथ हिक्का रोग को शान्त करता है (२७९।२२-२३)।

२. हिक्का रोग से ग्रस्त रोगियों के लिये पिप्पली हितप्रद मानी गई है (२७९।२७)।

३. दशमूल, शती, रास्ना, पिप्पली, विल्व, पोष्कर, श्रृंगी, तामलकी, भार्गी, गुडूची एवं नागवल्ली से सिद्ध क्वाथ या यवागू हिक्का का शामक है (२८५।८, ९)।

४. मधु से युक्त मधुयष्टि (मधुक), शर्करा से युक्त पिप्पली, गुड़ के साथ शुण्ठी तथा तीनों प्रकार के लवण हिक्का के नाशक माने गये हैं (२८५।१०)।

हृदय रोग

१. हृदय रोगी को विरेचन कराया जाना चाहिए (२७९।२७)।

२. दशमूल, शटी, रास्ना, पिप्पली; बिल्व, पौष्कर, श्रृंगी (कर्कट सिंगी) तामलकी, भार्गी, गुडूची एवं नागवल्ली से सिद्ध क्वाथ या यवागू हृदय रोग का शामक है (२८५।८, ९)।

३. त्रिफला, व्योष एवं सिन्धु के द्वारा सिद्ध किया हुआ घृत हृदय रोग का नाशक है (२८५।७२, ७३)।

क्षयरोग

१. मांस रस के आहार और अग्नि संरक्षण से क्षय पर नियन्त्रण पाया जा

सकता है। क्षय रोगी के लिये शालि, नीवार, कलम आदि चावल हितकारी है (२७९।२९)।

२. शतावरी (वरी), विदारीकन्द पथ्या, तीनों बला, वासा एवं गोक्षुर (श्वदंष्ट्रा) के चूर्ण को मधु एवं घृत के साथ क्षयग्रस्त रोगी चाटे (२८३।२१)।

३. शटी, नागकेशर, कुमुद का पकाया हुआ क्वाथ, क्षीरविदारी, पिप्पली एवं वासा के कल्क को दुग्ध के साथ पकाकर सेवन करने से क्षय में लाभ होता है (२८५।५४)।

कायचिकित्सा के कतिपय सैद्धान्तिक योग

दीपन योग

त्रिफला, व्योष एवं सिन्धु के द्वारा सिद्ध किया हुआ घृत अग्निदीपन (२८५।७२, ७३)।

वामक योग

१. मदनफल वामक द्रव्यों में श्रेष्ठ माना गया है (२७९।६३)।

२. वचा और मैनफल का कषाय वामक होता है (२८५।४१)।

३. यष्टीमधु, वचा, कृष्णा के बीज, कुटज के छाल एवं निम्ब का क्वाथ वामक है (२८५।७५)।

रेचक योग

निशोथ (त्रिवृत्) रेचन में श्रेष्ठ है (२७९।६३)।

विरेचक

निशोथ एवं गुड के साथ त्रिफला का क्वाथ विरेचक होता है (२८३।४१)।

विरेचन योग

पथ्या, सैन्धव एवं कृष्णा के चूर्ण को उष्ण जल के साथ लेने से यह नाराच संज्ञक योग विरेचक है।

विरेचन (कफ)

त्रिकटु और त्रिफला का क्वाथ क्षार एवं लवण के साथ सेवन करने से कफ प्रधान व्यक्ति के लिये विरेचन होता है (२८५।३८)।

विरेचन (वात)

त्रिकटु एवं त्रिफला का क्वाथ क्षार एवं लवण के साथ सेवन करने से वात प्रधान व्यक्ति के लिये विरेचन होता है (२८५।२८)।

विरेचन योग

एरण्ड से स्निग्ध यव का जल विरेचन कराने में उपयोगी है (२८५।७५)।

स्तम्भन योग

शीतल जल स्तम्भन में सर्वश्रेष्ठ माना गया है (२७९।६३)।

स्नेहन एवं बस्त्यर्थ योग

एतदर्थ तैल एवं घृत को सर्वश्रेष्ठ माना गया है (२७९।६२)।

स्वेदन योग

अग्नि स्वेदन कराने में सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है (२७९।६३)।

घृत का श्रेष्ठ उपयोग

तैलवत् घृत भी स्नेहपान एवं वस्तिकर्म के लिये श्रेष्ठ माना गया है (२७९।६२)।

इसके अतिरिक्त यह पित्त शामक परम औषध है (२७९।६३)। इसका प्रयोग विरेचन के लिये भी होता है (२७९।६३)।

मधु का श्रेष्ठ उपयोग

कफ (बलास) नाशक औषध के रूप में मधु की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार की गई है (२७९।६३) इसके अतिरिक्त वमन कराने में भी यह परम सहायक मानी गई है (तदेव)।

तैल का श्रेष्ठ उपयोग

तैल स्नेह पान एवं बस्तिकर्म के लिए श्रेष्ठ माना गया है (२७९।६२)। इसके अतिरिक्त यह वातनाशक परम औषध है (२७९।६३)।

नक्षत्रोत्पत्ति के अनुसार रोगस्थिति

जन्म-नक्षत्र या आधान (जन्म से उन्नीसवें) नक्षत्र में रोग उत्पन्न हो जाय तो अधिक क्लेशदायक होता है। कृत्तिका नक्षत्र में रोग उत्पन्न हो तो नौ

दिन तक, रोहिणी में तीन रात तक तथा मृगशिरा में पाँच रात तक रहता है। आर्द्रा में रोग हो तो प्राणनाशक होता है। पुनर्वसु तथा पुष्य नक्षत्रों में रोग हो तो सात रात तक रहता है।[1] आश्लेषा का रोग नौ रात तक रहता है। मघा का रोग अत्यन्त घातक या प्राणनाशक होता है। पूर्वाफाल्गुनी का रोग दो मास तक रहता है। उत्तराफाल्गुनी में उत्पन्न हुआ रोग तीन दिन तक रहता है। हस्त तथा चित्रा का रोग पन्द्रह दिन तक पीड़ा देता है। स्वाति का रोग दो मास तक, विशाखा का बीस दिन, अनुराधा का रोग दस दिन एवं ज्येष्ठा का पन्द्रह दिन रहता है। मूल नक्षत्र का रोग शान्त नहीं होता। पूर्वाषाढ़ा का रोग पाँच दिन, उत्तराषाढ़ा का बीस दिन, श्रवण का दो मास, धनिष्ठा का पन्द्रह दिन और शतभिषा का रोग दस दिन तक रहता है। पूर्वाभाद्रपद का भी रोग शान्त नहीं होता। उत्तराभाद्रपद का सात दिन, रेवती का दस दिन और अश्विनी का रोग एक दिन रात मात्र रहता है, किन्तु भरणी का रोग प्राणनाशक होता है।[2]

रोगी के लिए निषिद्ध राशियाँ

वृष, सिंह एवं कुम्भ—इन तीनों राशियों की स्थिर संज्ञा है। इनमें स्थायी कार्य करना चाहिये। इन लग्नों में बाहर गए व्यक्ति से शीघ्र समागम नहीं होता तथा रोगी को शीघ्र रोग से मुक्ति नहीं प्राप्त होती।[3]

शल्यतन्त्र एवं शालाक्यतन्त्र

अ० पु० ने कायचिकित्सा के समान ही इन दोनों आयुर्वेद के अंगों की कोई परिभाषा नहीं दी है। यद्यपि दोनों अंगों के ३० से अधिक रोगों की चिकित्सा इस पुराण में निहित है।

चरक ने शल्य का पर्याय शल्यापहर्तृक[4] दिया है एवं शेष सभी संहितायें—सुश्रुत,[5] अष्टांगसंग्रह[6] एवं अष्टांगहृदय[7] शल्य पद का ही प्रयोग करती हैं।

१—अ० पु०, १२१।७०, ७१.
२—तदेव, १२१।७२-७८.
३—तदेव, १२७।१६.
४—चरक, सू० ३०।३६
५—सुश्रुत, सूत्र १।९.
६—सूत्र, १।१०.
७—सूत्र, १।५.

सुश्रुत के अनुसार जिस अंग में अनेक प्रकार के तृण, काष्ठ, पाषाण, पांशु, लोह, लोष्ठ, अस्थि, बाल, नख, पूय, आस्राव, दुष्टव्रण, अन्तर्गर्भ, शल्योद्धरणार्थ यन्त्र, शस्त्र, क्षार एवं अग्नि प्रणिधान और व्रण का विनिश्चय किया जाता हो वह शल्यतन्त्र है।[१] शल्य को आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में General Surgery कहा जाता है।

शालाक्यतन्त्र ऊर्ध्वाङ्ग चिकित्सा है। चरक[२] एवं सुश्रुत[3] दोनों ने इसके लिए शालाक्य पद का प्रयोग किया है जबकि अष्टाङ्गसंग्रह[४] तथा अष्टाङ्गहृदय[५] इसके स्थान पर ऊर्ध्वाङ्ग पद का प्रयोग करते हैं। आयुर्वेद के जिस अंग में जत्रु के ऊर्ध्वभाग स्थित वर्ण, नेत्र, मुख, नासिका आदि अंगों में संश्रित व्याधियों के शान्ति का तथा रोग परीक्षणार्थ शलाका प्रणिधान का उल्लेख हो वह शालाक्यतन्त्र है।[६]

इस प्रकरण में क्रमशः शल्य एवं शालाक्य के रोगों की चिकित्सा का उल्लेख किया जा रहा है। इन दोनों अंगों के रोगों के निदान का यहाँ अ० पु० में कोई उल्लेख नहीं है।

(ख) शल्यपरक रोग एवं उनकी चिकित्सा

अश्मरीरोग

१. बांस (वंश) और वरुण की छाल का क्वाथ अश्मरीरोग में लाभप्रद माना गया है (२८३।३५)।

दुष्टव्रण

१. गुग्गुलु, त्रिफला एवं व्योष को सम भाग में लेकर घृत के साथ सिद्ध कर प्रयोग करने से दुष्टव्रण में लाभ होता है (२८५।३६)।

१—शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाण पांशुलोहलोष्टास्थिबालनखपूयास्राव दुष्टव्रणान्तर्गत गर्भशल्योद्धरणार्थं यन्त्र-शस्त्र-क्षाराग्निप्रणिधान व्रण विनिश्चयार्थञ्च। सुश्रुत, सूत्र १।९.

२—चरक, सूत्र ३०।२६.

३—सुश्रुत, सूत्र १।१०.

४—सूत्र १।१०.

५—सूत्र १।५.

६—शालाक्यं नामोर्ध्वजत्रुगतानां रोगाणां श्रवण-नयन-वदन-घ्राणादिसंश्रितानां व्याधीनां प्रणिधानार्थं च। सुश्रुत, सूत्र १।१०.

नाडी

१. गुग्गुलु, त्रिफला एवं व्योष को समान भाग में लेकर घृत के योग से सिद्ध कर प्रयोग करने से नाडीव्रण का नाशक है (२८५।३६)।

भगन्दर

१. त्रिवृत्, जीवन्ती, दन्ती, मञ्जिष्ठा, दोनों प्रकार की हरिद्रा, तार्क्षज तथा निम्बपत्र का लेपन भगन्दर रोग में प्रशस्त माना गया है (२८३।२३)।

२. गुग्गुलु, त्रिफला एवं व्योष को समभाग में लेकर घृत के साथ सिद्ध कर प्रयोग करने से यह भगन्दर रोग में लाभदायक है (२८५।३६)।

विद्रधि

१. पथ्या, शिग्रु, करञ्ज, अर्क, त्वक्सार, मधु और सैन्धव--इनका गोमूत्र के साथ योग करके लेप किया जाय तो विद्रधि के ग्रन्थि के पकाने का उत्तम कार्य करता है (२८३।२२)।

२. दशमूली, छिन्नरुहा, पथ्या, दारुहरिद्रा, पुनर्नवा, शिग्रु तथा शुण्ठी (विश्वजित्) विद्रधि रोग में हितकर हैं (२८५।३२)।

विस्फोट

१. निम्ब, पटोल, त्रिफला, गुडूची, खदिर एवं वृष अथवा भूनिम्ब, पाठा, त्रिफला, गुडूची एवं रक्त चन्दन—ये दोनों योग कुष्ठ रोग के नाशक माने जाते हैं (२८५।२९, ३०)।

२. पटोलपत्र, अमृता, भूनिम्ब, वासा, अरिष्ट, पर्पट—इनके क्वाथ में खदिर मिलाकर सेवन करने से यह विस्फोट नाशक है (२८५।३१)।

व्रण

१. निम्ब, पटोल, व्याघ्री, गुडूची एवं वासक इन सबकी दस-दस पल लेकर भलीभाँति कूटकर उसके पश्चात् १६ सेर जल में क्वाथ बनाकर उसमें एक सेर घृत तथा त्रिफला चूर्ण का कल्क मिलाकर चतुर्थ भाग शेष रहने तक पकाना चाहिये। इस प्रकार निर्मित यह पञ्चतिक्त घृत २० प्रकार के व्रण रोग का नाशक है (२८५।२१-२४)।

२. उपदंश की शान्ति के लिए त्रिफला क्वाथ या भृङ्गराज के रस में व्रणों

का प्रक्षालन करना चाहिये (२८५।२५-२६=वृ० मा० ५०।७=चक्र० द०, उष्ण० ७)।

३. मधूक एवं निम्बपत्र का लेप व्रण शोधक है (२८५।३३)।

४. त्रिफला, खदिर, दार्वी, न्यग्रोध, अतिबला, कुश, निम्ब एवं मूलक के पत्रों का कषाय व्रण शोधन के लिए परम हितकारी हैं (२८५।३३, ३४)।

५. जो अन्न अनभिष्यन्दी न हो, वह व्रण–रोगों में श्रेष्ठ माना गया है (२७९।५३)।

व्रण पाचन योग

१. सक्तुपिण्डी तथा आम्ला को व्रण पाचन के लिए हितकारी माना गया है (२७९।५४)।

व्रण-भेदन योग

१. निम्बपत्र-चूर्ण व्रण के भेदन तथा रोग में श्रेष्ठ हैं। उसी प्रकार सूचो उपचार भी व्रण भेदन में सहायक हैं (२७९।५४-५५)।

व्रणरोपण

१. धातकी, चन्दन, बला, समङ्गा, मधुक, उत्पल एवं दार्वी से सिद्ध घृत का लेपन व्रण रोपण में प्रशस्त है (२८५।३५)।

व्रण शोधन

१. आरग्वध (रुग्घात), हरिद्रा (रजनी) और लाक्षा के चूर्ण को गो-घृत और मधु के साथ वस्त्र की वर्त्ति बनाकर व्रण में इसका प्रयोग करना चाहिये। यह व्रण का शोधन करने वाली और गति का नाश करने वाली होती है।

श्यामा, यष्टि, निशा, लोध्र, पद्मक, उत्पल, चन्दन एवं मरिच—इनके साथ गोदुग्ध में सिद्ध किया हुआ तैल व्रण का रोहण करने वाला होता है।

व्रणपूरक

श्रीफल, कर्पासदल की भस्म, त्रिफला, मरिच, बला एवं हरिद्रा के द्वारा पिण्डीस्वेद और इनसे निर्मित तैल के द्वारा व्रण का पूरण होता है (२८३। २४-२७)।

व्रण (कृमि)

१. करञ्ज, अरिष्ट एवं निर्गुण्डी रस व्रण के कृमियों को नष्ट कर देता है (२८५।३४)।

शर्करा रोग

१. वंशत्वग् और वरुण की छाल का क्वाथ शर्करा रोग में प्रशस्त है (२८३।३५)।

शालाक्य तन्त्रगत

ऊर्ध्वजत्रुजरोग (सर्वविध)

१. भृङ्गराज रस या धात्री रस में सिद्ध तैल का नस्य सर्वविध ऊर्ध्वजत्रुज रोग में लाभकर माना गया है (२७९।४०)।

ओष्ठरोग

१. लशुन, आर्द्रक एवं शिग्रु के रस से कान को भर देने पर अथवा आर्द्रक रस या तैल से भर देने पर यह ओष्ठ रोगों का भी नाशक है (३८३।८)।

दन्तरोग

१. शीतल जल के साथ लिया गया अन्नपान और तिलों का भक्षण दाँतों को मजबूत करता है। यह परम तृप्ति कारक है। तिल के तैल से किया गया गण्डूष दाँतों को अधिक दृढ़ करता है (२७९।४१-४२)।

दिनान्ध्य

१. गोमय रस के साथ नीलकमल के पराग की गुटिका का अञ्जन दिनान्ध्य के लिए परम हितकारी है (२८३।७३-७४)।

नासागत रक्तस्राव

१. दूर्वारस का नस्य नासारक्त को शान्त करने के लिए उत्तम है (२८३।७)।

नेत्रज्योति प्रत्यानयनमन्त्र

१. 'चक्षुष्पा०' (यजु० २।१६) इत्यादि मन्त्र अथवा चाक्षुषी जप से मनुष्य अपनी खोई हुई नेत्रज्योति पुनः प्राप्त कर लेता है (२६०।१४)।

नेत्र एवं शिरोरोगनाशक महामारी विद्या

१. साधक को चाहिये कि वह शव पर का वस्त्र लाकर उसे चौकोर फाड़ ले। उसकी लम्बाई एवं चौड़ाई तीन-तीन हाथ की होनी चाहिये। उसी वस्त्र

पर काले रंग से देवी की आकृति बनानी चाहिये। यह आकृति तीन मुख और चार भुजाओं से युक्त होनी चाहिये। इस मूर्ति के हाथों में धनुष, शूल, कतरनी और खटवाङ्ग धारण किये होनी चाहिये। इस देवी का पहला मुख पूर्व दिशा की ओर हो एवं अपनी काली आभा से प्रकाशित हो रहा हो तथा ऐसा प्रतीत होता हो कि दृष्टि पड़ते ही वह अपने सामने खड़े हुए मनुष्य को खा जायेगी। दूसरा मुख दक्षिण दिशा की ओर होना चाहिये उसकी जिह्वा लाल और देखने में भयानक हो। वह विकराल मुख दाढ़ी के कारण भयानक हो जीभ से दोनों गलफर चाट रहा हो—ऐसा आभास हो दृष्टि पड़ते ही घोड़े आदि को खा जायेगी। देवी का तीसरा मुख पश्चिमाभिमुख हो। उसका रंग श्वेत होना चाहिये—ऐसा प्रतीत होना चाहिये कि दृष्टि पड़ते ही हाथी आदि को भी खा जायेगा। गन्धपुष्प आदि उपचारों तथा घी आदि नैवेद्य द्वारा पूजन करना चाहिये। पूर्वोक्त मन्त्र का स्मरण करने से नेत्र और मस्तक आदि का रोग नष्ट हो जाता है (१३७।१-७)।

कण्ठ रोग

१. कृष्णा, अतिविषा, तिक्त, इन्द्र, दारु, पाठा तथा पयोमुचा इन सबका गोमूत्र में बना क्वाथ मधु के साथ लेने पर कण्ठरोग का नाशक है (२८३।३३)।

कर्णशूल

१. कर्णशूल हो तो बकरे के मूत्र या तैल से कर्ण का पूरण करना उत्तम है। यह कर्ण शूल का नाशक है (२७९।४४)।

२. लशुन, आर्द्रक एवं शिग्रु के रस से कान को भर देने पर अथवा आर्द्रक रस या तैल से भर देने पर कर्णशूल का नाशक है (२८३।८)।

३. सैन्धव लवण को तैल में सिद्ध कर वस्त्र से छानकर कान में किंचित् उष्ण कर डालने से कर्णशूल शान्त होता है (२८५।७०)।

४. लशुन, आर्द्रक, शिग्रु अथवा कदली का स्वरस कर्णशूल शामक है (२८५।७१)।

चक्षुष्य योग

१. त्रिफला, व्योष एवं सैन्धव लवण (सिन्धू) के द्वारा सिद्ध किया हुआ घृत चक्षु-रोग नाशक है (२८५।७२, ७३)।

जिह्वा रोग

१. धान्याम्बु, नारिकेल, गोमूत्र, क्रमुक एवं शुण्ठी (विश्व) का क्वाथ या कवल को मुख में धारण करने से जिह्वा की व्याधि का नाश होता है (२८३।१०)।

तिमिर रोग

१. बला, शतावरी, रास्ना, गुडूची को मैरेयक के साथ पीने या त्रिफला सहित सिद्ध घृत के सेवन से तिमिर रोग नष्ट होता है (२८५।७१, ७२)।

दन्त पीड़ा

१. जातीपत्र, त्रिफला, त्रिकटु, गोमूत्र, हरिद्रा, गोदुग्ध तथा अभया के कल्क से सिद्ध तिल तैल के कवल-धारण करने से दन्त पीड़ा शान्त होती है (२८३।९)।

प्रतिश्याय

१. शृंगवेर का रस मधु के साथ लेने से प्रतिश्याय रोग शान्त होता है (२८५।१२)।

मुखपाक

१. पाठा, दार्वी, चमेली (जाती) का पत्र, द्राक्षा एवं त्रिफला का क्वाथ मधु का कवल-धारण करने से यह मुखपाक का शामक है (२८६।३२)।

रात्र्यन्ध

१. गोमय रस के साथ नीलकमल के पराग की गुटिका का अञ्जन रात्र्यन्ध के लिए परम हितकारी माना गया है (२८५।७३, ७४)।

शिरोवेदना

१. देवदारु, अभ्रक (नभ), कुष्ठ, नलद, विश्वभेषज—इनको काञ्जी में पीसकर तेल सहित लेप करने से शिरोवेदना नष्ट होती है (२८५।६९, ७०)।

शिरोरोग

१. धात्रीफल को घृत में पीसकर शिर पर लेपन करने से शिरोरोग में उत्तम लाभ होता है। इसमें स्निग्ध और उष्ण भोजन हितकारी होता है (२७९।४३)।

शिरोविरेचन योग

१. गुड़ सहित शुण्ठी शिरोविरेचन के लिये हितकारक है (२६१।६१)।

सर्वाक्षिरोग

१. त्रिकटु (व्योष), त्रिफला तथा तूतिया में थोड़ा जल मिलाकर आँख में डालना चाहिये। यह रसाञ्जन सब प्रकार के नेत्र रोगों में लाभकारी माना गया है (२७९।४६-४८)।

एकादश अध्याय

रसायन एवं वाजीकरण की सामग्री

रसायन एवं वाजीकरण

रसायन एवं वाजीकरण का सप्तम एवं अष्टम अंग की अष्टांग आयुर्वेद के अन्तर्गत गणना है। चरक[1] एवं सुश्रुत[2] ने इन्हीं नाम से अभिहित किया है, पर अष्टांगसंग्रह[3] एवं अष्टांगहृदय[4] ने इसे क्रमशः जराचिकित्सा एवं वृष-चिकित्सा कहा है।

चरक ने जरा एवं व्याधिनाशक उपाय को रसायन कहा है।[5] इसके अति-रिक्त जिसके द्वारा रस आदि शरीरस्थ धातु प्रशस्त होकर आप्यायित हों वह रसायन है। सुश्रुत[6] के अनुसार युवावस्था को अधिक समय बनाये रखने का उपाय, आयु, मेधा एवं बलवृद्धि करने के उपाय एवं रोगापहरण सामर्थ्य का जहाँ वर्णन हो वह रसायनतन्त्र है। सुश्रुत के टीकाकार डल्लण ने रसायन पद की विस्तार से व्याख्या की है।[7]

चरक ने वाजीकरण की उत्तम परिभाषा की है। उनके अनुसार जिसके द्वारा पुरुष स्त्रियों में वाजि या अश्व के समान मैथुन में समर्थ होता है वह वाजि-करण है। इसके अतिरिक्त जो सन्तान परम्परा को बढ़ाने वाला एवं शीघ्र ही

१—चरक, सूत्र ३०।२६.

२—सुश्रुत, सूत्र १।१५.

३—सूत्र १।१०.

४—सूत्र १।५.

५—चरक, चि० १.

६—रसायनतन्त्रं नाम वयः स्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थं च। सुश्रुत, सू० १।१५.

७—रसानां रसरक्तादीनामयनमाप्यायनं रसायनम् अथवा रसानां रसवीर्य विपाकादीनामयनमाप्यायनम् अथवा रसानां रसवीर्यविपाकादीनामायुः प्रभृतिकारणानामयनं विशिष्टलाभोपायः रसायनम्।

(सु० सू० १।३ पर)।

सम्प्रहर्षक हो अर्थात् मैथुनार्थ पुरुष का ध्वजोत्थापक हो वह वाजीकरण है इस वाजीकरण के गुणों की अतिविस्तार से चर्चा चरक ने की है।[1] सुश्रुत के अनुसार अल्प, दुष्ट, क्षीणऔर शुष्कवीर्य वाले मनुष्यों के वीर्य की पुष्टि, शोधन, वृद्धि, उत्पत्ति तथा स्वस्थ मनुष्यों में मैथुन के समय हर्ष बढ़ाने के लिए जो वर्णन होता है वह वाजीकरण है।[2] चरक ने स्त्री को स्वतः वाजीकरण माना है। डल्हण ने वाजीकरण पद की विस्तार से व्याख्या की है।[3]

इस प्रकरण में रसायन एवं वाजीकरण से सम्बद्ध रोगों एवं रोगों की चिकित्सा का उल्लेख किया जा रहा है। यहाँ भी अन्य रोगों के समान अ० पु० में किसी के निदान या लक्षण का उल्लेख नहीं है।

(क) रसायनगत रोग एवं उनकी चिकित्सा

अतिदीर्घ आयुष्कर योग

१. त्रिफला, पिप्पली एवं शुण्ठी का शतावरी के साथ सेवन करने से यह योग व्यक्ति को सहस्र वर्ष की आयु प्रदान करता है।

उपर्युक्त औषधियों के अतिरिक्त चित्रक तथा शुण्ठी के साथ विडङ्ग का प्रयोग पूर्ववत् फलप्रद है (२८६।२१)।

आयुष्कर उपचार

१. घृत-स्नान आयु की वृद्धि करता है (२६७।४)।

२. वचा, दो प्रकार की हरिद्रा और मोथा-मिश्रित जल से किया गया स्नान आयु की वृद्धि करने वाला कहा गया है (२६७।७)।

३. दुग्ध, घृत अथवा तेल के साथ वचा का सेवन करना चाहिए एवं यष्टिक

१—येन नारीषु सामर्थ्यं वाजीवल्लभते नरः। अपत्यसन्तानकरं यत् सद्यः सम्प्रहर्षणम्। वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतस्त्रियः। चरक, चि० १।९.

२—वाजीकरणतन्त्रं नामाल्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनं प्रसादोपचयजननिमित्तं प्रहर्षजननार्थञ्च। सुश्रुत, सूत्र १।१६.

३—येनात्यर्थं व्यजते स्त्रीषु तत् वाजीकरणं, अन्ये तु वजनं वाजो वेगः प्रकरणात् शुक्रस्य, स विद्यते येषान्ते वाजिनः, अवाजिनो वाजिनः क्रियन्तेऽनेनेति वाजीकरणम्। (सूत्र १।२ पर).

और शङ्खपुष्पी का दुग्ध के साथ सेवन बालक की आयु में वृद्धि करता है। (२८३।३, ४)।

कवित्व शक्तिकर योग

१. एक मास तक विल्व-तैल का नस्य लेने से कवित्व शक्ति प्राप्त होती है (२८३।३)।

कान्तिवर्द्धक

१. दुग्ध, घृत अथवा तेल के साथ वचा का सेवन करना चाहिये एवं यष्टिक और शङ्खपुष्पी का दुग्ध के साथ सेवन बालक में कान्ति की वृद्धि करता है (२८३।३, ४)।

केश्य योग

१. ताल, निम्बपत्र, जीर्ण तेल, जवा कुसुम एवं घृत केश के लिए हितकारी माने गये हैं (२७९।५६)।

दीर्घ आयुष्कर योग

१. दीर्घ-जिषीविषु व्यक्ति को रात्रि में मधु तथा घृत का सेवन करना चाहिये। शतावरी के रस में सिद्ध क्षीर एवं घृत वृष्य कहे गये हैं। कलम्ब्रिका एवं माष भी वृष्य हैं। मधुक सहित त्रिफला भी आयुवर्द्धक है। मधुक आदि के रस से युक्त त्रिफला बली तथा पलित की नाशक है (२७९।४९-५१)।

२. हरीतकी, चित्रक, शुण्ठी, गुडूची और मुसली का चूर्ण गुड़ के साथ खाने से सभी रोग नष्ट होते हैं तथा उसे ३०० वर्ष की दीर्घ आयु प्राप्त होती है (२८३।४५, ४६)।

३. शर्करा, सिन्धु एवं शुण्ठी के साथ अथवा कृष्णा, मधु एवं गुड़ के साथ प्रतिदिन दो-दो हरीतकी के सेवन से मनुष्य १०० वर्ष तक जीवित रहता है (२८५।६२, ६३)।

४. पिप्पलीयुक्त त्रिफला भी मधु एवं घृत के साथ खायी जाने पर व्यक्ति को शतायु करती है (२८५।६३)।

५ व्यक्ति मधु, घृत एवं अमृता के सेवन से तीन सौ वर्ष तक की आयु प्राप्त करता है (२८६।१)।

६. चार तोले, दो तोले अथवा एक तोले की मात्रा में त्रिफला का सेवन दीर्घ आयु का प्रदाता है (२८६।२)।

७. एक मास तक विल्व-तेल का नस्य लेने से पाँच सौ वर्ष तक की आयु प्राप्त होती है (२८६।३)।

८. नील कुरण्ट के चूर्ण को दुग्ध अथवा मधु के साथ सेवन करने से या खाडयुक्त दुग्ध के सेवन से शतायु प्राप्त होती है (२८६।४)।

९. मधु के साथ उच्चटा का एक तोले की मात्रा में खाकर दुग्ध पान करने वाला मनुष्य मृत्यु पर विजय पाता है (२८६।६)।

१०. छः मास तक प्रतिदिन एक तोला पलाश तेल का मधु के साथ सेवन करके दुग्धपान करने से व्यक्ति पाँच सौ वर्ष तक जीवित रहता है (२८६।७)।

११. वाराहिका, भृङ्गरस, लोहचूर्ण एवं शतावरी को घृत के साथ एक तोला मात्रा में सेवन करने से मनुष्य ५०० वर्ष की आयु प्राप्त करता है (२८६।१२)।

१२. सुवर्ण चूर्ण, कान्त चूर्ण एवं शतावरी को भृङ्गराज रस से भावना देकर मधु एवं घृत के साथ सेवन करने से तीन सौ वर्ष की आयु प्राप्त होती है (२८६।१३)।

१३. शालूक चूर्ण को भृङ्गराज रस की भावना देकर मधु और घृत के साथ सेवन करने पर व्यक्ति को एक सौ वर्ष की आयु प्रदान करता है (२८६।१४)।

१४. अश्वगन्धा एवं त्रिफला तेल, शर्करा एवं घृत के साथ सेवन करने से व्यक्ति शतायु होता है (२८१।१४)।

१५. मधुसहित निम्ब के तेल से नस्य लेने से व्यक्ति शतायु होता है और उसके केश सदा काले रहते हैं।

१६. मधुरादिगण की ओषधियाँ और हरीतकी को गुड़ और घृत के साथ खाकर दुग्ध सहित अन्न भोजन करने वाला व्यक्ति उपर्युक्त गुण को प्राप्त करता है (२८६।१८, १९)।

१७. कटुतुम्बी के एक कर्ष तेल का नस्य २०० वर्ष की आयु प्रदान करता है (२८६।१९)।

१८. त्रिफला, पिप्पली एवं शुण्ठी का सतत प्रयोग ३०० वर्ष की आयु का प्रदाता है (२८६।२०)।

१९. एक मास तक सफेद पेठे के एक पल चूर्ण को मधु, घृत और दूध के

साथ सेवन करने से व्यक्ति सहस्र वर्ष की आयु प्राप्त करता है (२८६।२०)।

२०. त्रिफला, पिप्पली एवं शुण्ठी इनका लौह चूर्ण भृङ्गराज, बला, निम्ब पञ्चांग, खदिर निर्गुण्डी, कण्टकारी, वासा और पुनर्नवा के साथ अथवा इनके रस की भावना देकर या इनके संयोग से बटी या चूर्ण का निर्माण करके उसका घृत, मधु, गुड़, जल आदि अनुपान के साथ सेवन करने से दीर्घआयु की प्राप्ति होती है। यह योगराज मृत्यु संजीवनी के समान है (२८६।२२-२४)।

पलित

१. सक्षीर मार्कव रस को दो प्रस्थ मधुक एवं उत्पल के साथ पकाकर बनाये गये तेल के नस्य लेने से पलित रोग नष्ट होता है (२८५।२८, २९)।

२. माण्डूकी के चूर्ण का दुग्ध के साथ सेवन पलित का नाशक है (२८६।१५)।

पुत्रैषणापूरक उपचार

१. पुत्राभिलाषिणी स्त्री को समुद्र में स्नान करना चाहिये (२६५।४)।

वलीनाशक योग

१. माण्डूकी के चूर्ण का दुग्ध के साथ सेवन वली का नाशक है (२८६।५)।

बुद्धिवर्द्धक योग

१. दुग्ध, घृत अथवा तेल के साथ वचा को सेवन करना चाहिये एवं यष्टिक और शङ्खपुष्पी का दुग्ध के साथ सेवन बालक की बुद्धि में वृद्धि करता है (२८३।३, ४)।

मध्य योग

१. 'इन्द्रमिदगाथिन' (सा० १९८) इत्यादि मन्त्र का जप करके घृत में मिलाया हुआ वचा चूर्ण प्रतिदिन बालक को खिलाने से वह श्रुतिधर हो जाता है (२६१।१५-१६)।

२. वचा, युग्म हरिद्रा एवं मोथा-मिश्रित जल से किया गया स्नान मेधा की वृद्धि करता है (२६७।७)।

३. वच, अग्निशिखा, वासा, शुण्ठि, कृष्ण एवं निशा इन ओषधियों का

यष्टि और सैन्धव के साथ प्रातःकाल सेवन करने से बुद्धिवर्धक हैं (२८३। ४, ५)।

४. शङ्खपुष्पी, वच एवं कुष्ट को ब्राह्मीरस से सिद्ध कर निर्मित गुटिका के सेवन से मेधा की उत्तम वृद्धि होती है (२८५।१९)।

मृत्युजित् योग

१. मधु, घृत एवं शुण्ठी का एक पल प्रातःकाल सेवन करने वाला व्यक्ति मृत्यु पर विजय पा लेता है (२८६।५)।

२. मधु, घृत अथवा दुग्ध के साथ निर्गुण्डो का सेवन करने से मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है (२८६।६)।

३. मधु, घृत अथवा दुग्ध के साथ निर्गुण्डी का सेवन करने से मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है (२८५।९)।

४. रुदन्तिका को मधु और घृत के साथ सेवन करके दुग्ध-पान करने से मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है (२८६।१०)।

रूपसम्पत्ति वर्द्धक योग

१. दुग्ध, घृत अथवा तेल के साथ वचा का सेवन करना चाहिये एवं यष्टिक और शङ्खपुष्पी का दुग्ध के साथ सेवन बालक की रूपसम्पत्ति में वृद्धि करता है (२८३।३, ४)।

रोगनिवारक योग

१. भृङ्गराज के रस में भावित त्रिफला १०० पल, विडङ्ग एवं लोह चूर्ण दस भाग, शतावरी, गुडूची एवं चित्रक प्रत्येक २५-२५ पल सबको एक साथ मिलाकर चूर्ण बना लें इस चूर्ण को मधु, घृत एवं तेल के साथ चाटने से मनुष्य पलित एवं बलि रहित हो जाता हैं तथा वह सर्वरोगविहीन हो शतायु होता हैं।

२. त्रिफला, सिता, मधु और घृत के साथ सेवन करने पर भी उपर्युक्त लाभ होता हैं (२८३।४२-४५)।

३. मधु, घृत, त्रिफला एवं अमृता सामान्यतया रोगनाशक हैं (२८६।१)।

४. चार तोले, दो तोले अथवा एक तोले की मात्रा में त्रिफला का सेवन सभी रोगों को शान्त करने वाला होता है (२८६।२)।

५. मधु, घृत अथवा दुग्ध के साथ निर्गुण्डी का सेवन रोगनाशक माना गया है (२८६।६)।

६ मधु, घृत अथवा दुग्ध के साथ निर्गुण्डी का सेवन रोगों को दूर करने वाला है (२८६।९)।

७. नीम के पञ्चांग चूर्ण को खदिर के क्वाथ से भावित कर एक वर्ग को मात्रा में भृङ्गराज के रस के साथ सेवन करने से रोगों पर नियन्त्रण पाया जा सकता है (२८६।९, १०)।

८. अशोक की छाल का एक पल चूर्ण मधु और घृत के साथ खाकर दुग्ध-पान करने से यह रोग नाशक होता है (२८६।१७)।

रोगजित् योग

१. हरीतकी के एक कर्ष चूर्ण को भृङ्गराज रस की भावना देकर घृत और मधु के साथ सेवन करने से व्यक्ति रोगमुक्त हो तीन सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है (२८६।११)।

सर्वरोगनाशक

१. पथ्या, सैन्धव एवं कृष्णा के चूर्ण को उष्ण जल के साथ लेने से यह नाराच संज्ञक योग सर्व रोग नाशक है (२८५।७७)।

सर्वरोग शामक अमरीकर योग

१. हरीतकी, बिभीतक (अक्ष), आमलक (धात्री), मरिच, पिप्पलीमूल, चित्रक (वह्नि), शुण्ठी, पिप्पली, गुडूची, वच, निम्ब, वासक, शतमूली, सैंधव, निर्गुंडी (सिन्धुवार), कण्टकारी, गोक्षुर, बिल्व, पुनर्नवा, बला, एरण्ड, मुण्डी, रुचक, भृङ्गराज, क्षार, पर्पट, धनिया (धन्याक), खदिर, कृतमाल, हरिद्रा, जीरक, शतपुष्पी, यवानी, विडङ्ग, वचा एवं सर्षप (सिद्धार्थ) ये छत्तीस संख्या (पदों) में स्थित (स्थापित) औषधियाँ हैं।

क्रमशः एक-दो आदि संख्या वाले ये महान औषध समस्त रोगों को दूर करने वाले तथा अमर करने वाले हैं—पूर्वोक्त सभी औषधियाँ शरीर में झुर्रियाँ नहीं पड़ने देती तथा बालों का पकना रोकती हैं। इन औषधियों का चूर्ण या रस से भावित वटी, अवलेह, कषाय (काढ़ा), मोदक या गुड़, खण्ड, यदि घृत या मधु के साथ खाया जाय, अथवा इनके रस से भावित घी या तेल का जिस किसी तरह से भी उपयोग किया जाय तो वह सर्वथा मृतसंजीवन होता है। आधे वर्ष

या एक वर्ष भर अथवा आधे पल या एक पल के मान में इसका उपयोग करने वाला पुरुष यथेष्ट आहार-विहार में तत्पर होकर तीन सौ वर्षों तक जीवित रहता है। मृत संजीवन कल्प में इससे बढ़कर दूसरा योग नहीं (१४१।१-१०)।

प्रथम नवक योग से बनी औषध का सेवन करके मनुष्य सब रोगों से मुक्ति पा जाता है, इसी तरह द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ नवक के सेवन करने से भी मनुष्य रोगमुक्त हो जाता है।

इसी प्रकार प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ घटक के सेवन मात्र से भी मनुष्य निरोग हो जाता है।

उक्त छत्तीस औषधियों के नौ चतुष्क होते हैं। उनमें से किसी एक चतुष्क के सेवन से भी मनुष्य के समस्त रोग दूर हो जाते हैं। प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, सप्तम और अष्टम कोष्ठ की ओषधियों के सेवन से वातदोष से मुक्ति मिल जाती है।

तीसरी, बारहवीं, छब्बीसवीं और सत्ताइसवीं ओषधियों के सेवन से पित्त-दोष दूर होता है। पञ्चम, षष्ठ, सप्तम, अष्टम एवं पञ्चदशम औषधियों के सेवन से कफ दोष की निर्वृत्ति हो जाती है।

चौतीसवें, पैंतीसवें और छत्तीसवें कोष्ठ की ओषधियों के धारण करने से वशीकरण की सिद्धि होती है।

इसके अतिरिक्त ग्रहबाधा, भूतबाधा आदि से लेकर व्यक्ति को निग्रहपर्यन्त संकटों से मुक्ति मिल जाती है (१४१।११-१५)।

प्रथम, द्वितीय, तृतीय, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, नवम, एकादश संख्या वाली ओषधियों तथा बत्तीस, पन्द्रहवी एवं बारहवी संख्या वाली को धारण करने से भी उक्त फल की प्राप्ति होती है (वशीकरण की सिद्धि एवं भूतादि बाधा की निर्वृत्ति)। इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। छत्तीस पदों में निर्दिष्ट इन औषधियों का ज्ञान जैसे-तैसे हर व्यक्ति को नहीं देना चाहिये। (१४१।१५-१६)।

वाजीकरण योग

पुत्रोत्पादक योग

१. काला धतूरा, नेत्र (पुत्रजीवक), अङ्घ्रि (अधः पुष्पा) तथा मनु (रुद्रदन्तिका) से उपलक्षित ओषधियों का लिङ्ग में लेप करके रति करने से जो गर्भाधान होता है उससे पुत्र की प्राप्ति होती है (१४०।१६)।

पुत्रकर उपचार (रसा०)

१. रथन्तर साम का जप एवं उसके द्वारा होम करके पुरुष निस्संदेह पुत्र प्राप्त कर सकता है (२६१।१६)।

पुत्रकर योग

१. गुल्म, माष, तिल एवं व्रीहि चूण को क्षीर एवं मिश्री से युक्त कर अश्वत्थ, वंश, दर्भ, मूल, वैष्णवी और श्री नामक ओषधियों की जड़ तथा दूर्वा और अश्वगन्धा मूल—इनको क्षीर के साथ स्त्री को पिलाने से पुत्र की प्राप्ति होती है (३०२।१५,१६)।

२. कौन्ती, लक्ष्मी, शिफा, धात्री, वज्र, लोध्र एवं वटअङ्कुर—इनको यदि स्त्री ऋतुकाल में घृत और दुग्ध के साथ सेवन करे तो इससे पुत्र की प्राप्ति होती है (३०२।१६,१७)।

३. शतावरी चूर्ण को दुग्ध के साथ पिया जाय तो पुत्र की उत्पत्ति कराने वाला होता है।

४. नागकेसर के चूर्ण को घृत में पकाकर खाने पर यह पुत्रकारक होता है।

५. पलाश के बीज को पीस कर पीने से पुत्र की प्राप्ति होती है (३२३।१४)।

६. पुत्रार्थिनी स्त्री श्री नामक औषधि की जड़ और वट अङ्कुर का दुग्ध के साथ सेवन करे।

७. श्री, वटाङ्कुर और देवी इनके रस का नस्य लेना एवं पीना भी पुत्रकर माना गया है।

८. श्री और कमल की जड़ को अश्वत्थ और दुग्ध के साथ पीस कर सेवन करना चाहिए।

९. कपास के फल और पल्लव को पीसकर दुग्ध के साथ सेवन करना चाहिए।

१०. अपामार्ग के पुष्पाग्र को भैंस के ताजे दुग्ध के साथ सेवन से भी पुत्र प्राप्ति बताई गई है (६०२।१७-२०)।

बलवृद्धिकर उपचार

१. दुग्ध से स्नान करने पर बल की वृद्धि होती है (२६७।५)।

वाजीकरण योग

१. आमलकी स्वरस से भावित आमलकी चूर्ण को मधु, घृत एवं शर्करा के

साथ चाटकर खाने एवं ऊपर से दुग्धपान करने पर वह स्त्रियों को मैथुन से तृप्त कर उनका प्रिय बन सकता है (२८५।६४)।

२. माष, पिप्पली, शालि, यव एवं गोधूम के चूर्ण को समान मात्रा में लेकर घृत में उसकी पूरियाँ (पिप्पलिका) बना लें उसका भोजन करके शर्करायुक्त दुग्धपान करने से निस्सन्देह मनुष्य गौरैय्या पक्षी के समान दिन में दस बार स्त्री से संभोग करने में समर्थ हो सकता है (२८५।६५,६६)।

३. त्रिफला और चन्दन का क्वाथ एक प्रस्थ, भृङ्गरस दो कुडव, हेमरस तथा उतनी ही मधु एवं घी में पकाई हुई हल्दी और सूखी हल्दी—इन सब का लेप करने से जटामांसी और विदारीकंद में चीनी मिलाकर मथित दुग्ध के साथ प्रतिदिन सेवन करने से पुरुष नित्य ही सौ स्त्रियों के गमन की शक्ति प्राप्त कर सकता है (३०२।१२)।

शुक्रदोष

गिरिमृत्तिका, चन्दन, लाक्षा. तथा मालती कलिका से पीस कर बनाई गई वर्ति शुक्रदोष में लाभप्रद मानी गई है (२७९।४५)।

उपसंहार

दार्शनिक तथा आयुर्वेदिक—इन दो खण्डों में विभक्त तथा पन्द्रह (चार एवं ग्यारह) अध्यायों में निबद्ध 'अग्निपुराण की दार्शनिक एवं आयुर्वेदीय सामग्री का अध्ययन' नामक शोधग्रन्थ सामस्त्येन अ० पु० के उपर आधारित उक्त पुराण स्वरूप में तामस (एकीय मतानुसार राजस) तथा धार्मिक तथ्य से शैववर्ग में परिगणित है। यद्यपि उक्त शोध कार्य के लिए चौखम्बा संस्करण स्वीकार किया गया है पर सम्बद्ध विवेच्य सामग्री के अवबोधनार्थ राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा सम्पादित एवं बिब्लियोथेका इंडिका सिरीज में प्रकाशित, आनन्दा-श्रम पूना एवं गुरुग्रन्थमाला के अन्तर्गत मोरद्वारा प्रकाशित संस्करणों से भी अनुपद सहाय्य लिया गया है। इसके अतिरिक्त प्रस्तावना में निर्दिष्ट अन्य छः संस्करणों से भी यत्र-तत्र इस शोध-ग्रन्थ को उपकृति हुई है। यह पुराण स्वीकृत संस्करणानुसार अग्निपुराण-माहात्म्य के सहित ३८३ अध्यायों एवं लगभग १२ सहस्र श्लोकों में निबद्ध है। विवेच्य सामग्री के पाठों की शुद्धि के अनन्तर ही यह शोध कार्य आरम्भ किया गया।

पुराण वाङ्मय के आभ्यन्तर अष्टादश पुराणों में अग्निपुराण का एक महत्त्व-पूर्ण स्थान है। पुराणोक्त पञ्च एवं दशलक्षण के अतिरिक्त इसमें धर्म, राजनीति, साहित्य, व्याकरण एवं तन्त्र जैसे विविध विषय सन्निविष्ट हैं। इस पुराण ने चतुर्दश एवं अपरा विद्याओं के अन्तर्गत आयुर्वेद की गणना की है। दश-लक्षणात्मक परिभाषा के 'वृत्ति' घटक शीर्षक के अन्तर्गत भी आयुर्वेद आ जाता है। सृष्टि एवं प्रलय (सर्ग एवं प्रतिसर्ग) की परिधि में दार्शनिक सामग्री का विवेचन न्यायोचित है। यह एक विश्वकोषीय प्रकार का महापुराण है जिसमें सभी विषय अनेक स्रोतों से संकलित किये गए हैं।

प्रस्तावना में इस पुराण के अद्यावधि प्रकाशित सभी संस्करणों एवं हिन्दी-आग्लभाषानुवादों की कालक्रमानुसार चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त इस पुराण का विशिष्ट अध्ययन जिन पाश्चात्य एवं प्राच्यविद्वानों द्वारा हुआ है उनका भी सग्रन्थ नाम निर्देश कर दिया गया है। इस पुराण के विभिन्न विषयों पर जो भी प्रकाशित एवं अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध हैं उनका भी संकेत यहाँ कर दिया गया है। आयुर्वेदीय विषयों पर भी जो निबन्ध पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों द्वारा लिखे गये उनका भी सन्निवेश कर देना यहाँ उचित समझा गया।

उक्त शोध-ग्रन्थ पुराणगत उस अध्ययन के न्यूनता की पूर्ति करता है जिस पर अभी तक कोई शोध-ग्रन्थ नहीं लिखा गया। अपने शोध कार्य की उपलब्धि एवं वैशिष्ट्य का भी यहाँ चित्रण कर दिया गया है।

विषयावतरण में अग्निपुराण का सामान्य परिचय देकर पुराणवाङ्मय में उसके महत्त्व को प्रदर्शित किया गया हैं। अन्तः एवं बाह्य-साक्ष्यों के आधार पर अ० पु० का समय द्वादश शतक का प्रथम चरण स्थिर किया गया है। यह काल निर्णय आयुर्वेदीय सामग्री के आधार पर है। चक्रपाणि (१०६० ई०) के 'चक्रदत्त' ग्रन्थ से चिकित्साविषयक सामग्री को लेने के कारण इसकी अन्तिम सीमा एकादश शतक का अन्तिम काल तथा सप्तम शतक के अष्टांगसंग्रह से शारीर एवं गर्भविक्रान्ति विषयक सामग्री के लेने से पूर्व सीमा सप्तम शताब्दी स्थिर हो जाती है। तान्त्रिक सामग्री चिकित्सा में इसी अष्टम शतक में सन्निविष्ट हुई। यद्यपि ओषधि, रोगपरक, शरीर रचना विज्ञानपरक सामग्री अमरकोष (५म शतक), विष्णुधर्मोत्तर पुराण (४र्थ शतक) एवं याज्ञवल्क्यस्मृति से भी ली गई है। दार्शनिक खण्ड में तो उपजीव्यभूत कठोपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता एवं पातञ्जल योग दर्शन के साथ-साथ वेदान्त एवं सांख्य के प्राचीन प्रस्थानपरक ग्रन्थ भी रहे तो भी इसके कालनिर्णय में वे भी इतने सहायक नहीं है जितने कि आयुर्वेदीय ग्रन्थ। इस दार्शनिक अध्ययन से सेश्वर सांख्य, अष्टांग योग, अद्वैत वेदान्त, यमगीता एवं गीतासार जैसी सामग्री प्रकाश में आ सकी है। आयुर्वेदिक अध्ययन ने आयुर्वेदीय वाङ्मय की समृद्धि में अपना योगदान दिया है। धन्वन्तरि का विष्णु-अवतार के रूप में उल्लेख, चिकित्सकों का सामाजिक सम्मान एवं स्वस्थवृत्त के अन्तर्गत विविध स्नानों का निरूपण आदि विषय अवदान विषयक उदाहरण हैं। अनेक अज्ञात वनस्पतियों का समुल्लेख भी इसके अन्तर्गत सन्निहित है। अन्त में दर्शन, पुराण एवं आयुर्वेद के ऐक्य विषय पर भी प्रकाश डाला गया है।

. दार्शनिक खण्ड के अन्तर्गत प्रथम अध्याय में अग्निपुराण की दार्शनिक पृष्ठभूमि का चित्रण किया गया है। द्वितीय अध्याय सृष्टयुत्पत्ति एवं प्रलयविषयक सांख्य सामग्री का अध्ययन प्रस्तुत करता है। पुराण के पञ्चलक्षणगत सिद्धान्त के अन्तर्गत सर्ग (सृष्टि) एवं प्रतिसर्ग (प्रलय) का समावेश होने के कारण अ० पु० ने प्रतिपादित चार अध्यायों (१७,२०,५९ एवं ३६८) में आदि के दो अध्यायों में सृष्टिनिर्माण के विषय में कुछ विशिष्ट सामग्री प्रस्तुत की है अन्तिम अध्याय सृष्टि प्रलय का विस्तार से वर्णन प्रस्तुत करता है। प्रकोष्ठक

में संकेतिक तृतीय (५९वें) अध्याय में सांख्योक्त २५ तत्त्वों का आलंकारिक वर्णन है। उत्पत्ति एवं प्रलय का सांख्यदर्शन से साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण इसका इसमें विशद वर्णन हैं। इसे एतद् विषयक सामग्री अपने से पूर्ववर्त्ती-वायु एवं विष्णुपुराण से परम्परया प्राप्त हुई है। इस पुराण का सांख्य सेश्वर है। सृष्टि की उत्पत्ति प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से होती है। इसने पुरुष के स्थान पर वासुदेव की कल्पना की है और और समस्त सृष्टि को विष्णु का क्रीडा स्वरूप स्वीकार किया है। अव्याकृत अव्यक्त से महत् और उससे अहंकार की उत्पत्ति मानी गई है। वैकारिक, तैजस एवं तामस भेद से अहंकार तीन प्रकार का होता है। तैजस के साहाय्य से वैकारिक अहंकार से५ ज्ञानेद्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ एवं मन की उत्पत्ति होती है। तैजस की सहायता से तामस अहंकार से शब्दादि पञ्चतन्मात्रायें उत्पन्न हुई जिनसे क्रमशः आकाशादि पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार सिसृक्षु भगवान् स्वयम्भू सर्वप्रथम जल की उत्पत्ति कर उसमें वीर्य का आधान कर देते हैं। वही जलगत वीर्य बीजरूप में निक्षिप्त हो हिरण्मय अण्ड बन जाता है और इस अण्ड से ब्रह्मा स्वयं उत्पन्न होते हैं जोकि स्वयंभू नाम से विख्यात हैं। एक वर्ष तक वहाँ निवास करने के अनन्तर हिरण्यगर्भ ने स्वर्ग एवं पृथ्वी इन दो भागों में अण्ड का विभाग कर दिया और दोनों के मध्य में आकाश का सृजन किया। दशों दिशाओं ने इसे धारण किया। सिसृक्षु-प्रजापति ने काल, मन, वाक्, काम, क्रोध, मोह आदि को बनाया। इसके अतिरिक्त उसने विद्युत्, अशनि, मेघ आदि का भी निर्माण किया और मुख से पर्जन्य एवं वेदों का प्रणयन किया। उसने भुजा से क्षुद्र एवं महत् जीवों को उत्पन्न कर क्रोध से सनत् एवं रुद्र की उत्पत्ति की ओर अन्ततोगत्वा मरीचि और सप्त मानस पुत्र उत्पन्न हुए और अन्त में ब्रह्मा ने अपने अर्ध शरीर को पुरुष एवं शेष अर्द्ध को स्त्री बना दिया और स्त्री भाग से प्रजा की सृष्टि की। उपर्युक्त सृष्टि विवेचन अनेक विचारधाराओं का सम्मिश्रण प्रतीत होता है। ये चार धारायें हैं—प्रथम सांख्यधारानुसार गुणों में संक्षोभ होने के कारण प्रकृति सृष्टि का निर्माण आरम्भ करती है। द्वितीय विचारधारा के अनुसार ईश्वर का वीर्य जल में विकसित हो हिरण्मय अण्ड का रुप धारण कर लेता है और उसमें स्वयम्भू ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है। तृतीय विचारधारा में प्रजापति को ही सृष्टि का स्रष्टा प्रदर्शित किया गया है। जिसके मुख से वेद तथा भुजाओं से क्षुद्र एवं महत् जन्तु उत्पन्न हुए और यह पुरुष सूक्त से किंचित् प्रभावित प्रतीत होता है। चतुर्थ मैथुनिक-सृष्टिपरक विचारधारा हैं। अधिवासन के माध्यम से भी सांख्य तत्त्व का प्रतिपादन है। भगवान् विष्णु का सान्निध्य करना अधिवास

है। आत्मा का परमात्मा के साथ ऐक्य करना ही इसका चरम लक्ष्य है। यहाँ पुरुष ही वासुदेव है जो कि तन्मात्रस्वरूप है। ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय-अधिदेवता वाला सिद्धान्त सुश्रुत एवं महाभारत की विचारधारा से प्रभावित प्रतीत होता है। सृष्टि निर्माण अवस्थायें है—प्राकृत, वैकृत एवं प्राकृतवैकृत। महत्, भूत एवं वैकारिक भेद से प्राकृत सर्ग तीन प्रकार का हैं मुख्य, तिर्यक्सर्ग, देवसर्ग, मानुष एवं अनुराग भेद से वैकृत सर्ग पाँच प्रकार का और अन्तिम कौमार्यसर्ग भेद से एक ही प्रकार का है। इस प्रकार सर्ग की नौ अवस्थायें मानी गई हैं पर अन्यत्र नित्य, नैमित्तिक एवं प्राकृत भेद से सर्ग का वृहद् तीन विभाग भी प्रतिपादित हैं। इसी प्रकार प्रलय भी एक स्वतन्त्र अध्याय (३९५) में नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत एवं अत्यन्तिक भेद से चार प्रकार का माना गया है।

तृतीय अध्याय में अष्टांग योग की सामग्री निरूपित हैं 'योगस्तत्रैकचित्तता' जैसी पातंजल-योगवत परिभाषा अ० पु० ने प्रस्तुत की है। इसके अतिरिक्त अ० पु० ने इसे त्रिविध-तापों से मुक्त कराने का साधन कहा है। इस प्रकार जीवात्मा एवं परम आत्मा में अन्तःकरण की वृत्तियों का स्थापन उत्तम योग है। अष्टांग योग के सभी घटक प्रतिपादित हैं जिनमें से यम एवं नियम पतंजलिवत् ही पाँच-पाँच विभागों में विभक्त है। आसन विधि सहित पूरक, कुम्भक एवं रेचक भेद से प्राणायाम का प्रतिपादन हुआ है। ध्यान का प्रतिपादन अतिविस्तार से अ० पु० में हुआ है। धारणा एवं समाधि भी इसी प्रकार यहाँ दर्शन की अपेक्षा अधिक निरूपित है। इसके अतिरिक्त क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, सृष्टि-विज्ञान, व्रतपर्यायभूत तप रौर नियम भावनात्मक पुष्प और पुष्पिकाओं का भी निरुपण यहाँ हुआ है। अ० पु० में जो भी योग विषयक सामग्री विद्यमान है उसका स्रोत पातंजल योगदर्शन, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, वायुपुराण, शिव पुराण आदि है।

चतुर्थ अध्याय में वेदान्त प्रस्थानीय ब्रह्म निरूपण जैसी सामग्री प्रदिपादित है। यह सामग्री ब्रह्म ज्ञान एवं अद्वैत तत्व के विचारधारा की परिचायिका है। संसार रूपी अज्ञानजनित बन्धन से मुक्ति प्राने के लिए ब्रह्मज्ञान नितान्त उपादेय है' आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य निरुपण की छाया अ० पु० में प्रतिबिम्बित प्रतीत होती है। इसमें ब्रह्म से सृष्टि का प्राकट्य बताया गया है तथा ब्रह्मज्ञानपरक विभिन्न विचारधाराओं का संश्लेषण इसमें निहित है। भगवत्स्वरुप एवं ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति का इसमें चित्रण हुआ है। इसी

पुराण में खाण्डिक्यजनक एवं केशिध्वज के योगविषयक संवाद के माध्यम से आत्मविद्या का निरुपण हुआ है। कर्म द्वारा अविद्या की उत्पत्ति एवं उसका विवेचन भी यहाँ निरुपित है। इसी अध्याय में यमगीता एवं गीतासार की सामग्री का स्रोत सहित तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इससे सम्बन्धित सामग्री तैत्तिरीय ब्राह्मण, कठोपनिषद् एवं महाभारत से भी ली गई है। यमगीता मृत्यु एवं जीवन की प्रहेलिका का समाधान प्रस्तुत करती है। यम ने चरम मोक्ष के लिए आत्मा एवं परम ब्रह्म के ऐक्य की अनुभूति के रहस्य को आवश्यक माना है। गीतासार की सामग्री केवल मात्र एक अध्याय (३८१) में निहित है जिसमें ५८ श्लोक हैं जो कि श्रीमद्भगवद्गीता के विभिन्न-भिन्न अध्यायों से आनुपूर्वी लिए गए है। कतिपय श्लोक भावानुवाद एवं सारभूत भी हैं। अ० पु० ने वैष्णव एवं भागवत धर्म के सिद्धान्त को गीतासार के माध्यम से उपस्थित किया है। इसमें योग एवं मोक्ष की चर्चा आत्मा के अजरत्व-अमरत्व का प्रतिपादन, दैवी एवं आसुरी सम्पदा सहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का निरुपण तथा सात्विकादि त्रिविध भेद से यज्ञ एवं भोजन का चित्रण भी निहित है। भक्तियोग से मोक्ष प्राप्ति का निरुपण इसका चरम उद्देश्य है।

द्वितीय आयुर्वेदीय अध्ययन खण्ड में एकादश अध्याय है जिनमें से प्रथम अध्याय आयुर्वेद की पुराणात्मक पृष्ठभूमि का निदर्शन करता है। यद्यपि आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग या उपवेद है तथापि उसमें संस्कर्त्ताओं के कारण यत्र-तत्र पौराणिक पुट निहित हैं। इस प्रकार की सामग्री चरक में प्रचुर मात्रा में है। निदान स्थान में वर्णित ज्वरादि अष्टरोगों की उत्पत्ति में पौराणिक कथाओं का सन्निवेश है। जनपदोध्वंस प्रकरण में पंचकर्मविधान के साथ-साथ धर्मशास्त्रों की कथाओं का सुनना प्रशस्त माना गया है। मानस प्रकृति के अन्तर्गत सत्व-प्रकृति के भेद के रूप में गन्धर्वसत्व व्यक्ति के स्वरुप परिचय में उसे नृत्य-गीत आदि के प्रेमी होने के साथ-साथ आख्यायिका, इतिहास और पुराणपाठ में कुशल होना आवश्यक बतलाया गया है। इसी प्रकार सुश्रुत में भी ऐसे अनेक स्थल हैं जो ऐस विचारधारा को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं।

द्वितीय अध्याय में आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धान्त की उपलब्ध सामग्री प्रदर्शित है जिसमें पंचमहाभूत एवं त्रिदोष सिद्धान्त, रसादिधातु एवं मलोत्पत्ति का निरुपण एवं उनके विशिष्ट कर्मो का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही साथ इस प्रकरण में वायु के प्राण, अपानादि पञ्चभेद एवं कर्म, कृकल आदि अवान्तर पञ्चभेद सकार्य प्रतिपादित हैं। इससे सम्बद्ध इडा, पिंगला, सुषुम्णा आदि दस नाड़ियों की कार्यसहित वैज्ञानिक व्याख्या करने का प्रयास किया गया है।

तृतीय अध्याय अ० पु० में उपलब्ध शारीर विषयक सामग्री के अध्ययन को प्रस्तुत करता है। इसी में अस्थि, सन्धि, धमनी, नाडी, शिरा, स्नायु, कूर्च, सीरिणी, मर्म एवं कला का संक्षिप्त दिग्दर्शन निहित है षड्विधत्वक्, अष्टविध आशय एवं विविध कोष्ठांगों का परिसंख्यान भी यहाँ हुआ है। शरीरस्थ रक्तादि धातु, पित्तादि दोष एवं मूत्रादि मलों का चरकवत् अंजलिप्रमाण यहाँ अंकित है। शरीर एवं मानस प्रकृति का सभेद निरुपण यहाँ प्रदर्शित है। स्त्री एवं पुरुष के अंगों के विविध आदर्श मान एवं उनके सामुद्रिक लक्षणों की मीमांसा भी प्रस्तुत की गई है।

चतुर्थ अध्याय में गर्भावक्रान्ति विषयक सामग्री का आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है।

पञ्चम अध्याय स्वस्थवृत्त की सामग्री का प्रतिपादन करता है और सम्बद्ध सामग्री को वैयक्तिक, सामाजिक एवं आचारपरक शीर्षकों के अन्तर्गत विभक्त कर प्रदर्शित किया गया है। विविध प्रकार के स्नानों का निरुपण इस पु० का अपना वैशिष्ट्य है। दिनचर्या का विशद वर्णन एवं द्रव्य शुद्धि का प्रतिपादन भी इसी में निहित है।

षष्ठ अध्याय में द्रव्यगुणशास्त्र के प्रतिपादित रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव सिद्धान्त, पञ्चविध कषाय कल्पना, औषध-मान. देवार्चना निमित्त प्रयुक्त ओषधियों के पुष्प, वनौषधियों के पर्याय एवं उनके विविध वर्ग भी अंकित हैं। अमर कोष के वनौषधिवर्ग को अग्निपुराण ने आनुपूर्वी (३६३ वें अध्याय में) उतार लिया है। अ० पु० में यावन्मात्र वनौषधियों, धातु, उपधातुओं, खनिजों, रत्नों आदि का जो उल्लेख है उनका ससन्दर्भ निर्देश परिशिष्ट में कर दिया गया है।

सप्तम अध्याय अगदतन्त्र विषयक सामग्री का वर्णन करता है जिसमें सर्प-प्रकार, उनकी उत्पत्ति, उनके सविष एवं निर्विष दंश, सामान्य एवं मारक दंश के लक्षणों का निरुपण, सर्पों के आश्रयस्थल, सर्पदंश के निदान, लक्षण, चिकित्सा तथा साध्यासाध्यता में दूत के महत्व का प्रतिपादन है। विषनाशक मन्त्र एवं औषध के साथ-साथ धूपन एवं स्वेदन अगदों का भी निरूपण है। मूषक, लूता, वृश्चिक, गर्दभ, शतपदी, उन्दुर, मत्स्य, कुक्कुर के दंश लक्षणों एवं उनको चिकित्सा का वर्णन है विषनिवारक बीजमन्त्रों का प्रस्तुतीकरण इस पुराण का विषतन्त्र के प्रति महद् योगदान प्रतीत होता है।

अष्टम अध्याय में बालरोगों के लिए उत्तरदायी दिन, मास एवं वर्षानुसार स्त्रीग्रहों एवं उनसे आक्रान्त शिशुओं के लक्षणों को प्रदर्शित कर उनकी चिकित्सा बतलाई गई है। गैद्यवर कल्याण के बालतन्त्र में भी ये ग्रही दृष्टिगत होती हैं। इसके अतिरिक्त इसमें गर्भस्रावनिवारक, शिशुवाक्-शक्तिवर्द्धक एवं सद्योजात शिशुरक्षक योग एवं उपचार वर्णित हैं।

नवम अध्याय भूतविद्या विषयक सामग्री का वर्णन करता है। इसमें मन्त्र-विद्या, उसकी जातियों, ग्रहबाधा-दुःस्वप्न-भतबाधा-भयनाशक उपचारों, अपराजिता मन्त्र, रुद्रशान्तिकरमन्त्र एवं सर्वविध वशीकरण मन्त्रों का निर्देश है। इसी प्रकरण में कायचिकित्सा, शालाक्य, कौमारभृत्य, रसायन एवं वाजीकरण तन्त्रगत रोगों की दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का भी उल्लेख हुआ है। महामृत्युंजय, दीर्घायुष्कर जप एवं चारों वेदों के कतिपय मन्त्रों से तत्तद् रोग नाशक हवन का विधान है।

दशम अध्याय में कायचिकित्सा, शल्य एवं शालाक्य तन्त्र के विविध रोगों की चिकित्सा दी गई है जो अष्टांगसंग्रह, वृन्दमाधव एवं चक्रदत्त से आनुपूर्वी स्थल-स्थल पर उद्धृत प्रतीत होती है। कायचिकित्सा के रोगों में अतिसार (सर्वविध), अपस्मार, अर्श, आमवात, उदररोग, वृद्धि रोग, उन्माद, उरःक्षत, उरुस्तम्भ, कटिशूल, कफरोग, कास, कुष्ठ, कृमि, गलगण्ड, गण्डमाला, गुदभ्रंश, गुल्म, ग्रहणी, चर्मरोग, छर्दि, ज्वर (सभेद), तृष्णा, पाण्डु, पादरोग, जलकुक्कुट, पार्श्व शूल, प्रदर, प्रमेह, प्लीह, मदात्यय, मूत्रकृच्छ्र, मूर्च्छा, राजयक्ष्मा, वात रोग (अस्थि-मज्ज-सन्धि एवं सर्वांगगत), वातरक्त, विबन्ध, वीसर्प (शूल), शोथ, श्लीपद, श्लेष्मरोग, श्वास, हिक्का, हृदयरोग एवं क्षयरोगों की चिकित्सा, दीपन एवं पञ्चकर्मकारक योग, नक्षत्रानुसार रोगोत्पत्ति एवं रोगी के लिए निषिद्ध राशियों का उल्लेख हैं। शल्यरोगों में अश्मरी, दुष्टव्रण, नाडी, भगन्दर, विद्रधि, विस्फोट, व्रण (पाचन-भेदन-रोपण-शोधन एवं पूरक योग) एवं व्रणकृमि की चिकित्सा प्रतिपादित है। शालाक्य रोगों में ऊर्ध्वजत्रुज, ओष्ठ, दन्तरोग, दिनान्ध्य, नासागत, रक्तस्राव, नेत्र, शिर एवं कण्ठरोग, कर्ण, जिह्वारोगी, मुख-पाक, प्रतिश्याय एवं रात्र्यन्ध की चिकित्सा का उल्लेख है। अनेक चक्षुष्य एवं नेत्रज्योति प्रत्यानयन मन्त्र भी निर्दिष्ट हैं।

एकादश अध्याय में रसायन एवं वाजीकरण की सामग्री है। इनमें से रसायन के अन्तर्गत दीर्घायुष्कर, कवित्वशक्तिकर, कान्तिवर्द्धक, केश्य, मेध्य,

एवं रूपसम्पद् वर्द्धक योग हैं। संजीवनी एवं अमरीकर योग अतिप्रशस्त हैं। वाजीकरण योगों के अन्तर्गत पुत्रोत्पादक योग, पुत्रकर योग, बलवृद्धिकर वाजीकरण एवं शुक्रदोष शामक योग एवं उपचार हैं।

परिशिष्ट की संख्या ग्यारह हैं जिसमें वनस्पतियों, अविभावित वनस्पतियों, धातु-उपधातुओं, खनिजों, रत्नों, जांगम द्रव्यों, खाद्य एवं पेय द्रव्यों, शरीर अंगों के विभिन्न पर्याय, रोग सूची, रोग पर्याय एवं समान श्लोक तुलनात्मक तालिका का समावेश है।

परिशिष्ट संख्या I

वनस्पतियाँ

अक्ष	L—Terminalia belerica Roxb.	289/41
	F—Combretaceae	
अक्षत	L—Oryza sativa Linn.	34/20; 35/6,12; 40/2; 57/21,
	F—Gramineae.	92/12; 95/50; 97/13, 25,66; 117/24; 230/ 12; 262/23; 301/ 11; 306/12; 307/3; 321/ 7,10.
अक्षीर	L—Moringa pterygo-sperma Gaertn.	363/21.
	F—Moringaceae.	
अग्नि (= चित्रक)	L—Plumbago zeylanica Linn.	283/4,43; 285/56; 287/ 20; 289/20; 298/2.
	F—Plumbaginaceae.	
	L—Plumbago rosea Linn.	
	L—Plumago capensis Thumb.	
अग्नि(= भिलावा)	L—Semecarpus anacar-dium Linn.	
	F—Anacardiaceae.	
	L—Clerodendrum phlo-midis Linn. f.	285/3; 363/35.
अग्निमन्थ	L—Prema integrifolia Linn.	
	F—Verbenaceae.	
अग्निमुखी (= भल्लातक)	L—Semecarpus anacar-dium, Linn.	363/25.
	F—Anacardiaceae.	

अगुरु	L—Aquilaria agailocha Roxb. F—Thymelaeaceae.	33/17; 57/18; 95/57; 207/3; 211/68; 224/23; 267/18; 323/10; 363/34.
अग्निशिखा (= कलिहारी)	L—Gloriosa superba, Linn. F—Liliaceae.	363/57; 283/3.
अङ्कोल	L—Alangium lamarckii Thwaites F—Alangiaceae	285/16.
अङ्गारवल्लरी (करञ्ज भेद)	L—Cæsalpinia bonducella Fleeming. F—Leguminosae.	363/27.
अजाजि	L—Cuminum cyminum Linn. Carum carvi Linn. F—Umbelliferae.	279/4,28;285/11; 287/14.
अजमोदा	L—Apium graveolens, Linn. F—Umbelliferae.	263/28.
अजशृङ्गी	L—Gymnema sylvestre R. Br. F—Asclepiadaceae.	363/56.
अटरु(रू)ष	L—Adhatoda vasica, Nees. F—Acanthaceae.	202/6; 302/22.
अतिच्छत्रा (शतपुष्पा)	L—Foeniculum vulgare Mill; Syn Anethum Foeniculum. F—Umbelliferae.	363/66.
अतिबला	L—Abutilon indicum (Linn) SW. F—Malvaceae.	95/38; 123/23; 125/; 44; 265/15; 289/13 298/15; 299/4.
अतिमुक्त	L—Hiptage madablota Gaertn F—Malipighiaceae.	202/3; 248/2; 263/37; 363/37.

अतिविषा	L—Aconitum heterophyllum Wall. F—Ranunculaceae.	283/2,29,33; 285/61.
अनन्ता(=धमासा)	L—Fagonia arabica Linn. F—Zygophyllaceae.	363/45.
अनन्ता (=शारिवा)	L—Ichnocarpus fruitescens R. Br. F—Apocynaceae. L—Gryptolepis buchanani Roem & Schult. F—Asclepiadaceae.	363/54.
अपराजिता	L—Clitoria ternatea Linn. F—Leguminosae.	142/19; 218/9; 265/14.
अपामार्ग	L—Achyranthes aspera, Linn. F—Amaranthaceae.	95/52; 260/7; 23,33; 299/4; 302/19; 306/12; 363/44.
अब्ज	L—Nelumbium Speciosum Willd. F—Nymphaeaceae	308/14,20.
अभया	L—Terminalia chebula Retz, Terminalia citrina Roxb. F—Combretaceae.	263/9; 279/13; 283/18,28,30,44; 285/3,54; 286/17.
अमृता	L—Tinospora cordifolia (wild) Miers. F—Menispermaceae.	100/4; 263/10; 283/19; 285/17,31,44,71; 286/1; 326/24; 363/41.
अम्बरो	L—Hibiscus cannabinus Linn. F—Malvaceae.	265/7.
अम्बष्ठा	L—Tamarix articulata Vahl Tamarix gallica Linn. F—Tamaricaceae.	

अम्वष्ठा (= पाठा)	L—Cissampelos pareire Linn. F—Menispermaceae.	363/42
अम्वष्ठा (= यूथिका)	L—Jasminum auriculatum Vahl F—Oleaceae.	363/36.
अम्वष्ठा (= चाङ्गेरी)	L—Oxalis corniculata Linn. F—Oxalidaceae.	363/62.298/15; 363/42, 62.
अम्बुज	L—Barringtonia acutangula (Linn), Gaertn. F—Lecythidaceae.	45/14; 93/9: 102/18; 303/9; 308/8; 363/32.
अम्बुधृक् (= नागरमोथा)	L—Cyperus scariosus, R. Br. F—Cyperaceae.	298/12; 299/38.
अम्बुवेतश	L—Salix caprea Linn. F—Salicaceae.	363/20.
अम्लवेतश	L—Garcinia pedunculata Roxb. F—Guttiferae.	363/63.
अरिमेद	L—Acacia farnesiana Willd. F—Leguminosae.	363/29.
अरुष्कर (= भल्लातक)	L—Semecarpus anacardicum Linn. F—Anacardiaceae.	363/25.
अर्क	L—Calotropis gigantea (Linn) R. Br. ex Ait. F—Asclepiadacear.	95/1,2; 123/24; 140/2; 202/14; 248/5; 274/57; 279/58; 283/12,22; 287/20; 297/4,6; 301/7; 323/16.
	L—Calotropis precera (Ait) R. Br.	
अरिष्टा (= फेनिल)	L—Sapindus mukrorossi Gaertn. F—Sapindaceae.	363/21.

अरिष्टा(=निम्ब) L—Azadirachta indica, A. Juss; Melia azadirachta, Linn.
F—Meliaceae.

अरिष्ट (=लशुन) L—Allium sativum Linn 282/6; 285/31; 327/1; 363/21,33,65.
F—Liliaceae.

अर्जुन L—Terminalia arjuna W. & A. 12/17; 57/9; 302/8; 285/58; 289/52; 309/11; 363/26; 3.
F—Combretaceae.

अल्पमारिष L—Amaranthus spinosus, Linn. 363/35.
F—Amaranthaceae.

अवल्गुज L—Psoralea corylifolia, Linn. 363/47
F—Leguminosae.

अवाक्पुष्पी L—Foeniculum vulgare Mill Syn Anethum foeniculm 363/66
F—Umbelliferae.

अशोक L—Saraca indica Linn 8/15; 9/5; 202/6; 247/30; 248/30; 265/3; 282/6,7; 286/15; 309/14.
F—Leguminosae.

अश्मपुष्प L—Parmelia perlata Ach. 363/58.
F—Parmeliaceae.

अश्वकर्ण L—Shorea robusta Gaertn f. 363/26
F—Dipterocarpaceae.

अश्वगन्धा L—Withania somnifera Dunal 286/14; 292/35; 302/8,16.
F—Solanaceae.

अश्वत्थ	L—Ficus religiosa Linn F—Moraceae.	24/5; 34/4; 57/9; 95/28; 247/24; 282/1; 289/29; 299/58; 302/15.
अर्शोघ्न	L—Amorphophallus campanulatus Blume F—Araceae.	363/69.
असन	L—Pterocarpus marsupium Roxb. F—Leguminosae.	363/25.
आक्रान्ता = (विष्णुक्रान्ता)	L—Clitoria ternatea Linn. F—Leguminosae.	100/4.
आढ़क	L—Cajanus indicus Spreng F—Leguminosae.	279/7.26.
आत्मगुप्ता (= केवाँच)	L—Mucuna pruriens Bek. F—Leguminosae.	363/47.
आनन्दक		222/9.
आम्रातक	L—Spondias mangifera Willd. F—Anacardiaceae.	363/20.
आरग्वध	L—Cassia fistula Linn Lin. F—Leguminosae.	285/6.
आर्द्रक	L—Zingiber officinale F—Zingiberaceae.	283/8.
आरेवत	L—Cassia fistula Linn. F—Leguminosae.	363/17.
आम्र	L—Mangifera indica Linn. F—Anacardiaceae.	57/9; 95/28; 115/14; 149/14; 224/21; 247/30; 282/1; 285/58; 309/15.

आमलक	L—Phyllanthus emblica Linn; Emblica officinalis Gaertn. F—Euphorbiaceae.	35/3; 57/25; 72/13; 279/25; 285/3; 308/15.
आलिञ्जर	L—Carum carvi Linn. F—Umbelliferae.	366/29.
आवेगी	L—Argyreia speciosa, Sweet. F—Convolulacea.	363/61.
आस्फोता	L—Vitex negundo Linn. F—Verbenaceae.	363/36.
आस्फोता (अर्क)	L—Calotropis gigantea (Linn) R. Br. ex Ait. F—Asclepiadaceae.	363/40.
आस्फोता (=अपराजिता)	L—Clitoria ternatea Linn. F—Leguminosae.	363/36, 40,51.
इक्षु	L—Saccharam officinarium Linn. F—Gramineae.	75/49; 108/2; 175/13; 178/15; 210/19; 212/5; 287/25; 300/29.
इक्षुगन्धा (विदारी कन्द)	L—Pueraria tuberosa D.C. F—Leguminosae. L—Ipomoea digitata Linn. F—Convolvulacae.	363/54.
इक्षुर	L—Hygrophila spinosa, T. and F—Acanthaceae.	363/51.
इक्ष्वाकु	L—Lagernaria vulgaris Ser F—Cucurbitaceae.	363/69.

इङ्गुद	L—Balanites roxburghii Planch. F—Simarubaceae.	6/32; 279/18; 363/26.
इङ्गुदी	L—Balanites roxburghii Planch. F—Simarubaceae.	6/32.
इज्जल	L—Barringtonia acutongula (Linn) Gaertn. F—Lecythidaceae.	363/32.
इन्दीवर	L—Nelumbium speciosum, Willd. F—Nymphaeaceae.	
इन्द्र	L—Holarrhena antidysenterica Wall. F—Apocynaceae.	297/8.
इन्द्राणी	L—Polygonum aviculare. F—Polygonaceae.	
	L—Citrullu colocynthis Schrad. F—Cucurbitaceae.	124/23; 125/44.
इन्द्रदारु	L—Cedrus deodara (Roxb) Loud F—Pinaceae.	283/23.
इन्द्रदुः (=अर्जुन)	L—Terminalia arjuna W. & A. F—Combretaceae.	363/26.
इन्द्रयव	L—Holarrhena antidysenterica Wall. F—Apocynaceae.	287/23.
इन्द्रवारूणी	L—Citrullus colocynthis Schrad. F—Cucurbitaceae.	363/69.
इभपिप्पली (=गजपिप्पली)	L—Scindapsus officinalis, Schott; Syn pothos officinalis Schott Melet. F—Araceae.	287/20.

इर्वारु	L—Cucumis utilissimus Roxb.	363/68.
	F—Cucurbitaceae.	
ईश्वरी(=ईश्वर-मूल)	L—Aristolochia indica Linn	125/43.
	F—Aristolochiaceae.	
उग्रा	L—Acorus calamus, Linn.	283/18.
	F—Araceae.	
उग्रगन्धा	L—Acorus calamus, Linn.	363/50.
	F—Araceae.	
उच्चटा	L—Abrus precatorius, Linn.	286/6; 302/14.
	F—Leguminosae.	
उत्पल	L—Nelumbuim speciosum Willd. F—Nymphaeaceae.	69/13; 98/14; 202/7; 207/13; 224/30; 267/10; 21; 283/25; 285/27; 28, 35, 68; 287/31; 302/20, 23; 306/9; 309/13.
उत्पल शारिवा	L—Ichnocarpus fruitescens R. Br.	363/54.
	F—Apocynaceae.	
	L—Cryptolepisbuchanani Roem.	
	F—Asclepiadaceae.	
	L—Hemidesmus indicus R. Br.	
	F—Asclepiadaceae.	
उदीच्य(=सुगन्ध-बाला)	L—Pavonia odorata Willd.	279/4.
	F—Malvaceae.	

उदुम्बर	L—Ficus glomerata Roxb. F—Moraceae.	34/4; 40/3; 42/19,20; 57/19; 69/8; 74/25; 95/28,34,52; 117/12; 164/8; 168/7;247/24; 259/29; 260/48;266/13; 289/29,33; 294/23; 306/17; 360/4; 393/16.
उछाल	L—Cordia myxa; Roxb dichotoma Forst, F. F—Boraginaceae.	363/22.
उन्मादिनी (= भंगा)	L—Cannabis sativa Linn; Cannabis indica Lam. F—Cannabinaceae.	229/2.
उमन्त (= धत्तूर)	L—Datura Stramonicim, Linn F—Solanaceae.	202/13; 323/16. 285/5,
उपकुल्या (= पिप्पली)	L—Piper longum Linn, chavica roxburghii F—Piperaceae.	364/48.
उशीर	L—Andropogon muricatus Retz, Vetiveria zizanioides(Linn) Nash. F—Gramineae.	95/57; 97/8; 149/14; 265/15; 267/17; 279/23; 279/60; 298/8, 12; 301/18.
उशीरक	L—Andropogon muricatus Retz, Vetiveria zizanioides (Linn) Nash. F—Gramineae.	301/18.
उषणा (= चव्य)	L—Piper longum Linn. Chavica roxburghii F—Piperaceae.	363/48.

उषण	L—Piper longum Linn (Root) F—Piperaceae.	300/30.
ऋद्धि (अष्टवर्ग की ओषधि)	L—Habenaria intermedia	95/38.
ऋक्ष	L—Oroxylum indicum Vent. F—Bignoniaceae.	363/32.
ऋक्षगन्धा	L—Argyreia speciosa, Sweet F—Convolvulaceae.	393/61.
एला	L—Amomum subulatum Roxb. F—Zingiberaceae.	224/34,35; 363/59.
एडगज	L—Cassia tora Linn. F—Leguminosae.	363/64.
एरण्ड	L—Ricinus communis, Linn. F—Euphorbiaceae.	141/4; 283/16; 285/40,46,
एर्वारु	L—Cucumisu Utilissimus, Roxb. F—Cucurbitaceae.	279/32; 363/68.
ककुभ	L—Terminalia arjuna W. & A. F—Combretaceae.	363/26.
कङ्कुष्ठ	L—Rheum emodi wall. F—Polygonaceae.	95/57.
कङ्कोल	L—Piper cubeba, Linn f. F—Piperaceae.	34/21; 57/23; 224/34,35, 298/9.
कच्छुरा	L—Alagi camelorum, Fish. F—Leguminosae.	363/45.
कट्फल	L—Myrica nagi, Thunb F—Myricaceae.	363/24.

कटम्भरा	L—Paederia foetida Linn. F—Rubiaceae.	363/67.
कटिल्लक	L—Momordica charantia Linn. F—Cucurbitaceae.	363/68.
कटीरमूल कटु	L—Picrorhiza kurroa Royle ex Benth. F—Serophulariaceae.	302/9; 363/43.
कटुक	L—Brassica campestris-ver Sarson Prain. F—Crcuiferae.	224/37,40;
कटुका	L—Picrorhiza kurroa Royle ex Benth F—Serophulariaceae.	285/6,44.
कटुकन्दा (शुक-नासा या नाही)	L—Corallocarpus epigaeus Benth. ex Hook. f.	123/31.
कटुतुम्बी	L—Lagenaria valgaris, Ser. F—Cucurbitaceae.	286/19; 363/69.
कटुरोहा (= कुटकी)	L—Picrorniza kurroa royle ex Benth. F—Serophulariaceae.	283/31.
कटोल्वक (कठिल्लक = कारवेल्ल)	L—Memordica charantia Linn. F—Cucurbitaceae.	279/7.
कटंवङ्ग (= श्योनाक)	L—Flacourtia ramontchi L' Herit. F—Flacourtiaceae.	266/14.
कण्टक (= विककृत)	L—Oroxylum indicum, Vent. F—Bignoniaceae.	363/31.

कण्टकारी (रिका)	L—Solanum xanthocarpum Schrad & Wend. F—Solanaceae.	141/3; 248/5; 285/21; 286/22.
कणा	L—Piper longum Linn. Chavica roxburghii F—Piperaceae.	281/25; 283/31,50; 287/18; 300/31; 363/48.
कणिका (= अग्निमन्थ)	L—Clerodendrum phlomidis Linn. F—Verbenaceae. L—Premna integrifolia Linn. F—Verbenaceae.	202/4; 248/2; 363/34.
कदम्ब	L—Anthocephalus candamba Mig F—Rubiaceae.	30/30; 57/9; 81/49; 108/12; 178/15; 202/18; 267/10; 374/24.
कदर	L—Acacia suma Kurg. F—Leguminosae.	363/29.
कदली	L—Musa sapientum, Linn. F-Musaceae.	65/5; 285/7,71; 363/55.
कन्द	L—Amorphophallus campanulatus, Blume. F—Araceae.	363/69.
कन्धर (= हिंसा = गृध्रनखी = कंथारी)	L—Capparis sepiaria Linn.	289/20.
कपिकच्छु	L—Mucuna pruriens Bek. F—Leguminosae.	363/43.
कपित्थ	L—Feronia elephantum Correa. F—Rutaceae.	69/9; 224/18,21; 302/10.

कपीतन	L—Spondias magnifera, Willd.	363/19.
	F—Anacardiaceae.	
	L—Albizzia lebbeck Benth	363/33, 363/19,33.
	F—Leguminosae.	
कमल	L—Nelumbium speciosum, Willd.	178/12; 205/6; 207/3; 215/27; 262/23;
	F—Nymphaeaceae.	264/7; 267/6; 294/6; 320/12,16,22,29,31.
करञ्ज	L—Pongamia glabra Vent.	283/22; 285/21, 34; 298/9; 299/2; 363/
	F—Leguminosae.	27.
करवीर	L—Nerium odorum, Soland.	62/10; 69/13; 178/13; 202/3; 224/21;
	F—Apocynaceae.	245/25; 248/1.
कंर्कटी	L—Luffa echinala, Roxb.	279/7.
	F—Cucurbitaceae.	
कर्कारु	L—Cucurbita pepo, Linn.	363/68.
	F—Cucurbitaceae.	
कर्कोटक	L—Luffa echinata Roxb.	279/7.
	F—Cucurbitaceae.	
कर्चुरक	L—Curcuma Zedoaria Rosc.	363/61
	F—Zingiberaceae.	
कर्पूर	L—Comphora.	33/17; 57/18; 74/46;
	L—Dryobalanopscamphora, Colebr;	95/40; 211/69; 224/24,28,35; 265/15;
	F—Dipterocarpaceae.	267/17, 18, 19, 20; 283/48; 302/8.
	L—Cinnamomum camphora Nees & Eberm.	

	F—Lauraceae. L—Blumea species. F—Compositae.	
कर्मार	L—Bambusa arundinacea, Willd. F—Graminae.	363/70.
कलशि	L—Uraria picta Desv. F—Leguminosae. L—Uraria lagopoides DC. F—Leguminosae.	363/46.
कल्पतरु		114/35.
(शालि) कलम	L—Oriza Sativa Linn	279/29.
कलम्बि	L—Ipomoea aquatica, Forsk. F—Convolvulaceae.	279/50.
कलाय	L—Pisum sativum, Linn. F—Leguminosae.	75/51.
कलीतक (= यष्टिमधु)	L—Glycyrrhiza glabra, F—Leguminosae.	363/53.
कल्हार (= रक्तकुमुद)	L—Nymphaea alba Linn. F—Nymphaeaceae.	202/7; 207/3,4.
कवक (= छत्रक)	L—Agaricus campe Stris Linn. F—Agariaceae.	299/18.
कशेरुक	L—Scirpus kysoor Roxb. F—Cyperaceae.	289/12.
काकतिन्दु	L—Strychnos nuxvomica, F—Loganiaceae.	363/24.
काकमाची	L—Solanum nigrum, Linn. F—Solanaceae.	302/22; 363/66.
काकमारी	L—Anamirta cocculus Wi. & Arn.	279/38.
काकोडुम्बरी	L—Ficus hispida Linn. F—Moraceae.	363/33.

काकोली (अष्टवर्ग की ओषधि)	L—Roscoea procera; R. Alpina	299/8.
काञ्चनार काञ्ची	L—Bauhinia variegate, Linn. F—Leguminosae.	202/13. 248/5.
कान्ता	L—Callicarpa macrophylla Vahl F—Verbenaceae. L—Prunus mahaleb Linn. F—Rosaceae. L—Aglaia roxburghiara Miq. F—Meliaceoe.	224/24,35.
काश्मरी	L—Gmelina arborea, Linn. F—Verbenaceae.	285/8.
कार्पास	L—Gossypium herbaceum, Linn. F—Malvaceae.	33/4; 78/4; 128/28; 155/18; 156/9; 169/33; 210/8; 230/1; 257/13,30; 283/26; 298/6; 302/19.
कारवी	L—Nigella sativa Linn. F—Ranunculaceae.	285/11,363/67.
कारवेल्ल	L—Momordica charantia Linn. F—Cucurbitaceae.	363/68.
काल (= तिन्दुक)	L—Corchorus capsularis, Linn. F—Tiliaceae.	363/23.
काला (नीलिनी)	L—Indigofera tinctoria Linn. F—Leguminosae.	363/53.
कालानुसार्य्य	L—Parmelia perlata Ach. F—Parmeliaceae.	363/58.

कालेयक(=दारु-हल्दी)	L—Berberis species F—Berberidaceae.	363/49.
कालस्कन्ध (=तमाल)	L—Garcinia morella Desr. F—Guttiferae.	363/35.
काश	L—Saccharum spontaneum, Linn. F—Gramineae.	202/10;206/2,5; 247/3; 300/29.
काश्मीर	L—Crocus Sativas Linn. L—Iridaceae.	35/15; 57/17; 68/13; 75/56; 207/3; 308/10
कालमेषिका (=मञ्जिष्ठा)	L—Rubia cordifolia, Linn. F—Rubiaceae.	363/45.
कालमेषी (=वाकुची)	L—Psoralea corylifolia, Linn. F—Leguminosae.	363/47.
किरात	L—Swertia chirata F—Gentianaceae.	285/4; 353/63.
किंशुक	L—Butea frodosa, Koen ex Roxb. F—Leguminosae.	81/49; 202/9.
कुङ्कुम	L—Crocus sativus, Linn. F—Iridacea.	33/17; 35/5; 69/13; 74/46; 78/10; 43; 96/15; 97/27; 121/16, 18, 20; 128/28; 129/5; 133/38; 178/13; 224/27, 35; 265/7; 267/18, 19, 22; 289/33; 301/11; 323/13, 16.
कुटज	L—Holarrhena antidysenterica, Wall. F—Apocynaceae.	202/13, 15; 248/5; 292/25.

कुटन्नट	L—Oroxylum indicum Vent. F—Bignoniaceae.	363/32.
कुटंनटम	L—Cyperus scariosus R. Br. F—Cyperaceae.	363/60.
कुठेरक	L—Ocimum basilicum Linn. F—Labiatae.	363/40.
कुन्दपुष्प	L—Jasminum pubescens F—Oleaceae.	57/11; 178/12; 202/5; 248/3; 309/14.
कुन्दुरु (=शल्लकी)	L—Gum resin of Boswellia Serrata Roxb. F—Burseraceae.	224/24.
कुब्जक	L—Rosa moschata, Herrm, F—Resaceae.	202/4; 248/2.
कुमारी	L—Aloe barbadensis. Mill. F—Liliaceae.	69/16; 140/2; 363/37.
कुमुद	L—Nymphaea alba, Linn. F—Nymphaeceae.	34/6; 41/14; 68/6; 298/10; 309/14.
कुम्भ	L—Croton tiglium Linn. F—Euphorbiaceae	245/10; 285/56.
कुम्भी	L—Careya arborea Roxb F—Lecythidaceae.	283/27; 363/24.
कुरुण्ट	L—Barleria prionitis, Linn. F—Acanthaceae.	248/2; 285/68.
कुरुबक	L—Barleria cristate, Linn.	248/2; 285/68.

कुरुविन्दक	L—Cyperus rotundus Linn. F—Cyperaceae.	363/69.
कुलक	L—Strychonus nux Vomica Linn. F—Loganiaceae.	363/68.
कुलत्थ	L—Dolichos blflorus Linn. F—Leguminosae.	68/5; 69/7; 279/6, 17, 20, 22, 23; 282/10; 287/15.
कुश	L—Eragrostis cynosuroides, Beauv. F—Gramineae.	24/23, 27; 27/5; 31/46; 33/27; 34/21, 29; 40/8, 14; 57/16, 21, 22; 58/9; 71/45; 75/2, 5, 28, 36; 76/77; 78/42; 81/15; 83/43; 92/42, 54; 93/20, 30; 95/53; 96/23, 64, 71, 114; 97/66; 103/15; 114/12; 115/4; 117/23; 149/13; 163/3; 167/7; 168/8; 171/8; 175/17, 25; 202/10, 15; 218/24; 219/1; 264/24; 266/13,15; 267/6; 285/4, 33; 292/6; 300/29; 372/2; 373/19.
कुष्ठ	L—Saussure lappa, C.B. Clarke F—Compositae.	69/17; 123/28; 177/17; 224/23, 28; 265/7; 276/6; 279/9, 16, 17, 60; 285/19, 54, 69; 289/20, 25, 30; 298/2, 8; 299/12, 16, 43; 300/28; 323/10.

कुसुम्भ (= बर्रे)	L—Carthamus tincti-nctorius, Linn. F—Compositae.	30/19.
कुसुम्भ	L—Carthamus tinctorius, Linn. F—Composita.	30/19; 156/9.
कुस्तम्वरु	L—Coriandrum sativum Linn. F—Umbelliferae.	178/15.
कूर्चशीर्ष (= जीवक)	अष्टवर्ग की औषधि	363/64.
कूष्माण्डक	L—Benincasa cerifera, Savi F—Cucurbitaceao,	50/40; 149/1; 175/15; 202/10, 15; 260/29; 266/14; 270/12; 286/18; 300/29; 363/68.
कृताञ्जलि (लज्जालु)	L—Minosa pudica, Linn. F—Leguminosae.	140/2, 302/11.
कृतमाल	L—Cassia fistula, Linn F—Leguminosae.	141/5, 363/17.
कृष्णा	L—Piper longum Linn Chavica roxburghii F—Piperaceae.	69/18; 215/74; 279/58; 283/2, 6, 17, 18, 33, 45; 285/3, 12, 62; 289/25; 299/4; 300/32.
कृष्णजीरक	L—Carum carvi Linn. F—Umbelliferae.	366/29.
कृष्णतिल	L—Sesamum indicum Linn. F—Pedaliaceae.	177/16; 178/18; 211/24; 260/36.
कृष्णतुलसी	L—Ocimum sanctum, Linn. F—Labiutae.	202/5, 7; 248/4.

21

कृष्णधान्य (=धान्यभेद)	L—Oryza sativa Linn. F—Gramineae.	230/1.
कृष्णधुस्तूर	L—Datura metel Linn. F—Solanaceae	140/3.
कृष्णफल	L—Psoralea corylifolia, Linn. F—Leguminosae.	363/47.
कृष्णला	L—Abrus precatorius Linn. F—Leguminosae.	363/48.
कृमिघ्न (विडङ्ग)	L—Embelia ribes Burm. F—Myrsinaceae.	363/52.
केतकी	L—Pandanus odoratissimus, Roxb. F—Pandanaceae.	202/5, 9, 15; 248/4.
केशर	L—Mesua ferrea Linn. F—Guttiferae.	30/14; 207/3; 256/3; 265/15; 291/6, 22; 299/7; 302/23; 303/10; 320/6, 11; 363/18.
कैटर्य्य (=कट्फल)	L—Myrica nagi, Thunb F—Myricaceae.	363/24.
कोकनद (=रक्तकमल)	L—Nelumbium speciosum Willd. F—Nymphaeaceae.	202/8.
कोकिलाक्ष	L—Hygrophila spinosa, T. And F—Acanthaceae.	363/51.
कोद्रव	L—Paspalum scrobiculatum Linn. F—Gramineae.	165/2.
कोल	L—Zizyphus sativa Gaertn; Z. Vulgxris Lam. F—Rhamnaceae.	298/5.

कोविदार	L—Bauhinia variegata Linn. F—Leguminosae.	363/16.
कोषातकी	L—Luffa aegyptiaca Mill ex Hook. f. F—Cucurbitaceae. L—Luffa acutangula Roxb. F—Cucurbitaceae.	222/8; 287/28; 297/5.
क्रमुक (=शावरलोध्र)	L—Symplocos rocemosa Roxb. F—Symplocaceae.	363/24.
क्रमुक (=पूग)	L—Areca catechu Linn. F—Palme	363/71.
क्रोष्ट्री	L—Desmodium gangeticum D.C. F—Leguminosae.	363/54.
कौन्ती	L—Vitex agnus-castus Linn. F—Verbenaceae.	363/57.
क्रान्ता (=विष्णुक्रान्ता)	L—Clitoria ternatea Linn. F—Leguminosae.	123/30; 224/28.
खदिर	L—Acacia catechu, Willd. F—Leguminosae.	295/52; 141/5; 164/8; 167/6; 224/37; 279/14; 285/25, 31,33; 286/22; 289/33; 308/3; 363/28.
खर्जूर	L—Phoenix sylevestris, Roxb. F—Palmae.	69/11; 173/21; 247/31; 279/25; 300/32.

गजपिप्पली	L—Scindapus officinalis Schott; Syn Pothos officinalis Scott Melet. F—Araceae.	363/48.
गणिका	L—Jasminum aurcu-Vahl F—Oleaceae.	363/36
गणिकारिका	L—Desmodium gangeticum DC. F—Leguminosae,	363/34.
गन्धकारी (=यावनी)	L—Hyoscyamus niger, Linn. F—Solanaceae.	289/12.
गन्धकुटी (=मुरा)	L—Selinium tenuifolium.	366/58.
गन्धपुष्प	L—Saraca indica Linn F—Leguminosae.	218/9.
गन्धपत्र	L—Curcuma zedoarid Rosc F—Zingiberaceae.	224/32.
गन्धमूली	L—Hedychium spicatum Ham ex Smith F—Zingiberaceae.	363/61.
गन्धविहस्तक (एरण्ड)	L—Ricinus communis Linn. F—Euphorbiaceae.	363/29.
गाङ्गेरुकी	L—Grewia hirsuta, Vanb. F—Tiliaceae.	353/56.
गायत्री (=खदिर)	L—Acacia catechu Willd. F—Leguminosae.	363/28

गारुडी (=पाताल गरुडी)	L—Cocculus hirsutus Linn Diels. F—Menispermaceae.	125/45.
गालव(=लोध्र)	L—Symplocos racemosa. Roxb. F—Symplocaceae.	363/2.
गिरिकर्णिका	L—Clitoria ternate Linn. F—Leguminosae.	123/13; 202/13; 363/51.
गिरिमल्लिका	L—Holarrhena antidysenterica Wall. F—Apocynaceae.	248/5; 363/35.
गुग्गुलु	L—Balsamodendron mukul Hook. ex Stocks. F—Burseracae.	60/5; 75/5; 95/59; 97/16; 164/5; 175/53; 202/3; 205/3,28; 212/8; 260/8,18; 266/9; 285/36,45; 292/14,33; 299/12; 308/11; 321/9,11; 322/3; 324/6.
गुञ्जा	L—Abrus precatorius Linn F—Leguminosae.	298/9; 363/48.
गुडूची	L—Tinspora cordifolia (willd) Miers. F—Menispermaceae.	95/28; 123/24; 141/2; 281/5; 283/43,45; 285/3,4,8,14,20, 21, 30,40,45; 289/11,31, 34.
गुडष्प(=मधूक)	L—Bassia latifolia Roxb. F—Sapotoceae.	393/20.
गुडफल(=पीलु)	L—Salvadora persica Linn F—Salvadoraceae.	363/20.

गुन्द्रा	L—Callicarpa macrophylla Vahl F—Verbenaceae. L—Prunus mahaleb Linn F—Rosaceae. L—Aglaia roxburghiana Miq F—Meliaceae.	363/31
गुल्म	L—Typha elephantina Roxb. F—Typhaceae.	302/15.
गुहा	L—Uraria picta Desv. F—Leguminosae. L—Uraria lagopoides DC. F—Leguminosae.	363/46.
गृञ्जन	L—Daucus carota war Sativa DC. F—Umbelliferae.	168/17; 363/65.
गृष्टि	L—Dioscoreaceae. bulbigera Linn. F—Dioscoreaceae. L—Tacca aspera Roxb F—Taccaceae.	363/66.
गोकर्ण	L—Clitoria ternatea Linn F—Leguminosae.	202/9.
गोक्षुर	L—Tribulus terrestris Linn F—Zygophyllaceae. L—Pedalium murex Linn. F—Pedaliaceae.	141/3; 285/41,46; 363/49.

गोधूम	L—Triticum sativum Lam F—Gramineae.	68/3; 95/39,60; 129/3; 168/22; 173/13,15; 211/41; 279/9,12,13, 19, 21,23, 25,32, 37, 38; 283/33; 287/24.
गोपी (= कृष्ण सारिवा)	L—Ichnocarpus fruitescens R.Br. F—Apocynaceae. L—cryptolepis buchanani Roem and Schutt. F—Asclepiadace.	302/23; 363/54.
गोमृत (= गोचन्दना)	L—Tylophora fasciculata Ham ex Wight.	100/4.
गोरक्ष कर्कटी	L—Cucumis momordica Roxb. F—Cucurbitaceae.	140/3.
गोलोमी (= वचा)	L—Acorus calamus, Linn. F—Araceae.	363/50
गोवन्दनी	L—Callicarpa macrophylla Vahl. F—Verbenaceae. L—Prunus mahaleb Linn F—Rosaceae. L—Aglaia roxburghiana Miq F—Meliaceae.	363/31
गोस्तनी (= द्राक्षा)	L—Vitis vinifera Linn. F—Vitaceae	363/52
गोरसर्षप (= सिद्धार्थ)	L—Brassica campestris Var. Sarson Prain. F—Cruciferae.	158/57

ग्रन्थिक	L—Polygonum aviculare Linn F—Polygonaceae.	283/18; 285/17.
ग्रन्थिपर्ण	L—Clerodendrum infortunatum Linn F—Verbenaceae.	363/59.
ग्रन्थिपर्वक	L—Polygomun aviculare Linn. F—Polygonaceae.	224/27.
ग्रन्थिल	L—Flacourtia ramontchi L'H Herit F—Flacourtiaceae.	363/23.
ग्राही (= कपित्थ)	L—Feronia elephantum Correa F—Rutaceae.	363/15.
घनसार	L—Camphora L—Dryobalanops camphora Colebr. F—Dipterocarpaceae. L—Cinnamomum camphora Nees & Eberm. F—Lauraceae.	69/19.
घोण्टा	L—Zizyphus sativa Gaertn; Z vulgaris Lam. F—Rhamnaceae.	363/71.
चक्राङ्गी (= कुटकी)	L—Picrorhiza kurroa Royle ex Benth F—Scrophulariaceae.	363/43.
चञ्चु(= एरण्ड)	L—Richnus communis Linn F—Euphorbiaceae.	363/29.
चणक (= चना)	L—Cicer arientinum Linn F—Leguminosae.	175/6; 279/9.

चण्डी (= चण्डा)	L—Angelica glauca Edgw F—Umbelliferae.	123/23; 125/43.
चतुरङ्गल (= आरग्वध)	L—Cassia fistula, Linn F—Leguminosae.	363/17.
चन्दन	L—Santalum album- F—Santalceae.	33/18; 35/6; 40/14; 41/6; 57/11,18; 59/13; 60/4; 69/17; 74/64; 75/15,57; 78/11; 81/17; 81/58; 91/4; 92/41; 96/69,70,94; 97/37; 123/29,31,32; 133/39; 164/3; 202/22; 205/3; 206/4,9,15; 207/3; 211/42; 224/23; 245/10; 265/15; 267/17,18,19,20; 270/4,48,45,60; 283/5,35; 298/8,10,12; 299/4; 302/12; 302/20; 323/10.
चम्पा	L—Michelia champace Linn. F—Magnoliaceae.	309/15.
चम्पक	L—Michelia champace Linn. F—Magnoliaceae.	57/9; 69/13; 81/50.
चलदल (पीपल का पत्र)	L—Ficus religiosa Linn F—Moraceae.	363/15
चण्य	L—Piper chaba Hunter; Piper officinarum F—Piperaceae.	363/48.
चाङ्गेरी	L—Oxalis corniculata Linn F—Oxalidaceae.	285/60; 363/20
चामरी		132/28.

चिञ्चा	L—Tamarindus indica Linn F—Leguminosae.	283/28.
चित्रक	L—Plumbago zeylanica Linn F—Plumbaginace.	263/19; 279/21; 283/45; 285/39. 47; 289/40.
चित्रकृत	L—Ougeinia dalbergioides Benth F—Leguminosae.	363/19.
चित्रपटोलिका		228/8.
चित्रभानु (= चित्रक)	L—Plumbago zeylanica Linn. F—Plumbaginaceae.	265/12.
चिरविल्व	L—Pongami glabra Vent. F—Leguminosae L—Caesalpinia bonducella Fleming. F—Leguminosae. L—Holoptelia integrifolia Planch, F—Ulmaceae.	363/27.
चीनक	L—Camphora Cinnamomum camphora Nees & Eberm. F—Lauraceae.	175/13.
चुक्र (= अम्लवेतस)	L—Rheumemodi wall F—Polygonaceae. L—Garcinia pedunculata Roxb. F—Guttiferae L—Rumex vesicarius Linn. L—Citrus	363/63.
चुक्रिका	L—Tamarindus indica Linn. F—Leguminosae	363/62.

चूत (= आम्र)	L—Mangifera indica Linn.	81/51; 95/34; 101/4.
	F—Anacardiaceae.	
चोल (चोरक)	L—Angelica glauca Edgw	224/28,32.
	F—Umbelliferae	
जटा	L—Nardostachys jatamansi DC.	363/60.
	F—Valerianaceae.	
जम्बीर	L—Citrus limon Linn.	69/11; 363/18.
	F—Rutaceae	
जम्बु	L—Eugenia jambo Lana Lasu Eugenia heyneana Wall.	69/9; 95/34; 108/12, 13; 224/21; 282/7; 285/58; 294/23; 309/13.
	F—Myrtaceae.	
जयन्ति	L—Clerodendrum phlomidis Linn. f.	205/14; 363/34.
	F—Verbenaceae.	
जया (= भङ्गा)	L—Cannabis sativa, Linn. Cannabis indica Lam.	
	F—Cannabinaceae.	
जया(= अग्निमन्थ)	L—Clerodendrum Phlomidis Linn. f.	
	F—Verbenaceae.	
छगलान्त्रा	Argyreia speciosa, Sweet	363/61
	F—Convolulacea.	
छत्रा	L—Anethum sowa Kurz. Peucedanum graveolens Linn.	363/51
	F—Umbelliferae.	
छत्रा	L—Coriandrum sativum	363/70,
	F—Umbelliferae	

छिन्नरुहा	L—Tinspora cordifollia (Willd) Miers.	222/18.
	F—Menispermaceae.	
	L—Premna integrifolia Linn,	263/34.
	F—Verbenaceae.	205/14: 363/34.
जवाकुसुम	L—Hibiscus rosa-sinensis Linn.	211/25; 257/28.
	F—Malvaceae.	
जवानिका	L—Carum copticum Benth & Hook; Syn Trachyspermum Cammi.	141/4.
	F—Umbelliferae.	
जवापुष्प(= जपा-पुष्प)	L—Hibiscus rosa-sinensis Linn.	283/46: 301/12; 302/23.
	F—Malvaceae.	
जातवेदा (= चित्रक)	L—Plumbago zeylaoica Linn.	149/11.
	F—Plumbaginaceae.	
जातिपत्र	L—Jasminum grandiflorum Linn	224/34; 224/36; 389/9.
	F—Oleaceae.	
जातिपुष्प	L—Jasminum grandiflorum Linn	57/11; 224/31; 260/6.
	F—Oleaceae.	
जातिफल	L—Myristica fragrans Houtt	57/23; 224/34; 36; 265/15,16; 267/20.
	F—Myristicaceae.	
जाती	L—Jasminum grandiflorum Linn.	123/23; 125/45; 224/35; 267/21; 279/14;
	F—Oleaceae.	283/12,32.
जीर (= जीरक)	L—Cuminum cyminum	300/32.
	F—Umbelliferae.	

जोरक	L—Carvm carvi Linn. F—Umbelliferae.	
जोरक	L—Cuminum cyminum F—Umbelliferae. L—Carum carvi Linn F—Umbelliferae.	141/4.
जोव	L—Pterocarpur marsupium Roxb. F—Leguminosae.	363/25.
जोवन्तिका	L—Loranthus longiflourus Desr; Syn Dendrophthoe falcata (Linn. f.) Etting. F—Lornanthaceae	363/41.
जीवन्ती	L—Leptadenia reticulate W. & A. F—Asclepiadaceae. L—Dendrobium macraci Lindi F—Orchidaceae.	283/23; 363/63.
जोवनी	L—Leptadenia reticulate W. & A. F—Asclepiadaceae.	289/38; 363/63.
ज्योतिष्मती	L—Celastrus pahiculatus Willd. F—Celastraceae.	265/15: 286/8; 289/25.
झिण्टी(= सैरेयक)	L—Barleria prionitis Linn F—Acanthaceae.	363/38.
टुण्टुक	L—Oroxylum indicum Vent F—Bignoniaceae.	363/31.
तगर	L—Valeriana wallichii DC. F—Valerianoceae.	57/11; 123/28, 32: 178/12; 202/4; 224/28,31,32; 248/2; 265/6; 287/3.

तण्डुलीयक	L—Amaranthus spinosus Linn F—Amaranthaceae.	40/18; 66/17; 81/15, 63; 115/48: 175/16; 184/6,11,12; 211/31; 260/6, 8,15, 23, 33; 267/2; 279/13; 285/13; 287/29; 292/42; 294/39; 332/8; 307/25,323/7; 363/35.
तन्त्रिका(= अमृता)	L—Tinospora cordifolia (Willd) Miers.	363/41.
तपस्विनी (= जटामासी)	L—Nardostachys jata-mansi DC. F—Valerianaceae.	363/60.
तमाल	L—Garcinia morella Desr. F—Guttiferae.	202/2;248/3; 363/35.
तमालदल	L—Garcinia morellaDesr. F—Guttiferae.	202/7.
तरणि (= घृत कुमारी)	L—Alone barbadensis Mill. Syn. A. vera Tourn. ex Linn. F—Liliaceae.	363/37.
तर्कारी	L—Clerodendrum phlo-midis Linn. f. F—Verbenaceae.	363/34.
तरुराज	L—Cocos nucifera Linn. F—Palmea.	178/15.
ताड़	L—Borassus flabellifer Linn. F—Palmae.	315/2.
तापसतरु	L—Balanites roxburghii Planch. F—Simarubaceae.	363/26.

तामलकी	L—Phyllanthus niruri, Linn F—Euphorbiaceae.	285/8, 363/59.
ताम्बूल	L—Piper betle Linn F—Piperaceae.	70/11; 75/57; 78/44; 211/42; 220/3; 235/15; 260/78; 298/1; 301/18; 326/13.
ताम्बूली	L—Piper betle Linn. F—Piperaceae.	363/57.
तार्क्षंज (रसाञ्जन-दारु हरिद्रा)	L—Curcuma amada Roxb F—Zingiberaceae.	283/23.
ताल	L—Borassus ftabellifer Linn F—Palme	315/2; 363/71.
तालपर्णी (मुरा)	L—Selinium tenuifolium Wall	363/58
तालमूलिका	L—Curculigo orchioides Gaertn. F—Amaryllidaceae.	363/56.
तिक्त	L—Trichosanthes dioica Roxb F—Cucurbitaceae.	283/19; 363/68.
तिक्ता	L—Picrorhiza kurroa Royle ex Benth. F—Scrophulariaceae.	283/33; 289/33;300/31.
तिक्तशावक (=वरण)	L—Crataeva nurvala Buch-Ham. F—Capparidaceae.	363/18.
तिन्दुक	L—Diospyros embryopteris Pers F—Ebenaceae.	363/23.
तिमिर		202/10.
तिरोट	L—Symplocos racemosa. Roxb. F—Symplocaceae.	363/22.

तिल	L—Sesamum indicum Linn. F—Pedaliaceae.	24/41; 34/21; 35/4; 40/18; 41/12; 57/13, 21; 59/53; 66/11,17; 68/3; 69/7,11; 70/7, 92: 71/45; 81/15,16, 51; 92/52; 93/14; 95/ 39,48,50,53,60; 96/ 71,98; 105/4; 115/48; 117/10,19,36;121/77; 135/6; 149/13: 157/ 40; 163/8,26; 167/ 41; 175/13,14; 178/ 2; 188/8,9; 191/2; 199/3; 203/13; 205/ 2,5; 209/23; 210/8, 13; 211/20,43; 212/ 31,32; 215/10,25; 218/5; 224/33; 229/ 15; 247/28; 260/6,21, 24,59; 261/20; 262/ 23; 263/4; 265/11; 267/2,9,23, 268/21; 279/18,36,41, 42,58; 282/2,11; 283/13; 285/68; 286/3,16; 289/26,35; 290/8; 292/32,37; 299/21, 33,34,35; 301/12; 302/3,15; 306/12; 307/3; 309/12,15: 311/27; 311/28; 313/ 20; 321/5; 323/6; 354/12; 372/37; 383/ 16.

तिलक	L—Wendlandia exerta DC.	123/29; 202/6; 248/3.
	F—Rubiaceae.	
तिल्व	L—Symplocos racemosa Roxb.	363/22.
	F—Symplocaceae.	
	L—Symplocos crataegoides Buch Ham.	
	F—Symplocaceae.	
तीक्ष्णगन्धक	L—Moringa pterygosperma Gaertn.	363/21
	F—Moringaeae.	
तुङ्ग	L—Colophyllum inophyllum Linn.	363/18
तुण्डिकेरी	L—Coccinia indica. W. & A.	363/62
	F—Cucurbitaceae.	
तुलसी	L—Ocimum sanctum Linn.	248/4; 297/8
	F—Labiatae.	
तृणधान्य (=नीवार)	L—Hygroryza aristata Nees.	366/26
	F—Gramineae.	
तृणराज	L—Borassus flabellifer Linn.	363/71
	F—Palme.	
तेजन	L—Bambusa arundinacea Willd	363/70
	F—Gramineae.	
त्वक्	L—Cinnamonum zeylanicum Bluma.	224/36; 265/6,15; 283/28,36; 285/58
	F—Lauraceae.	

त्वक्पत्र	L—Cinnamomum cassia, Blume. F—Lauraceae.	224/36; 283/36
त्वकसार	L—Bambusa arundinacea Willd. F—Gramineae.	283/22; 363/70
दद्रुघ्न (= चक्रमर्द)	L—Cassia tora Linn. F—Leguminosae.	363/64
दधित्थ	L—Feronia elephantam Correa F—Rutaceae.	363/15
दधिपल	L—Feronia elephantam Correa. F—Rutaceae.	363/16.
दन्तशठ	L—Feronia elephantam Correa. F—Rutaceae.	363/16
दन्तशठ.	L—Citrus limon Linn. F—Rutaceae.	363/18.
दन्तधावन	L—Acacia catechu Willd F—Leguminosae.	363/28.
दन्ती	L—Boliospermum montanum Muell-Arg. F—Euphorbiaceae.	283/17; 23; 285/48; 287/20
दर्भ	L—Eragrostis cynosuroides Beaur. Syn Desmostachya bipinnata stapf. F—Gramineae.	24/22; 24/29; 35/5; 57/10; 60/6; 61/8; 65/35; 66/7; 69/6; 75/18,34; 81/48,58, 66,90; 83/50; 90/16; 92/51; 92/56; 93/15; 95/39,47; 117/7; 210/14; 266/12; 302/15

दशपुर	L—Oroxylum indicum Vent.	363/60
	F—Bignoniaceae.	
दाडिम	L—Punica granatum Linn. Punicacese	69/12; 279/7,20,37; 282/7; 285/4,11,13, 26; 289/16
दार्वी	L—Berberis species.	283/15,32,33; 285/
	F—Berberidaceae.	35; 363/50
दारु	L—Berberis species. ,	283/39, 285/32,48,
	F—Berberidaceae.	61; 363/50
दारु	L—Cedrus deodara (Roxb) Loud.	363/30
	F—Pinaceae.	
दिव्या	L—Hydrocotyle asiatica Linn.	123/24
	F—Umbelliferae.	
दीर्घवृन्त	L—Oroxylum indicum Vent.	363/32
	F—Bignoniaceae.	
दीप्यक (=अजाजी)	L—Cuminum cyminum Linn. Carum carvi Linn.	283/38
	F—Umbelliferae.	
दुरालभा	L—Fagonia arabica Linn.	289/33; 363/45
	F—Zygophyllaceae.	
दुःस्पर्श	L—Solanum xanthocarpum Schard & Wendl.	283/35; 363/46.
	F—Solanaceae,	
दुष्प्रधर्षिणी	L—Solanum melongena Linn.	363/55.
	F—Solanaceae	

दूर्वा	L—Cynodon dactylon (Linn) Pers F—Gramineae.	34/20; 35/6; 57/10, 22,23; 74/76; 75/23; 78/24, 51; 81/15, 17,51; 90/7; 95/52; 100/5; 103/11. 164/8; 167/7; 215/28; 224/24; 230/19; 247/3; 260/9, 47, 59; 262/23; 266/18; 280/5; 283/6; 289/52; 300/19; 302/16; 306/17; 307/25; 308/20; 321/7, 10; 323/1; 326/24.
देवदारु	L—Cedrus deodara (Roxb) Loud. F—Pinaceae.	283/5; 285/7, 49, 69; 289/31; 292/33 300/33; 323/11.
देवधान्य(= धान्य भेद)	L—Oryza sativa Linn. F—Gramineae.	175/13.
देववल्लभ (= केशर)	L—Calophyllum inophyllum Linn.	363/18.
देविका	L—Anisomeles malabarica R. Br. F—Labiata.	297/8.
देवी (= स्पृक्का)	L—Anisomeles malabarica R. Br. F—Labiatae.	302/18; 363/60
दैत्या (= मुरा)	L—Selinum tenvifolium Wall.	363/58
द्रवन्ती	L—Croton tiglium Linn. F—Euphorbiaceae.	363/44

द्राक्षा	L—Vitis vinifera Linn. F—Vitaceae.	173/21; 279/21,36; 283/20,32; 285/11; 289/18,21; 300/30; 302/21; 363/52
द्राविडक	L—Curcuma zedoaria Rosc. F—Zingiberaceae.	363/61
द्विपत्रक	L—Bauhinia variegata Linn. F—Leguminosae.	363/16
द्रोणपुष्प	L—Leucas cephalotes Spreng. F—Labiatae.	308/14
धवल कुकुभ	L—Terminalia arjuna W. & A. F—Combretaceae.	245/10
धातकी	L—Woodfordia floribunda Salisb. Syn. Woodfordia fruticosa Kurz. F—Lythraceae.	285/35,58,67; 287/13; 292/24
धात्री	L—Pyllanthus emblica Linn. F—Euphorbiaceae.	58/18; 80/7; 229/9; 297/13,40,43; 285/32; 289/33; 300/22, 33; 302/16,25; 327/13.
धावजी (= पृश्निपर्णी)	L—Uraria picta Desr. F—Leguminosae. L—Uraria lagopoides DC. F—Leguminosae.	285/20; 363/46

धान्य	L—Oryza sativa Linn. F—Gramineae.	37/11; 69/19; 96/65; 119/52; 121/77; 129/3,4,5; 141/4; 168/36; 170/18; 211/31, 41; 212/30; 241/18; 253/64; 254/17; 258/39; 259/97; 260/4; 267/23; 279/19; 283/10,39; 309/3; 366/25; 371/36.
धूस्तूर	L–Datura stramonium Linn. Datura tatula Linn. Datura metal Linn. Datura innoxia, Miller F—Solanaceae.	202/14; 260/18; 363/39.
धूप	L—Pinus longifolia Roxb. F—Pinaceae.	206/10, 264/3; 269/3.
धूर्त	L—Datura stramonium Linn Datura tatula Linn Datura metal Linn Datura innovia, Miller F—Solanaceae.	363/39.
ध्रुवा	L—Desmodium gangeticum DC. F—Leguminosae.	363/55.
नख	L—Helix aspera, Achatina fulica.	224/23, 26;32 323/11.
नट	L—Oroxylum indicum Vent. F—Bignoniaceae.	363/31.

नक्तमाल L—Pongami globra Vent 363/27
F—Leguminosae.

नल L—Phragmites kirka Trin 289/8, 14,
F—Gramineae.

L—Lobelia nicortianaefolia Heyne.
F—Lobeliaciae.

नलद L—Andropogon muricatus Retz; 224/30; 283/69.
Vetiveria zizanioides (Linn) Nash
F—Gramineae.

नवमालिका L—Jasminum arborescens Roxb. 363/36.
F—Oleaceae.

नवा L—Trianthema portulac-astrum Linn. 283/39
Ficoidaceae.

नागकर्ण (= अश्वकर्ण) L—Shorea rebus Gaertn f. 202/9
F—Dipterocarpaceae.

नागकेशर L—Mesua ferrea Linn. 58/17; 93/17; 265/6; 323/14
F—Guttiferae.

L—Ochrocarpus longifolius Benth & Hook. f.
F—Guttiferae.

नागपुष्प L—Mesua ferrca Linn. 40/10, 69/13; 123/32; 323/13
F—Guttiferae.

	L—Ochrocarpus longifolius Benth & Hook. f.	
	F—Guttiferae.	
नागवला	L—Grewia hirsuta, Vanb	363/56
	F—Tiliaceae.	
नागर	L—Zingiber officinal Roscoe.	279/4,24,61; 285/8, 39,41,49; 287/14; 289/3,7,10,12,30
	F—Zingiberaceae.	
नागवल्ली	L—Piper betle Linn.	224/41; 285/8; 363/57.
	F—Piperaceae.	
नाड़ी (= पट्शाक)	L—Corchorus olitorius Linn.	224/27.
	F—Tiliaceae.	
नादेयी (= अम्बुवेतस)	L—Salix tetrasperma Roxb.	363/20
	F—Salicaceae.	363/23
नादेयी (= न्यग्रोध)	L—Ficus bengalensis Linn.	69/8; 151/34; 285/33.
	F—Moraceae.	
नारक	L—Dolichos lablab Linn.	279/7.
	F—Leguminosae.	
नारङ्ग	L—Citrus reticulata Blanco.	69/11
	F—Rutaceae.	
नारायणी (= शतावरी)	L—Asparagus racemosus Willd.	363/49
	F—Liliaceae.	
नारिकेल	L—Cocos nucifera Linn.	69/12,14; 173/22; 247/31; 283/10
	F—Palmeae.	

निचुल	L—Barringtoni acutangula (Linn) Gaertn. F—Lecythidaceae.	363/32
निदिग्धिका	L—Solanum xanthocarpum Schrad & Wendl. F—Solanaceae.	363/46
निम्ब	L—Azadirachta indica A Juss; Melia azadirachta Linn. F—Meliaceae.	141/2; 158/38,57; 279/7,13,15,26,54, 56; 283/23; 285/20, 21,33,57,75; 286/9, 21; 287/17; 289/11, 299/18,43,46; 363/ 33.
निम्बतरु (= पारिभद्र)	L—Erythrina indica Lam. F—Leguminosae.	363/19
निर्गुण्डी	L—Vitex negundo Linn. F—Verbenaceae.	256/22; 279/61; 283/ 11; 285/16,34,51; 286/6,9; 289/9,35; 363/36.
निशा	L—Curcuma longa Linn. F—Zingiberaceae.	57/25; 123/29; 283/ 9,25,26; 300/30,33; 302/8.13; 363/30.
निशाकर	L—Camphora officinarum	224/34
नपि	L—Anthocephalus cadama Miq. F—202 Rubiaceae.	202(8; 248/2
नील उत्पल	L—Nelumbium speciosum Willd. F—Nymphaeaceae.	144/30; 269/30; 285/ 67,79; 300/13
नीलअब्ज	L—Nelumbium speciosur Willd. F—Nymphaeaceae.	269/30; 285/79

नीलकमल	L—Nelumbium speciosu Willd. F—Nymphaeoceae.	202/14: 320/22
नीलकुरण्ट	L—B. strigosa Willd.	286/4.
नीला		363/8.
नीवार	L—Hygroryza aristata Nees F—Gramineae	66/17; 69/7; 95/60; 175/15, 16 160/2; 279/5, 29; 366/26.
पङ्कज (= कमल)	L—Nelumbium speciosum Willd. F—Nymphaeaceae	149/14; 308/9.
पङ्कज (रक्त)	L—Nelumbium speciosum Willd. F—Nymphaeaceae.	308/7.
पङ्कज (श्वेत)	L—Nelumbium speciosum Willd. F—Nymphaeaceae.	308/6.
पचम्पचा	L—Berberis species. F—Berberidaceae.	363/50
पञ्चांगुल	L—Ricinus communis Linn: F—Euphorbi-aceae.	363/29.
पट्टिकाख्य	L—Symplocos crataegoides Buch. Ham. F—Symplocaceae.	363/24.
पटोल	L—Trichosanthes dioica Roxb. F—Cucurbitaceae.	279/7, 13; 35; 283/39; 285/20, 21, 27, 29, 31, 44, 57; 363/68.
पथ्या	L—Terminalia chebula Retz. Terminalia citrina Roxb. F—Combretaceae.	224/41; 279/24; 283/13, 21, 22, 34, 45; 285/32, 44, 76; 300/27.

पद्म	L—Nelumbiumspeicosum Willd.	21/3; 24/10; 29/20, 24; 30/2, 3, 7, 13; 34/20; 39/21; 40/8, 19; 41/14; 50/6; 51/10; 57/6, 16, 22; 73/10; 74/32; 81/50; 93/13: 95/29; 96/106; 171/12; 202/5, 8; 245/25 248/4; 260/58; 263/4; 267/10; 21; 23/25; 294/42; 297/21; 302/18; 303/10,15; 17,23; 304/19; 306/8; 308/12, 20; 303/1, 320/6; 7, 10, 20, 29, 35, 37, 38, 43, 47; 326/11, 14; 374/22
पद्म (= रक्त)	L—Nelumbium speciosum Willd.	93/15
	F—Nymphaeaceae.	
पद्म (= शुक्ल)	L—Nelumbium speciosum Willd.	138/13
	F—Nymphaeaceae.	
पद्मक	L—Prunus pudum Roxb. ex. Wall.	279/59; 285/7; 289/39; 298/8,12; 300/33.
	F—Rosaceae.	
परिपेलव	L—Celosia argentea Linn.	363/60
	F—Amarnthaceae.	
पर्जन्य (= मुस्तक)	L—Cyperus rotundus Linn.	265/12
	F—Cyperaceae.	

पर्णं (= पलाश)	L—Buter frondosa Koen ex Roxb.	153/9
	F—Leguminosae.	
पनस	L—Arlocarpus integrifolia Linn. f.	69/12
	F—Moraceae.	
पयोमुचा (= मुस्तक)	L—Cyperus rotundus Linn.	285/5,33.
	F—Cyperaceae.	
पर्णास	L—Ocimum basilicum Linn.	363/40
	F—Labiatae.	
पर्पट	L—Oldenanldia corymebosa Linn.	14/4; 279/4,7,15,26; 285/31
	F—Rubiaceae.	
	L—Fumaria indica Pugsley.	
	F—Fumariaceae.	
	L—Polycarpea corymbosa Lam.	
	F—Caryophyllaceae.	
	L—Justicia procumbens Linn.	
	F—Acanthaceae.	
	L—Glossocardia linearifolia Lass.	
	F—Compositae.	
	L—Mollugo strica Linn.	
	F—Ficoidaceae.	
पर्पटी	L—Pogostemon patchouli Hook. f.	285/4
	F—Labiatae.	

परूषक	L—Grewia asiatica Linn. F—Tiliaceae.	279/33.
पलाश	L—Buteafrondosa ex Roxb. F—Leguminosae.	57/9; 59/52; 60/11; 69/8; 70/7; 78/41; 83/41; 95/48; 95/52; 155/20; 164/8; 167/6; 245/45; 260/34; 267/6; 279/57; 285/50; 286/7; 299/38; 308/20; 323/15.
पत्र	L—Cinnamomum tamala Nees & Eberm. F—Lauraceae.	69/17; 265/15.
पत्रोर्ण	L—Oroxylum indicum Vent. F—Bignoniaceae.	363/31.
पाटलि	L—Stereospermum suaveolens DC. F—Bignoniaceae.	51/85; 81/51; 202/3; 248/1; 279/60; 285/3; 292/24; 298/8; 309/14; 363/24.
पाठा	L—Cissampelos pareira Linn. F—Menispermaceae.	45/28; 142/19; 267/12; 283/32, 33; 285/56; 59,61; 289/25; 292/28; 300/27, 31; 363/42.
पारिजात	L—Erythrina indica Lam. F—Leguminosae.	3/9; 363/19.
पारिभद्र	L—Erythrina indica Lam. F—Leguminosae.	363/19.
पालङ्की	L—Spinacia oleracea Linn. F—Chenopodiaceae.	175/15

पावन		285/2.
पावन्ती		202/4; 248/2.
पाशुपत	L—Mimusops elengi Linn. F—Sapotaceae.	363/40.
पिचुमर्द	L—Azadirachta indinca, A. Juss; Melia azadirachta, Linn. F—Meliaceae.	363/33.
पिच्छला	L—Aquilaria agallocha Roxb. F—Thymelaeoceae.	363/34.
पिण्डीतक	L—Randia dumetorum Lam. F—Rubiaceae.	298/14, 363/30.
पिप्पल	L—Ficus religiosa Linn. F—Moracea.	83/44; 95/52; 108/12; 153/9; 164/8; 167/6.
पिप्पली	L—Piper longum Linn. Chavica roxburghii F—Piperaceae.	141/2; 279/27; 283/16; 285/2, 8, 10, 14, 39, 44, 47, 54, 63, 65; 286/20; 287/12, 30; 289/13, 39, 30, 41, 42, 302/8.
पीलु	L—Salvadora persica Linn. F—Salvadoraceae.	363/20.
पीलुक	L—Strychnos nuxvomica Linn. F—Loganiaceae.	363/24.
पीलुपर्णी	L—Marsdenia tenacissima W. & A. F—Asclepiadeceae.	363/42.

	L—Sansevieria roxburghiana Schult.	
	F—Haemodoraceae.	
	L—Bauchinia vahlii W. & A.	
	F—Leguminosae.	
	L—Clematis gouriana Roxb.	
	F—Ranunculaceae.	
	L—Maerua arenaria Hook f. & Th.	
	F—Capparidaceae.	
	L—Helicteres isora Linn.	
	F—Sterculiaceae.	
पीलुपर्णी	L—Occinia indica W.&A.	363/62.
	F—Cucurbitaceae.	
पीतदारु	L—Cedrus deodara (Roxb) Loud.	363/30.
	F—Pinaceae.	
पीतद्रु	L—Pinus longifolia Roxb.	363/33.
	L—Pinaceae.	
पीतन	L—Spondia mangifera Willd.	363/19.
	F—Leguminosae.	
पीतसाल	L—Pterocarpus marsuplum Roxb.	363/25
	F—Leguminosae.	
पुण्ड्रक	L—Hiptage madoblota Gaertn.	363/37
	F—Malipighiaceae.	
पुण्डरीक	L—Nelumbium speciossum, Willd.	30/29.
	F—Nymphaeaceae.	

पुन्नाग	L—Calophyllum inophyllum Linn.	69/13; 282/6; 363/18.
पुनर्नवा	L—Trianthema portulacastrum Linn.	123/31: 141/3; 265/6; 285/32, 46; 286/15/326/24.
	F—Ficoidaceae.	
पुरुष (= पुन्नाग)	L—Calophyllum inophyllum Linn.	363/18.
पुष्कर	L—Inula racemosa Hook f.	285/17; 289/12.
	F—Compositae.	
	L—Iris germania, Linn.	
	F—Iridaceae.	
पुष्पफल (दन्तशठ)	L—Feronia elephatm Correa.	363/16.
	F—Rutaceae.	
पृथक्पर्णी	L—Uraria picta Resv.	285/3; 363/46.
	F—Leguminosae.	
	L—Uroria lagopoides DC.	
	F—Leguminosae.	
पुत्रजीवी	L—Putranjiva roxburghii Wall.	140/2.
	F—Euphorbiaceae.	
पुत्रजीवो	L—Polyalhina longifolia Benth & Hook f.	302/11.
	F—Annonaceae.	
पृश्निपर्णी	L—Uraria picta Resv.	363/46.
	F—Leguminosae.	
	L—Uraria lagopoides DC.	
	F—Leguminosae.	

पूग	L—Morus indica Griff.	69/12; 224/39, 40; 363/71.
	F—Moraceae.	
पूतिका	L—Basella rubra Linn.	175/15.
	F—Basellaceae.	
पूतिकाष्ठ (= देवदारु)	L—Cedrus deodara (Roxb) Loud.	363/30.
	F—Pinaceae.	
पूतिकरज	L—Caesalpinin bonducella Fleeming.	363/27.
	F—Leguminosae.	
पूतिफली	L—Psoralea corylifolia Linn.	363/47.
	F—Leguminosae.	
पूतीक (= चिरबिल्व)	L—Holoytetia integrifolia Planch.	283/12, 14.
	F—Ulmaceae.	
पोष्कर	L—Iris germanic, Linn	285/8
	F—Iridaceae	
प्रकीर्य	L—Caesalpina bonducella Fleeming	363/27.
	F—Leguminosae.	
प्रतिविषा	L—Aconitum helerophyllum Wall	363/49.
	F—Ranunculaceae	
प्रमोदक (= धान्य भेद)	L—Oryza sativa Linn	279/5.
	F—Gramineae.	
प्रत्यक्पर्णी	L—Acyranthes aspera, Linn	363/44.
	F—Amaranthaceae.	

प्रत्यक्पुष्पी (= धान्य भेद)	L—Oryza sativa Linn.	289/24.
	F—Gramineae.	
प्रतिविषा	L—Aconitum heterophyllum, Wall.	363/49
	F—Ranunculaceae.	
प्रस्थपुष्प	L—Origanum majorana Linn.	363/39.
	F—Labiatae.	
प्राचीना	L—Cissampelos pareira Linn.	363/42
	F—Menispermaceae.	
प्रावृषायी	L—Mucuna pruriens Bek.	363/43.
	F—Leguminosae.	
प्रसारणी	L—Paederia foetida Linn.	285/42; 363/67.
	F—Rubiaceae.	
प्रसातिका		149/13.
प्लक्ष	L—Ficus infectoria Roxb.	34/4; 57/9; 95/28; 247/24; 289/ 29.
	F—Moraceae.	
प्रियङ्गु	L—Callicarpa macrophylla Vahl.	363/31
	F—Verbenaceae.	
	L—Prunus mahaleb Linn.	
	F—Rosaccae.	
	L—Aglaia roxburghians Miq.	
	F—Meliaceae.	
फञ्जिका	L—Clerodendron serratum Spreng.	363/44.
	F—Verbenaceae.	

	L—Bicrasma qeassioides, Ben.	
	F—Simarubaceae.	
	L—Premna herbacea, Roxb.	
	F—Verbenaceae.	
	L—Clerodendrum siphonanthus (R. Br.) C.B. Clarke.	
	F—Verbenaceae.	
फणिज्झक	L—Origanum majorana.	363/39.
	F—Labiatae.	
फल (= मदन फल)	L—Randia dumetorum Lam.	279/58; 283/9, 26, 40, 41; 285/50.
	F—Rubiaceae.	
फल्गु	L—Ficus hispida Linn.	363/33.
	F—Moraceae.	
फलिनी	L—Callicarpa macrophylla Vahl.	363/31.
	F—Verbenaceae.	
	L—Prunus mahaleb Linn.	
	F—Rosaceae.	
	L—Aglaia roxburghiana Miq.	
	F—Meliaceae.	
फलिनी कुसुम	L—Callicarpa macrophylla Vahl.	298/7.
	F—Verbenaceac.	
	L—Prunus mahaleb Linn.	
	F—Rosaceae.	
	L—Aglaia roxburghiana Miq.	
	F—Meliaceae.	

फली	L—Callicarpa macrophylla Vahl.	300/28; 363/31.
	F—Verbenaceae.	
	L—Prunus mahalab Linn.	
	F—Rosaceae.	
	L—Aglaia roxburghiana Miq.	
	F—Meliaceae.	
फेणिल	L—Sapindus mukorossi Gaertn.	363/21.
	F—Sapindaceae.	
बला	L—Sida cordifolia Linn.	57/14; 123/23; 125/44; 141/3; 265/7; 267/10; 283/20,43; 285/7,35; 285/71; 286/21; 292/23; 297/8; 299/11; 363/52.
	F—Malvaceae.	
बकुल	L—Minusops elengi Linn.	57/9, 202/18; 224/31: 282/7; 363/34.
	F—Sapotaceae.	
बदर	L—Pyrus malus Linn.	75/57; 279/25; 363/66.
	F—Rosaceae.	
बदरा(= वाराही)	L—Dioscorea bulbifera Linn.	363/66.
	F—Dioscoreaceae.	
	L—Tacca aspera Roxb.	
	F—Taccaceae.	
बदरी	L—Zizyphus Lam.	285/58.
	F—Rhamnaceae.	
बन्धूक पुष्प	L—Pentapetes phoencea Linn.	38/15; 81/49.
	F—Sterculiaceae.	

बर्वरा	L—Ocimum basillcum Linn. F—Labiatae.	202/5.
वर्हि	L—Clerodondrum infortunatum Linn. F—Verbenaceae.	363/59.
बला	L—Sida cordifolia Linn. F—Malvaceae.	95/37; 279/22,52.
वहुवारक	L—Cordia myxa Roxb C. dichotoma Forst, F.	363/22.
बाकुची	L—Psoralea corylifolia, Linn. F—Leguminosae.	283/13; 286/3; 363/47.
वाण (= भद्रमुञ्ज)	L—Saccharum muja Roxb. F—Granineae.	
वाण(= नील कटसैरया)	L—B. strigosa Willd.	248/2.
बाणपुष्प	L—B. strigosa Willd.	202/5.
बाल (= सुगन्धबाला)	L—Pavonia odorata Willd. F—Malvaceae.	224/24; 287/22.
बालक(= सुगन्ध-वाला)	L—Pavonia odorata Willd. F—Malvaceae.	67/17; 224/30; 265/15.
बाल तनय	L—Acacia catechu Willd. F—Leguminosae.	363/28.
बाह्लीक(= हिंगु)	L—Berula narther, Boiss; F. alliacea Boiss; Ferula foetida Regel. F—Umbelliferae.	366/30.

बिभीतक	L—Terminalia belerica Roxb. F—Combretaceae.	279/18.
बिल्व	L—Aegle marmelos Corr. F—Rutaceae.	45/15; 69/13; 73/13; 81/50; 95/39; 141/3; 139/14; 153/9; 171/12; 178/17; 184/6; 202/6, 9; 205/6, 7; 224/2; 248/3; 261/58; 262/23; 263/2, 4; 267/6; 283/20; 285/3, 8; 58; 286/2; 287/13; 287/22; 289/13; 292/25; 299/7; 299/38; 307/25; 308/5; 16, 309/15; 327/16.
बीजपूरक		74/51; 102/4.
बीजपूरद बृहती	L—Solanum indicum Linn. F—Solanaceae. L—Solanum torvum Swartz. L—Solanum melogena Linn.	285/4, 46; 289/20; 302/23.
बोधिद्रुम	L—Ficus religiosa Linn. F—Moraceae.	363/15.
बीजपूरक	L—Citrus medica Linn. F—Rutaceae.	74/51, 102/4.
बृहती	L—Solanum indicum Linn. F—Solanaceae. L—Solanum torvum Swartz. L—Solancum melogena Linn.	285/4, 46; 289/20; 302/23.

ब्रह्माक्ष	L—Butea koen ex Roxb. F—Leguminosae.	279/13.
ब्रह्मदण्डी	L—Amberboa divaricata Kuntze. F—Compositae.	306/4.
ब्राह्मणी	L—Clerodendron serratum, Spreng. F—Verbenaceae. L—Picrasma qussioides, Ben. F—Simarubaceae. L—Premna herbacea, Roxb. F—Verbenaceae. L—Clerodendrum siphonanthus (R. Br.) C. B. Clarke. F—Verbenaceae.	363/44.
ब्राह्मी	L—Bacopa monnieri Linn Pennell (Linn.) Herpestis monniera (Linn) H. B. & K. F—Scrophulariaceae.	222/8; 265/7; 285/19.
ब्रीही	L—Oryza sativa Linn. F—Gramineae.	96/60; 260/8; 311/33.
भंगरस	L—Eciipta-alba Hassk. F—Compositae.	280/10: 286/12; 302/
भङ्गराज	L—Eclipta-alba Hassk. F—Compositae.	57/13; 125/45; 140/1, 6; 141/4; 202/7; 205/6; 248/3; 279/40; 283/6, 21, 42; 285/25; 286/13, 19; 302/13; 304/13. 263/67
भद्र		

भद्रबला	L—Paederia foetida Linn. F—Rubiaceae.	363/67
भण्टाकी	L—Solanum melongena Linn. F—Solanaceae.	363/55.
भण्डीरी	L—Rubia cordifolia, Linn. F—Rubiaceae.	363/45
भल्लाट		93/17.
भल्लातक	L—Semecarpus anacardium, Linn. F—Anacardiaceae.	77/20; 280/3.
भल्लातकी	L—Semecarpus anacardium, Linn F—Anacardiaceae.	363/25
भार्गी	L—Clerodendron serratum, spreng. F—Verbenaceae. L—Picrasma quassioides, Ben F—Simarubaceae. L—Premna herbacea, Roxb. F—Verbenaceae. L—Clerodendrum siphonanthus (R. Br) C.B. Clarke. F—Verbenaceae.	285/8, 292/29; 300/31; 363/44.
भीरु	L—Asparagus racemosus Willd. F—Liliaccae.	125/44.

भूर्ज	L—Betula utilis D. Don. F—Betulaceae.	312/22; 315/2,14.
भूत (=जटामासी)	L—Nardostachys jasta-manasi DC. F—Valerianaceae.	299/18.
भूनिम्ब (किरात)	L—Swertia chirata (Buch Ham). F—Gentianaceae.	283/19; 285/30,31, 50.
भूमिजम्बुक (=नादेयी)		363/23.
भूस्तृण	L—Cymbopogon citratus (DC) Stapj. Andropogon Citratus DC. F—Graminea.	173/37; 363/70.
मञ्जिष्ठा	L—Rubia cordifolia, Linn. F—Rubiaceae.	123/31,32; 224/32; 265/7; 289/21,30; 292/24; 298/10.
मण्डूकपर्ण	L—Orxylum indicum, Vent. F—Bignoniaceae.	363/31.
मण्डूकपर्णी	L—Centell aasiatica(Linn) Vrban; Hydrocotyle asiatica, Linn. F—Umbelliferae.	222/9, 363/45.
मदन	L—Randia dumetorum Lam. F—Rubiaceae.	279/63.
मन्दार (=श्वेतार्क)	L—Calotropis gigantea (Linn) R. Br. ex Ait. F—Asclepiadaceae.	

मन्दार (= परिभद्र)	L—Erythrina indica Lam. F—Leguminosae.	36/13,57; 37/4; 202/4; 363/19.
मन्मथः (= दधित्थ)	L—Feronia elephatam Correa. F—Rutaceae.	363/15.
मधुक	L—Clycyrrhiza glabra, Linn. F—Leguminosae.	173/21; 279/50; 285/10,13.28,35,68; 289/21; 302/10; 363/53.
मधुकर (= जीवक) अष्टवर्ग की औषधि		363/64.
मधु(धू)क पुष्प (मधूक)	L—Bassia latifolia Roxb. F—Sapotacea.	309/15.
मधुद्रुम	L—Bassia latifolia Roxb. F—Sapotaceae.	363/20.
मधुपर्णी	L—Tinospora cordifolia (Willd) Miers. F—Menispermaceae.	363/41.
मधुयष्टि	L—Clycyrrhiza glabra, Linn. F—Leguminosae.	292/30; 363/53.
मधुरा	L—Foeniculum vulgare Mill, Syn anethum Foeniculum. F—Umbelliferae.	363/66.
मधुरिका	L—Anethum sowa Kurz. Peucedanum graveolens, Linn. F—Umbelliferae.	363/51.
मधुशिग्रु	L—Moringa pterygosperma Gaertn. F—Moringaceae.	363/21.

मधुश्रेणी (=मूर्वा)	L--Marsdenia tenacis-sima. W. & A.	363/42.
	F—Asclepiadaceae.	
	L--Sansevieria roxburghi-ana Schult.	
	F—Haemodoraceae.	
	L—Bauhinia vahlii W. & A.	
	F—Leguminosae.	
	L—Clematis gouriana Roxb.	
	F—Ranunculaceae.	
	L—Maerua arenaria Hook f. & Th.	
	F—Capparidaceae.	
	L—Helicteres isora Linn.	
	F—Sterculiaceae	
मधूक	L—Bassia latifolia Roxb.	97/13; 265/6; 285/33; 289/29; 363/20.
	F—Sapotaceae.	
मधूक पुष्प	L—Bassia latifolia Roxb.	244/5.
	F—Sapotaceae.	
मधूलिका (=मर्वा)	L—Marsdenia tenacissima W. & A.	363/42.
	F—Asclepiadaceae.	
	L—Sansevieria roxburghi-ana Schult.	
	F—Haemodoraceae.	
	L—Bauhinia vahlii W. & A.	
	F—Leguminosae.	
	L—Clematis gouriana Roxb.	
	F—Ranunculaceae.	

	L—Maerua arenaria Hook f. & th.	
	F—Capparidaceae.	
	L—Helicteres isora Linn.	
	F—Sterculuaceae.	
मयूरक	L—Achyranthes aspera Linn.	363/44.
	F—Amaranthaceae.	
मयूर शिखा	L—Actinopteris dichotoma, Bedd.	140/1.
	F—Polypodiaceae.	
	L—Adiantum caudatum Linn.	
	F—Polypoliaceae.	
	L—Celosia cristata Linn.	
	F—Amac-tacaceae.	
मर्कटी (= चिरविल्व)	L—Holoptelia integrifolia Planch.	
	F—Ulmaceae.	
मर्कटी (= कपिकच्छू)	L—Mucuna pruriens Bek.	363/43.
	F—Leguminosea-	
मर्कटी (चिरचिरा)	L—Achyranthes aspera, Linn.	306/4; 363/27; 363/43.
	F—Amaranthaceae.	
मर्दन (चक्रमर्द)	L—Cassia tora Linn.	265/7.
	F—Leguminosae.	
मरिच	L—Piper nigrum Linn.	141/2; 297/5; 285/11; 302/8.
	F—Piperaceae.	
मरुवक (= मदन)	L—Randia dumetorum Lam.	
	F—Rubiaceae.	

मरुबक(=मरुआ)	L—Origanum majorana Linn.	363/39.
	F—Labiatae.	
मरुबक(=	L—Randia dumetorum Lam.	363/30.
	F—Rubiaceae.	202/10; 363/30, 39.
मलय चन्दन	L—Santalum album Linn.	224/26.
	F—Santalaceae.	
मल्लिका	L—Jasminum sambac Ait.	69/3; 123/23; 125/45; 178/12; 202/2;
	F—Oleaceae.	248/1, 2; 309/14.
मस्कर (= त्वक्सार)	L—Bambusa arundinacea Willd.	363/70.
	F—Gramineae.	
मसूर	L—Ervum lens Linn: Lens culinaris Medic.	58/11; 165/2; 175/6; 279/6, 15, 36; 285/6; 363/53.
	F—Leguminosae.	
महाकन्द	L—Allium sativum, Linn.	363/65.
	F—Liliaceae.	
महाकाली (वृद्धदारक)	L—Argyreia speciosa, Sweet.	125/43.
	F—Convolvulaceae.	
	L—Ipomoea biloba, Forsk.	
	F—Convolvulaceae.	
	L—Ipomoea petaloidea, Chois.	
	F—Convolvulaceae.	

महातिल	L—Sesamum inicum Linn. F—Pedaliaceae.	100/4.
महादेवी		57/14.
महालक्ष्मी (= शमी)	L—Prosopis spicigera Linn. F—Leguminosae.	302/11.
महाशिग्रु फल	L—Moringa pterygosperma Gaertn. F—Moringareae.	283/5.
महिला(=श्यामा)	L—Callicarpa macrophylla Vahl. F—Verbenaceae. L—Prunus mahaleb Linn. F—Rosaceae. L—Aglaia roxburghiana Miq. F—Meliaceae.	363/31.
महोषध		285/17, 40,
माणधी	L—Jasminum auriculatum Vahl. F—Oleaceae.	287/14; 300/32; 302/10.
माधवक्रान्ता (विणुक्रान्ता)	L—Clitoria ternatea Linn F—Leguminosae.	95/57.
माण्डूकी	L—Centella asiatica (Linn) Vrban; Hydrocotyle asialics, Linn. F—Umbelliferae.	286/5; 300/32.
मातुलुङ्ग	L—Citrus medica Linn. F—Rutaceae,	29/24; 279/13, 20; 289/20; 363/39.

माकंव	L—Eclipta alba Hassk F—Compositae.	28527 28.
माजंब	L—Symplocos racemosa, Roxb. F—Symplocaceae,	363/22.
मालक (= पीतसाल)	L—Pterocarpus marsuplum. F—Leguminosae.	363/25.
मालती	L—Jasminum grandiflorum Linn. F—Oleaceae.	69/13; 133/28; 178/12; 202/2;205/7;207/3,4; 248/1; 279/45.
मालातृण	L—Gymbopogon citratus (DC.) Stapy. Andropogon Citratus DC. F—Graminea.	363/70.
मुनिपुष्प	L—Sesbania grandiflora Linn. F—Leguminosae.	298/5.
मिशी	L—Anethumsowakurz peucedanum Graveoens Linn. F—Umbelliferae.	363/51.
मिसि	L—Foeniculum vulgare Mill; Syn-Anethum foeniculum. F—Umbelliferae.	363/66.
माष	L—Phasedus mungo Linn. F—Leguminosae.	40/18; 68/5; 93/23, 28; 95/59; 279/50; 282/10; 302/15.
मांस (जटामांसी)	L—Nardostachys jatamansi DC.	39/16, 283/36; 285/65; 292/23, 32;299/30, 34,

मांसी (=जटामांसी)	L—Nardostachys jatamansi DC. F—Valerianaceae.	57/25; 58/18; 123/33; 179/17; 224/23, 28; 265/6, 7; 292/33; 298/12; 363/60.
मृद्वीका	L—Vitis vinifera Linn. F—Vitaceae.	69/11; 267/18, 19; 279/37; 283/6; 363/52.
मुञ्ज	L—Sacharum munja Roxb. F—Gramineae.	153/8.
मुण्डी	L—Sphaeranthus indicus Linn. F—Compositae.	141/4
मुद्ग	L—Fhaseous aureus Roxb. F—Leguminosae.	68/3, 13; 69/7; 93/7; 95/7; 135/3; 175/3, 14; 247/27; 279/6, 9, 13, 14, 15, 17, 19, 20, 25, 36, 38; 282/10; 283/39; 287/19, 22.
मुनिपत्र	L—Sesbania grandiflora Linn. F—Leguminosae.	298/5.
मुरा		57/25; 177/17; 224/30; 363/58.
मुस्त	L—Cyperus rotundus Linn. F—Cyperaceae.	211/69; 267/7; 279/4, 16, 31, 34; 283/29; 285/1, 61; 287/14, 31; 289/13, 40; 363/69.
मुष्कक (=पाटल)	L—Stereospermum chelonoides DC.	363/24.

मुषली	L—Curculigo orchioides Gaertn.	363/56.
	F—Amaryllidaceae.	
मुशली	L—Curculigo orchioides.	124/23.
	F—Amaryllidaceae.	
मूर्वा	L—Marsdenia tenacissima W. & A.	363/41.
	F—Asclepiadaceae.	
	L—Sansevieria roxburghiana Schutt.	
	F—Hamemodoraceae.	
	L—Bauhinia vahlii W. & A.	
	F—Leguminoiae.	
	L—Clematis gouriana Roxb.	
	F—Ranunculaceae.	
	L—Maerua arenaria Hook f. & Th.	
	F—Capparidaceae.	
	L—Helicteres isora Linn.	
	F—Sterculiaceae.	
मूलक	L—Raphanus sativus Linn.	266/17; 279/13; 285/33.
	F—Cruciferae.	
मेदा-अष्टवर्ग की ओषधि		285/35.
मेषश्रृ्ङ्ग	L—Gymnema sylvestre R. Br.	140/3; 299/11.
	F—Asclepiadaceae.	
मोक्ष	L—Stereospermum chelonoides DC.	363/34.

मोचक	L—Morniga pterygosperma Gaertn. F—Moringaceae.	363/21.
मोचा	L—Bombax malabaricum DC. F—Bombacaceae.	363/26.
मोचा (=कदली)	L—Musa sapaientum Linn. F—Musaceae.	363/55.
मोचरस	L—Musa sapaientum Linn. F—Musaceae.	285/59.
मोरटा (=मूर्वा)	L—Marsdenia tenacissima W. & A. F—Asclepiadaceae. L—Sansevieria roxburghiana Schutt. F—Haemodoraceae. L—Bauhinia vahlii W. & A. F—Leguminosae. L—Clematis gouriana Roxb. F—Ranunculaceae. L—Maerua arenaria Hook f. & th. F—Capparidaceae. L—Helicteres isora Linn. F—Sterculiaceae.	363/41.
मोह्नी (=वटपत्री)	L—Saxifraga ligulata Wall. F—Saxifragaceae.	100/4; 123/28; 123/30.
मोह्लता	L—Saxifraga ligulata Wall. F—Saxifragaceae.	140/3.

यव	L—Hordeum vulgar Linn' F—Gramineae.	34/20; 39/21; 40/9; 44/35; 57/13, 21; 66/6, 17; 68/4; 69/7; 74/67; 75/56; 81/16; 95/53, 60; 96/54, 60,68; 100/4; 117/10; 121/18; 129/3; 149/13; 163/23; 167/41; 168/22; 175/14, 16; 192/13; 198/11; 215/25; 24/19; 247/27, 28; 259/97; 260/3, 23; 261/19; 267/23; 279/9, 6, 17, 19, 21, 23, 25, 30, 31, 37, 38, 56; 282/10, 11; 285/63; 287/24, 25; 289/52; 298/17; 299/24; 301/12; 302/8; 307/4; 309/12, 311/20, 33; 366/26; 379/35.
यष्टि	L—Glycyrrhiza glabra, Linn. F—Leguminosae.	283/5, 25, 27, 74; 289/26; 298/15; 302/21, 23; 363/53.
यष्टिक	L—Oryza sativa Linn. F—Gramineae.	287/22, 24; 283/3; 300/31; 363/53; 265/7.
यूथिका	L—Jasminum auriculatum Vahl. F—Oleaceae.	123/13; 202/2; 363/36.
यूथी	L—Jasminum auriculatum Vahl. F—Oleaceae.	125/45; 248/1.
रजनी	L—Curcuma louga, Linn. F—Zingiberaceae.	123/33; 283/15, 24; 289/26, 35.

रक्त उत्पल	L—Nelumbium speciosum Willd. F—Nymphaeaceae.	267/22; 248/4; 309/13.
रक्तचन्दन	L—Pterocorpus santalinus, Linn. f. F—Zeguminosae.	78/10; 93/20; 95/57; 285/30; 289/21, 31; 299/6, 302/22, 23.
रक्तपद्म	L—Nelumbium speciosum Willd. F—Nymphaeaceae.	267/22.
रक्तफला	L—Occinia indica W. & A. F—Cucurbitaceae.	363/62.
रक्तशालि	L—Oryza sativa Linn. F—Gramineae.	279/5.
रक्तयष्टिक	L—Oryza sativa Linn. F—Gramineae.	279/38.
रम्भा	L—Musa sepientum, Linn. F—Musaceae.	363/55.
रसाञ्जनम्		279/46
रसोनक	L—Allium, Linn. F—Lilliaceae.	292/24; 363/65.
राजिका	L—Brassia juncea Linn. F—Cruciferae.	137/13; 259/98; 260/57; 262/24; 298/7; 299/9,12,18.
राजफल (=पटोल)	L—Trichosanthes dioica Rox. F—Cucurbitaceae.	299/35.
राजवृक्ष	L—Cassia fistula, Linn. F—Leguminosae.	283/34.
रामठ (=हिंगु)	L—Ferula narthex Boiss; F. alliacea Boiss; Ferula foetida Regal.	366/30.
रामठफल	—उस वृक्ष का फल जिससे निर्यास रूप में हिंगु निकलता है।	298/2.

रास्ना	L—Pluchea lanceolala Oliver & Hiern.	279/20,53; 285/8, 40,52,71; 289/20; 300/30,33.
	F—Compositae	
	L—Inula racemosa Hook. f.	
	L—Vanda roxburghii R.Br.	
	F – Orchidaceae.	
	L—Saccolarbium papillosum Lindl.	
	F—Orchidaceae.	
	L—Tylophora asthmatica	
	F – Asclepiadaceae.	
रुग् (= कुष्ठ)	L—Saussurea lappa, C.B. Clarke	100/5.
	F—Compositae.	
रुग्घात (= आरग्वेध)	L—Cassia fistula, Linn.	283/12,24.
	F—Leguminosae.	
रुद्रजटा		140/1.
रुदन्तिका		140/2; 286/10.
रेणुका	L—Uitex agnus-castus Linn	363/57.
	F—Verbenaceae.	
रोदनी (= दुरालभा)	L—Fagonia arabica, Linn.	363/45.
	F—Zygophyllaceae.	
लक्ष्मणा	L—Ipomoea sepiaria Koen.	57/14; 100/4.
	F—Convolvulaceae.	
	L—Atrope mandra Gora.	
	F—Atropaceae.	
	L—Mandragora autumnalis Spreng.	
	F—Solanaceae.	
	L—Solanaceae.	

रक्त उत्पल	L—Nelumbium speciosum Willd. F—Nymphaeaceae.	267/22; 248/4; 309/13.
रक्तचन्दन	L—Pterocorpus santalinus, Linn. f. F—Zeguminosae.	78/10; 93/20; 95/57; 285/30; 289/21, 31; 299/6, 302/22, 23.
रक्तपद्म	L—Nelumbium speciosum Willd. F—Nymphaeaceae.	267/22.
रक्तफला	L—Occinia indica W. & A. F—Cucurbitaceae.	363/62.
रक्तशालि	L—Oryza sativa Linn. F—Gramineae.	279/5.
रक्तयष्टिक	L—Oryza sativa Linn. F—Gramineae.	279/38.
रम्भा	L—Musa sepientum, Linn. F—Musaceae.	363/55.
रसाञ्जनम्		279/46
रसोनक	L—Allium, Linn. F—Lilliaceae.	292/24; 363/65.
राजिका	L—Brassia juncea Linn. F—Cruciferae.	137/13; 259/98; 260/57; 262/24; 298/7; 299/9,12,18.
राजफल (=पटोल)	L—Trichosanthes dioica Rox. F—Cucurbitaceae.	299/35.
राजवृक्ष	L—Cassia fistula, Linn. F—Leguminosae.	283/34.
रामठ (=हिंगु)	L—Ferula narthex Boiss; F. alliacea Boiss; Ferula foetida Regal.	366/30.
रामठफल	—उस वृक्ष का फल जिससे निर्यास रूप में हिंगु निकलता है।	298/2.

रास्ना	L—Pluchea lanceolala Oliver & Hiern.	279/20,53; 285/8, 40,52,71; 289/20;
	F—Compositae	300/30,33.
	L—Inula racemosa Hook. f.	
	L—Vanda roxburghii R.Br.	
	F – Orchidaceae.	
	L—Saccolarbium papillosum Lindl.	
	F—Orchidaceae.	
	L—Tylophora asthmatica	
	F – Asclepiadaceae.	
रुग् (= कुष्ठ)	L—Saussurea lappa, C.B. Clarke	100/5.
	F—Compositae.	
रुग्घात (= आरग्वेध)	L—Cassia fistula, Linn.	283/12,24.
	F—Leguminosae.	
रुद्रजटा		140/1.
रुदन्तिका		140/2; 286/10.
रेणुका	L—Uitex agnus-castus Linn	363/57.
	F—Verbenaceae.	
रोदनी (= दुरालभा)	L—Fagonia arabica, Linn.	363/45.
	F—Zygophyllaceae.	
लक्ष्मणा	L—Ipomoea sepiaria Koen.	57/14; 100/4.
	F—Convolvulaceae.	
	L—Atrope mandra Gora.	
	F—Atropaceae.	
	L—Mandragora autumnalis Spreng.	
	F—Solanaceae.	
	L—Solanaceae.	

	L—Smithia geminiflora Roth.	
	F—Leguminosae.	
	L—Biophytum sensitivum (Linn). DC.	
	F—Geraniaceae.	
लज्जालु	L—Minosa pudica, Linn.	140/3.
	F—Leguminosae.	
लता (= प्रियङ्गु)	L—Callicarpa macrophylla Vahl.	279/60; 363/31.
	F—Verbenaceae.	
	L—Prunus mahaleb Linn.	
	F—Rosaceae.	
	L—Aglaia roxburghiana Miq.	
	F—Meliaceae.	
लता (= स्पृक्का)	L—Anisomeles malabarica.	363/60.
	F—Labiatae.	279/60; 363/31,60.
लवङ्ग	L—Caryophyllus aromaticus Linn.	
	L—Eugenia aromatica Kuntze; Syzygium aromaticum (Linn) Mers. & L. M. Perry.	
	F—Myrtaceae.	
लशुन	L—Allium Sativum, Linn.	168/17; 173/39; 283/8; 285/71; 298/2, 5;
	F—Liliaceae.	299/15; 363/65.
लशू	L—Anisomeles malabarica.	363/60.
	F—Labiatae.	
लाङ्गलिकी (= कलिहारी)	L—Gloriosa superba, Linn.	272/11, 311/33; 363/57.
	F—Liliaceae.	

लाक्षा	L—Laccifer lacca (Kerr). F—Lacciferidae.	224/23; 279;28, 45; 283/24.
लोध्र	L—Symplocos racemosa, Roxb. F—Symplocaceae.	123/33; 279/11, 16, 47; 283/25; 285/13, 14, 67; 287/13: 289/17, 20, 39, 40, 41, 42; 299/11; 302/16, 20,363/22.
वच	L—Acorus calamus, Linn. F—Araceae.	69/16; 100/5; 123/32; 141/2, 5, 177/16, 17; 230/11; 260/12; 261/15; 267/7, 12; 279/16, 51; 283/3, 41; 285/19, 39, 47, 54, 74; 289/25, 31; 292/33; 297/6; 298/14; 299/15; 363/50. 302/16.
वज्र		
वज्रद्रु (= स्नुही)	L—Euphorbia neriifolia Linn. F—Euphorbiaceae. L—Euphorbia antiquorum Linn. F—Euphorbiaceae.	363/52.
वञ्जुल (= तिनिश)	L—Ougeinia dalbergioides Benth F—Leguminosae L—Lagerstoemia flos-reginae Retz. F—Lythraceae.	363/19.
वञ्जुल (= अशोक)	L—Saraca indica Linn Leguminosae.	363/34

	F—Polyathialongifolia Benth & Hook. f.	
	F—Annonaceae.	
वट	L—Ficus bengalensis Linn.	34/4; 57/9; 77/20; 95/28; 108/12; 111/13; 115/25/71; 247/24; 282/1; 285/13; 289/29; 294/23; 299/38; 302/16, 18.
	F—Moraceae.	
वत्सक	L—Holarrhena antidysenterica Wall.	283/1, 29; 363/35.
	F—Apocynacene.	
वनङ्ग्रृगाट	L—Tribulus terrestris Linn	224/35; 363/49;
	F—Zygophyllaceae.	
	L—Pedalium murex Linn	
	F—Pedaliaceae.	
वरी	L—Asparagus racemousu Willd	283/20, 21.
	F—Liliaceae.	
वरुण	L—Crataeva nurvala Buch-Hum	283/36; 363/18.
	F—Capparidaceae.	
वर्षाभू	L—Trianthema portulacastrum Linn.	285/48; 286/22.
	F—Ficoidaceae.	
वसुक	L—Calotropis gigantea (Linn) R. Br. ex Ait.	363/40.
	F—Asclepiadaceae.	
वह्नि (=चित्रक)	L—Plumbago zeylanica Linn.	141/2; 283/14; 285/3; 289/20,24.
	F—Plumbuginaceae.	
बंश	L—Bambusa arundinaceaea Willd.	102/7; 223/28; 363/70.
	F—Gramineae,	

वर्हि		363/59.
वागुरी		123/24.
वर्त्ताकु	L—Solanum melongeoa Linn.	165/2; 279/33.
	F—Solanaceae.	
वाथ्यालक (= वला)	L—Sida cordifolia Linn.	363/52.
	F—Malvaceae.	
वानेय	L—Cyperus scariosus R. Br.	363/60
	F—Cyperaceae.	
वाणा (= काली कटसैरया)		363/38.
वायसी (= काकमाची)	L—Solanum nigrum Linn.	363/66.
	F—Solanaceae.	
वाराही	L—Dioscorea bulbifera Linn.	123/23; 125/43; 222/9; 286/12; 363/66.
	L – Tacca aspera Roxb.	
	F—Taccaceae.	
वास्तु	L—Chenopo dium album Linn.	279/12, 31, 38.
	F—Chenopodiaceae.	
वासा	L—Adhatoda vasica, Nees	260/7; 284/3, 16, 19, 20, 24; 285/7, 31, 54, 57.
	F—Acanthaceae.	
वासक	L—Adhatoda vasica Nees.	141/3; 248/4; 260/21, 22; 283/21; 285/14, 15, 21; 286/22; 363/51.
	E—Acanthaceae.	
व्याधिघात (= आखेत)	L—Cassia fistula, Linn.	363/17.
	F—Leguminosae.	
व्याघ्रपाद	L—Flacourtia ramontchi L' Herit.	363/23.
	F—Flacourtiaceae.	

व्याघ्री	L—Solanum xanthocarpum Schrad & Wendl'	363/46
व्योष	शुण्ठी, मरिच एवं पिप्पली का संयुक्त नाम व्योष है।	279/21, 46; 283/9, 14, 17, 40; 284/7; 285/18, 36, 50, 72, 287/9, 19; 289/4; 292/31; 298/2, 10, 15; 300/29, 33.
विजया (= हरीतकी)	L—Terminalia chebula Retz. L—Terminalia citrina Roxb. F—Combretaceae.	
विजया (भाँग)	L—Cannabis sativa Linn; Cannabis indica Lam. F—Cannabinaceae.	95/37; 265/14.
विटखदिर	L—Acacia farnesiana Willd. F—Leguminosae.	363/29.
विडङ्ग	L—Embelia ribes Burm. F—Myrsinaceae. L—E. tsjeriam-collam, A DC. F—Myrsinaceae.	141/5; 247/26, 31; 279/13, 16, 42; 282/10; 283/17, 18, 42; 284/7; 285/52, 58, 57, 61; 286/21; 287/9, 18, 23, 28; 298/14; 300/33; 363/52.
विद्ध्वर्णी (= पाठा)	L—Cissampleos pareira Linn. F—Menispermaceae.	363/42.
विदारी	L—Pueraria tuberosa DC. F—Leguminosae.	40/19; 283/21; 300/29; 302/14; 363/54.

	L—Tpomoea digitata Linn. F—Convolvulaceae.	
विलासिनी (= हरिद्रा)	L—Curcuma long, Linn. F—Zingiberaceae.	123/31.
विशाला	L—Trichosanthes palmata Roxb. F—Cucurbitaceae.	285/6; 363/69.
विशल्या (= गिलोय)	L—Tinospora cordifolia (Willd) Miers. F—Menispermaceae.	10/19.
विशल्या (= कलिहारी)	L—Gloriosa superba Linn. F—Liliaceae.	
विशल्या (= दन्ती)	L—Boliospermum montanum-muell-Arg. F—Euphorbiaceae.	
विशालत्वक	L—Alstonia scholaris R. Br. F—Apocynaceae.	363/17.
विश्वा(= अतीस)	L—Acontium heterophyllum, Wall. F—Ranunculaceae.	363/49.
विश्वा (= शुण्ठि)	L—Zingiber officinale Roscoe. F—Zingiberaceae.	283/6, 10, 28; 363/49.
विश्व	L—Zingiber officinale Roscoe. F—Zingiberaceae.	285/2, 50; 289/40; 300/32.
विश्वभेषज	L—Zingiber officinale Roscoe. F—Zingiberaceae.	285/5, 69; 289/40, 42.

विषा	L—Aconitum heterophyllum, Wall. F—Ranunculaceae.	283/15, 363/49.
विषाणिका (=मेषशृङ्गी)	L—Gymnema sylvestre R. Br. F—Asclepiadaceae.	285/48.
विष्णुक्रान्ता	L—Clitoria ternatea Linn. F—Leguminosae.	122/27; 140/2; 265/14.
विष्णुपर्णी (=मधुपर्णी)	L—Tinospora cordifolia (Willd) Miers. F—Menispermaceae.	57/13, 22; 69/16.
विष्णुपत्नी		34/20.
वीरवृक्ष	L—Semecarpus anacardicum Linn. F—Anacardiaceae.	363/25.
व्रीहि	L—Oryza sativa Linn. F—Gramineae.	57/1, 3; 59/52; 69/7; 95/28; 100/4; 149/13; 175/14; 262/22; 287/24; 302/15; 366/25.
वृन्दा (=वृक्षादनी)	L—Loranlhus longiflorus Desr; Syn. dendrophthoe (Linn) f. Etting. F—Loranthaceae. L—Viscum album Linn. F—Loranthaceae.	363/40.
वृद्धा	L—Parmellia perlata Ach. F—Parmeliaceae.	363/58.
वृद्धारक	L—Argyreia speciosa, Sweet. F—Convolulacea.	363/61.

वृश्चिकाली		300/28.
वृक्षाम्ल	L—Garcinia indica Chois. F—Guttiferae.	285/11.
वृक्षादनी	L—Loranthus longiflorus Desr; Syn. Dendrophttoe Falcota (Linn) f. Etting. F—Loranthaceae. L—Viscu album Linn. F—Loranthaceae.	363/40.
वृक्षरुहा	L—Loranthus longiflorus Desr; Syn Dendrophttoe Falcata (Linn. F.) Etting. F—Loranthacea. L—Viscu album Linn. F—Loranthaceae.	363/41.
वृष (= द्रवन्ती)		363/44.
वृष	L—Adhatoda vasica, Nees. F—Acanthaceae.	363/5 1.
	अष्टवर्ग की औषधि	363/55.
वृष		279/26; 285/20,29; 363/51, 58.
वृषा (= द्रवन्ति)	L—Croton tiglium Linn. F—Euphorbia.	363/44.
वृषभ	अष्टवर्ग की औषधि	363/55.
वेणु	L—Bambusa arundinacea Willd. F—Gramineae.	223/28.
वेतस	L—Salix caprea Linn F—Salicaceca. L—Calamus tenuis Roxb. F—Palmeae.	245/10.

चैत्राग्र		279/35.
वैकङ्कत	L—Flacourtia ramontchi L' Herit. F—Flacourtiaceae.	363/23.
शंखपुष्पी	L—Convolvulus pluricaulis, Chois. F—Convolvulaceae.	283/3; 285/19.
शङ्खिनी	L—Euphorbia tiruall Linn. F—Euphorbiaceae.	95/57.
शकुलादनीं	L—Picrorhiza Kurroa Royle ex Benth. F—Scrophulariaceae.	363/43.
शक्र (= इन्द्रयव)	L—Holarrhena antidysenterica Wall. F—Apocynaceae.	279/26.
शटी	L—Hedychium spicatum Ham. ex Smith. F—Zingiberaceae.	363/61.
शटी	L—Curcuma zedoarii Rox F—Zingiberaceae.	279/30; 283/1; 285/8, 53; 363/61.
शताङ्ग		265/6.
शताह्वा	L—Peucedanhm quaveolens Linn. F—Umbelliferae.	289/:0.
शतपर्विका	L—Acorus calamus Linn. F—Araceae.	363/50.
शतपुष्पा	L—Peucedanum graveolens Linn. F—Umbelliferae.	265/14; 363/66.
शतपुष्पी	L—Peucedanum graveolens Linn. F—Umbelliferae.	141/4.

शतमूली (= महाशतावरी)	L—A. sarmentosus Linn.	141/3; 267/6; 363/49.
	L—A. Filicinus Buch. & Ham.	
शतवेधी	L—Pheum emodi Wall.	363/63.
	L—Garcinia peduculat Roxb.	
	F—Guttiferae.	
	L—L—Rumex vesicarius Linn.	
	L—Citru.	
शतावरी	L—Asparagus racemosus Willd.	261/9; 279/49.
	F—Liliaceae.	
शर्तरीद्वय	L—Curcuma longa, Linn.	283/23.
	F—Zingiberaceae.	
	L—Curcuma amada Roxb.	
	F—Zingiberaceae.	
शमी	L—Prosopis spicigera Linn.	30/20; 69/9; 95/52; 115/46; 164/8; 167/7; 175/13; 202/6; 248/3.
	F—Liguminosae.	
शमीधान्य	L—Oryza sativa Linn.	175/13; 266/26.
	F—Gramineae.	
शम्बरी (= द्रवन्ति)	L—Croton tiglium Linn	363/44. 38.
	F—Euphorbiaceae.	
शर (= मुञ्ज)	L—Saccharum munja Roxb.	285/62; 289/36; 38.
	F—Gramineae.	
शतशिवा (= शतपुष्पा)	L—Peucedanum graveolens Linn.	69/16.
	F—Umbelliferea.	

शारिवा	L—Ichnocarpus fruitescene R. Br.	279/61; 265/16; 298/9; 363/54.
	F—Apocyneae.	
	L—Cryptolepis buchanani Roem & Schult.	
	F—Asclepiadaceae.	
	L—Hemidesmus indicus R. Br.	
	F—Asclepiadaceae.	
शल्लकी	L—Baswellia serrata Roxb.	285/58.
	F—Burseraceae.	
शाखोट	L—Streblus asper Lour.	260/7; 283/35.
	F—Moraceae.	
शालक	L—Shorea robusta Gartn f.	102/70; 266/14.
	F—Dipterocarpaceae.	
	L—Vateria indica Linn.	
	F—Dipterocarpaceae.	
शालि		30/19; 57/13; 68/3; 175/16; 196/22. 279/9, 12, 13, 15, 21, 23, 25, 29, 31, 34, 37; 287/24; 361/12.
शाल्मलि	L—Bombax malabaricum DC.	363/26.
	F—Bombacaceae.	
शाद्वला (=दूर्वा)	L—Cyndon dactylon (Linn) Pers	285/48.
	F—Gramineae.	
शार्ङ्गक	L—Physalis manima Linn.	300/28.
(=शार्ङ्गेष्टा)	L—Cardiospermum halicacabum Linn.	
शाबर (लोध्र)	L—Symplocos racemosa	363/22.
	F—Symplocaceae.	

शालूक (कमल कन्द)	L—Lonidium suffruticosum Ging.	
	F—Violaceae.	
	L—Hibiscus mulabilis Linn.	
	F—Malvaceae.	
शिखा (= मयूरशिखा)	L—Actinopteris dichotoma, Bedd.	
	F—Polypodiaceae.	
	L—Adiantum coudatum Linn.	123/30.
	F—Poypliaceae.	
	L—Celosia cristala Linn.	
	F—Amacanthaceae.	
शिग्रु	L—Moringa pterygosperma Gaertn.	279/18; 283/8, 22; 285/32; 300/27; 363/27.
	F—Moringaceae.	
शितधान्य	L—Oryza sativa Linn.	175/14.
	F—Gramineae.	
शिम्बिधान्य	L—Oryza sativa Linn.	223/26
	F—Gramineae.	
शिरीष	L—Albizzia lebbeck Benth.	69/8; 202/13; 222/7; 282/6; 285/15; 297/4, 5, 6, 8; 298/3, 10, 13; 363/33.
	F—Leguminosae.	
शिवमल्ली	L—Mimusops elengi Linn.	363/40
	F—Sapotaceae.	
शिवा (= हरीतकी)	F—Terminalia chebula. Retz.	
	L—Terminalia citrina Roxb.	
	F—Combretaceae.	

शिवा (=तामलकी)	L—Phyllanthus niruri, Linn. F—Euphorbiaceae	279/58; 363/57.
शिशपा	L—Aquilaria agallocha Roxb. F—Thymelaeaceae.	9/6; 363/34.
शिह्लक	L—Liquidamber orienta-lis Miller. F—Hamamelidaceae.	211/68.
शीत	L—Cordia myxa Roxb; C. dichotoma Forst. f. F—Boraginaceae.	363/22.
शीतशिव	L—Paramelia perlata Ach. F—Parameliaceae.	363/58.
शुकम	L—Clerodendrum infor-tunatum Linn. F—Verbenaceae.	363/59.
शुक्ला	L—Iris germanica Linn.	363/50.
शूकधान्य	L—Hordeum vulgare Linn. F—Gramineae.	223/26.
शुकनास	L—Oroxylum indicum Vent. F—Bignoniaceae.	363/32.
शुण्ठी	L—Zingiber officinal Roscoe. F—Zingiberaceae.	141/2; 267/12; 279/8, 36; 283/4, 20, 37; 285/31, 47, 54, 59,62; 286/5,20; 289/42; 298/9.
शूरण	L—Amorphophallus cam-panulatus Blume. F—Araceae.	363/69.

शेलु	L—Cordia myxa Roxb; C. dichotome Forst f.	298/9; 363/22.
	F—Boraginaceae.	
शैखारिक	L—Achyranthes aspera Linn.	363/44.
	F—Amaranthaceae.	
शैलेय	L—Parmelia perlata Ach.	177/17; 224/23, 28;
	F—Parmeliaceae.	363/58.
शोभाञ्जन	L—Moringa pterygosperma Gaertn.	363/21.
	F—Moringaceae.	
श्यामा (= कृष्ण शारिवा)	L—Ichnocarpus fruitescens R. Br.	
	F—Apcynaceae.	
	L—Cryptolepis buchani Roem & Schult.	
	F—Asclepiadaceae.	
श्यामा (= श्वेत-शारिवा)	Hemidesmus indicus R. Br.	363/54.
	F—Asclepiadaceae.	
श्यामा (= दन्ती)	L—Boliospermum montanum Muell-Arg.	
	F—Euphorbiaceae.	
श्यामा (= प्रियंगु)	L—Callicarpa macrophylla Vahl.	363/30.
	F—Verbenaceae.	
	L—Prunus mahaleb Linn.	
	F—Rosaceae.	
	L—Aglaia roxburghiana Miq.	
	F—Meliaceae.	

श्यामा(= शीसम)	L—Dalbergia sisoo Roxb.	283/25; 289/26; 363/
	F—Leguminosae.	30; 363/54.
श्यामाक	L—Echinochloa frumentacea Link.	34/20; 66/17; 69/7; 81/63; 95/60; 175/
	F—Gramineae.	15, 16; 301/12.
श्यामललता		57/13; 57/22.
श्योनाक	L—Oroxylum-indicum Vent.	285/3; 363/22.
	F—Bignoniaceae.	
श्लेष्मातक	L—Cordia myxa Roxb; C. dichotoma Forst. f.	168/18.
	F—Boraginaceae.	
श्वदंष्ट्रा(= गोक्षुर)	L—Tribulus terrestris Linn.	283/21.
	F—Zygophyllaceae.	
	L—Pedalium murex Linn.	
	F—Pedaliaceae.	
श्वेतचन्दन (= चन्दनभेद)		285/68.
षडग्रन्था (= वचा)	L—Acorus calamus, Linn.	363/50.
	F—Araceae.	
षष्टि(= धान्यभेद)		279/5.
स्तम्बकरि (= धान्य)	L—Oryza sativa Linn.	366/25.
	F—Gramineae.	
सप्तपर्ण	L—Alstonia scholaris R. Br.	363/17.
	F—Apocynaceae.	

ससला	L—Jasminum arbarescens Roxb. F—Oleaceae.	363/36.
समङ्गा	L—Rubia cordifollia Linn. F—Rubiaceae.	285/35, 67; 363/45.
संपाक (=कृतमाल)	L—Cassia fistula Linn. F—Leguminosae.	363/17.
समीरण	L—Origanum majorana Linn. F—Labiatae.	363/39.
समुद्रान्ता	L—Alagi camelorum Fisch. F—Leguminosae.	363/45.
सरणा (=प्रसारिणी)	L—Paederia foetida Linn. F—Rubiaceae.	363/67.
सरल	L—Painus longifolia Roxb. F—Pinaceae.	224/24; 287;23; 363/22.
सन्ध्यापुष्प		202/9.
सर्ज (=अश्वकर्ण)	L—Shorea rabusta Gaertn. f. F—Dipterocarpaceae.	224/25; 363/26.
सर्जक (=पीतसाल)	L—Pterocarpus marsupium Roxb. F—Leguminosae.	363/25.
सर्पाक्षी	L—Ophiorrhiza Mungos Linn. F—Rubiaceae. L—Polygonum plebejum R. Br. F—Polygonaceae.	123/27.

सर्वतोभद्र	L—Azadirachta indica A Juss; Melia azadirachta Linn.	363/33.
	F—Meliaceae.	
सर्षप	L—Brassica campestris Var sarson Prain.	34/9; 68/3; 100/4; 123/29; 260/23; 261/23; 265/7; 266/13, 18; 289/35; 292/33, 42; 308/4; 306/12.
	F—Cruciferae.	
सहकार (= आम्र)	L—Mangifera indica Linn.	224/37.
	F—Anacardiaceae.	
सहचर	L—Barleria prionitis Linn.	279/53.
	F—Acanthaceae.	
सहदेवी	L—Sida rhombifolia Linn.	57/14, 25; 60/6; 69/16; 95/88; 123/27, 30; 125/40; 140/1; 302/11.
	F—Malvaceae.	
सहस्रवेधी (= अम्लवेतस)	L—Rheumemodi wall.	363/63.
	L—Garcinia pedunculata Roxb.	
	F—Guttiferae.	
	L—Rumex vesicarius Linn.	
	F—Citrus.	
सहा	L—Phaseolus trilobus Ait.	297/8; 363/37.
	F—Leguminosae.	
सारिवा	L—Ichnocarpus fruitescens R. Br.	95/57; 302/20.
	F—Apocynaceae.	
	L—Cryptolepis buchanani Roem & Schult.	
	F—Asclepiadaceae.	

	L—Hemidesmus indicu R. Br. F—Asclepiadaceae.	
साल	L—Vateria indica Linn. F – Dipterocarpaceae.	245/10.
सालपर्णी	L—Demodium gangeti-cum DC. F—Leguminosae.	363/55.
सितच्छत्त्रा	L—Foeniculum vulgare Mill; Syn-Anethum Foeniculum.	363/66.
सिता	L—Pueraria tuberosa DC. F—Leguminosae. L—Inomoea digitata Linn. F—Convolvulaceae.	300/15, 32.
सिद्धार्थ	L—Brassica campestris Var Sarson Prain. F—Cruciferae.	34/21; 35/7; 57/1, 11, 21; 58/8; 69/7; 81/15, 17; 90/8; 100/4; 141/5; 156/7; 157/40; 177/16.
सिन्धुवार	L—Vitex negundo Linn. F—Verbenaceae.	178/13; 363/36.
सिंहा (= कण्टकारी)	L—Solanum xanthocar-pum Schrad & Wendl. F—Solanaceae.	289/12.
सिंही	L—Solanum indicum. F—Solanaceae.	69/16; 283/1.
सिंहास्य	L—Adhatoda vasica, Nees. F—Acanthaceae.	363/51.
सुदर्शन	L—Crinum latifolium Linn. F—Amaryllidaceae.	265/12.

सुधा	L—Euphorbia neriifolia Linn.	363/58.
	F—Euphorbiaceae.	
	L—Euphorbia antiquorum Linn.	
	E—Euphorbiaceae.	
सुवर्चला	L—Gynandropsis pentaphylla, DC.	95/38; 279/38.
	F—Capparidaceae.	
	L—Cleome viscosa, Linn; C. isocandra Linn.	
	F—Capparidaceae.	
सुवर्चिका	L—Potastii Nitras	279/16.
सुवर्णक	L—Cassia fistula Linn.	363/17.
	F—Leguminosae.	
सुवल्ली	L—Psoralea corylifolia Linn.	363/47.
	F—Leguminosae.	
सुषवी	L—Nigellia sative Linn.	366/29.
	F—Ranunculaceae.	
सेलु	L—Cordia myxa Roxb; C. dichotoma Forst; f.	279/61.
	F—Boraginaceae.	
सेरेयक	L—Barleria prionitis Linn.	363/35.
	F—Acanthaceae.	
सोमराजी	L—Psoralea corylifolia, Linn.	363/47.
	F—Leguminosae.	
सोमवल्ली	L—Psoralea corylifolia Linn.	363/47.
	F—Legnminosae.	

स्तम्बकरि (= धान्य)		366/25.
स्थिरा	L—Desmodium gangeticum DC. F—Leguminosae.	285/3; 363/55.
स्नुक	L—Euphorbia neriifolia Linn. F—Euphorbiaceae. L—Euphorbia antiquorum Linn. F—Euphorbiaceae.	363/52.
स्नुही	L—Euphorbia neriifolia Linn. F—Euphorbiaceae. L—Euphorbia antiquorum Linn. F—Euphorbiaceae.	283/12; 298/2; 363/52.
स्पृक्का	L—Anisomeles malabarica R. Br. F—Labiatae.	224/23; 363/60.
स्पृशी	L—Solanum xanlhocarpum Schard & Wendl. F—Solanaceae.	363/46.
स्फूर्जक	L—Diospyros embryopteris Pers. F—Ebenaceae.	363/23.
सांसी	L—Salvadora persica Linn. F—Salvadoraceae.	363/20
स्वर्णक्षीरी (कटुपर्णी)	L—Argemone mexicana Linn. F—Papaveraceae.	285/45; 363/62.

हट्टविलसिनी	L—Helix aspera, Achalina Fulica.	363/59.
हनु	L—Helix aspera, Achatina fulica.	363/59.
हरिद्रा	L—Curcuma longa, Linn. F—Zingiberaceae.	24/4; 30/19/33/17; 39/16; 78/11; 93/21; 121/18; 141/5; 279/31; 287/28; 300/30.
हरिद्रु (=दारु हल्दी)	L—Berberis species. F—Berberidaceae.	363/19.
हरिता		123/30.
हरीतकी	L—Terminalia chabula Retz; Terminalia citrina Roxb. F—Combretaceae.	141/2; 285/37, 58.
हरेणु	L—Vitex agnus-castus Linn. F—F—Verbenaceae.	363/57.
हरेणुक	L—Pisum sativum Linn. F—Leguminosae.	224/35.
हिङ्गु	L—Ferula narthex, Boiss; F. Alliacea Boiss; Ferula foetida Regel. F—Umbelliferеae.	283/30, 37; 285/18, 4; 287/23; 289/2, 20, 25; 292/24; 292/33; 297/6; 298/14.
हिम		302/10.
हिमावती	L—Argemone mexicana Linn. F—Papaveraceae.	363/62.
हिरण्य	L—Balsamoderdrono mukul Hook ex Stock. F—Burseracae.	210/1, 2.
हेम	L—Mesua ferrea Linn. F—Guttiferae.	302/13.

	L—Ochrocarpus longifolius Benth & Hook. f.	
	F—Guttiferae.	
हेम दुग्ध	L—Ficus glomerata Roxb.	363/16.
	F—Moraceae.	
हेमपुष्प	L—Michelia champaca Linn.	65/27.
	F—Magnoliaceae.	
हेमवती	L—Iris germanica Linn.	363/50.
क्षुद्रा	L—Solanum xanthocarpum Schard & Wendl.	285/17; 363/46.
	F—Solanaceae.	
क्षुर	L—Hygrophila spinosa, T. And Syn. Astera Cantha longifolia Nees..	363/51.
	F—Acanthaceae.	
त्रपुष	L—Cucumis sativus Linn.	279/32.
	F—Cucurbitaceae.	
त्रपुषी	L—Cucumis sativus Linn.	286/21.
	F—Cucurbitaceae.	
त्रिपुटा	L—Operculina turpethum, Silva Manso; Syn. Ipomoea turpthum R. Br.	363/53.
	F—Convolvulac.	
त्रिपुटा	L—Elettaria cardamomum Maton.	363/59.
	F—Zingiberaceae.	

त्रिवृत्	L—Operculina turpethum, Silva Manso; Syn. Inomoea turpthum R. Br. F—Convolvulac.	279/59, 63; 283/23, 40, 41; 285/6, 44, 47, 48; 363/53.
त्रुटि	L—Elettaria cardamomum Maton. F—Zingiberaceae.	224/36; 363/59.
क्षीरशुक्ला	L—Pueraria tuberosa DC. F—Leguminosae.	363/54.
क्षीरी (=वड़)	L—Ipomoea digitata Linn. F—Convolvulaceae.	
क्षीरी (=वड़)	L—Ficus bengalensis Linn. F—Moraceac.	
क्षीरी (=नन्दीवृक्ष)	L—Ficus retusa Linn. F—Moraceae.	123/23.

परिशिष्ट संख्या 2

Un-identified Medicinal (Plants)

अविभावित वनस्पतियाँ

१—आनन्दक
२—कटीर मूल
३—कल्पतरु
४—काञ्ची
५—चामरी
६—चित्रपटोलिका
७—तिमिर
८—पावन
९—पावन्ती
१०—प्रसातिका
११—भद्र
१२—भूमिजम्बुक
१३—महादेवी
१४—रसाञ्जनम
१५—रुद्रजटा
१६—रुदन्तिका
१७—वज्र
१८—वागुरी
१९—वाणा
२०—विष्णुपत्नी
२१—वृश्चिकाली
२२—वृष
२३—शताङ्ग
२४—सन्ध्या पुष्प
२५—हरिता
२६—हिम

त्रिवृत्	L—Operculina turpethum, Silva Manso; Syn. Inomoea turpthum R. Br. F—Convolvulac.	279/59, 63; 283/23, 40, 41: 285/6, 44, 47, 48; 363/53.
त्रुटि	L—Elettaria cardamomum Maton. F—Zingiberaceae.	224/36; 363/59.
क्षीरशुक्ला	L—Pueraria tuberosa DC. F—Leguminosae.	363/54.
क्षीरी (=वड़)	L—Ipomoea digitata Linn. F—Convolvulaceae.	
क्षीरी (=वड़)	L—Ficus bengalensis Linn. F—Moraceac.	
क्षीरी(=नन्दीवृक्ष)	L—Ficus retusa Linn. F—Moraceae.	123/23.

परिशिष्ट संख्या 2

Un-identified Medicinal (Plants)

अविभावित वनस्पतियाँ

१—आनन्दक
२—कटीर मूल
३—कल्पतरु
४—काञ्ची
५—चामरी
६—चित्रपटोलिका
७—तिमिर
८—पावन
९—पावन्ती
१०—प्रसातिका
११—भद्र
१२—भूमिजम्बुक
१३—महादेवी
१४—रसाञ्जनम
१५—रुद्रजटा
१६—रुदन्तिका
१७—वज्र
१८—वागुरी
१९—वाणा
२०—विष्णुपत्नी
२१—वृश्चिकाली
२२—वृष
२३—शताङ्ग
२४—सन्ध्या पुष्प
२५—हरिता
२६—हिम

परिशिष्ट संख्या 3

धातु एवं उपधातु

अभ्रक	95/58.
अयस (लौह)	157/43; 257/29.
आरकूट(= पीतल)	366/36.
औदुम्बर	366/40.
कनक	3/20; 209/23; 365/3.
काच	46/8; 366/40.
काञ्चन	20/3; 186/1; 197/2; 213/2; 235/5.
कालायस (लौहभेद)	366/40.
कांस्य	43/14; 66/5; 77/20; 95/58; 97/9; 156/2; 169/32; 173/43; 175/6; 210/21, 30, 32.
कूलटी (= मनःशिला)	366/42.
गन्धक	95/59.
गिरिसार	69/19.
गैरिक	78/11; 95/59; 306/3.
चपल (= पारद)	366/40.
चन्द्रतार (रजत)	69/19.
ताम्र	33/4; 41/4; 41/21; 54/4; 78/4; 95/58; 156/2; 164/3, 32; 173/43; 210/20; 211/32, 218/19; 227/3, 4; 245/9; 257/29; 366/39.
तीक्ष्ण (लौह)	66/40.
तार (= रजत)	97/11.
त्रपु	69/19; 257/29; 366/41.
पारद	61,/44; 95/59; 366/40.
पित्तल	54/4.
फेन	366/41.

परिशिष्ट सं० 4

खनिज (=लवण)

अष्टलवण	(सैन्धव, सामुद्र, विड, सौवर्चल, एवं रोमक तथा तीन अन्य लवणों का संयुक्त नाम अष्टलवण है), 287/16.
लवण	54/1; 81/48; 96/65; 107/2; 137/12; 152/2; 156/8; 158/58; 169/6; 170/18; 175/12; 178/15; 24; 188/5; 211/42, 49; 47/31; 258/39; 280/3; 283/26; 285/37, 46, 47; 287/9; 289/37, 42; 298/5; 300/28; 308/15.
सिन्धु	279/27; 283/22, 28, 30; 285/52, 62, 72; 300/27.
सैन्धव	141/3; 279/14, 36; 283/4, 36, 40; 285/58, 76; 287/9; 289/24, 39; 292/23, 24; 298/3, 14.
सौवर्चल	279/28, 30, 31; 283/37; 285/11, 18.

परिशिष्ट संख्या 5

रत्न

परिशिष्ट संख्या 6

जाङ्गम द्रव्य

परिशिष्ट संख्या-7

खाद्य तथा पेय द्रव्य

(अ) खाद्य द्रव्य

परिशिष्ट सं० 7

खाद्य द्रव्य के पर्याय

अग्निपुराण		अमरकोष	
अमिक्षा (ओटे हुए गर्म दूध में दही छोड़ने पर उत्पन्न विकार विशेष या 'छाछ' का नाम)	365 4	अमिक्षा	2.7.23
पृषदाज्य (दही मिले हुए घी का नाम	365.4	पृषदाज्य	2.7.24
परमान्न, पायस (खीर)	365.4	परमान्न, पायस	2.7.24
धान्य, व्रीहि, स्तम्बकरि (अनाज के वाचक) (धान्य मात्र के तीन नाम)	366.25	धान्य, व्रीहि, स्तम्बकरि	2.9 21
शमीधान्य (उरद आदि अन्न)	366.26	शमीधान्य	2.9.24
शूकधान्य (टूड़वाले जौ आदि अन्न)	366.26	शूकधान्य	2.9.24
तृणधान्य, निवार (तीनो, साँवा कोदो आदि)	366.26	तृणधान्य, निवार	2.9 25
सुषवी (कृष्णजीरक)	366.29	सुषवी, कारवी, पृथ्वी, पृथु, काला, उपकुचिका	2.9.37
आरनाल-कुल्माष (काँजी)	366.30		
वाह्लीक, हिङ्ग, रामठ (हींग)	366.36		
निशा, हरिद्रा, पीता (हल्दी के वाचक हैं)	366.30		
मत्स्यण्डि, फणित (खाँड)	366.30	मत्यण्डी, फणित (राब, खण्ड विकार का नाम)	2.9.43

परिशिष्ट संख्या 8

शरीर अङ्गों के विभिन्न पर्याय

अग्निपुराण		अमरकोष	
अग्रमांस (कलेजा)	(364/13)	वुक्का, अग्रमांस	(2/6/64)
हृदय, हृत्	(364/13)	हृदय, हृत्	(2/6/64)
मेद, वपा, वसा	(364/13)	मेद, वपा, वसा	(2/6/64)
मन्या	(364/13)	मन्या	(2/6/65)
नाड़ी, धमनि, शिरा	(364/13)	नाड़ी, धमनि, सिरा	(2/6/65)
तिलक, क्लोम	(364/14)	तिलक, क्लोम	(2/6/65)
मस्तिष्क	(364/14)	मस्तिष्क, गोदर्भ	(2/6/65)
दूषिका	(364/14)	दूषिका	(2/6/67)
अन्त्र, पुरीत	(364/14)	अन्त्र, पुरीत	(2/6/66)
गुल्म, प्लीहा	(364/14)	गुल्म, प्लीहा	(2/6/66)
वस्नसा, स्नायु	(364/14-15)	वस्नसा, स्नायु	(2/6/66)
कालखण्ड, यकृत्	(364/15)	कालखण्ड, यकृत्	(2/6/66)
कर्पर, कपाल	(364/15)	कर्पर, कपाल	(2/6/68)
कीकस, कुल्यम, अस्थि	(364/15)	कीकस, कुल्यम, अस्थि	(2/6/68)
कङ्काल	(364/16)	कङ्काल	(2/6/66)
कशेरुका	(364/16)	कशेरुका	(2/6/69)
शिरोस्थि, करोटि	(364/16)	शिरोस्थि, करोटि	(2/6/69)
पर्शुका	(364/16)	पर्शुका	(2/6/70)
अङ्ग, प्रतीक, अवयव	(364/17)	अङ्ग, प्रतीक, अवयव, अपघन	(2/9/70)
वर्ष्म, विग्रह	(364/17)	कलेवर, मात्र, वपु, संहनन शरीर, वर्ष्म, विग्रह, काय, देह, मूर्त्ति, तनु, तनू, ।	(2/6/70/71)

अग्नि पुराण		अमरकोष	
कट, श्रोणिफलक	(364/17)	कट, श्रोणिफलक	(2/6/74)
कटि, श्रोणि,		कटि, श्रोणि, ककुद्मति	(2/6/74)
ककुद्मपि (कमर)	(364/17)		
नितम्ब	(364/18)	नितम्ब	(2/6/74)
जघन	(364/18)	जघन	(2/6/74)
कूपक, ककुन्दर	(364/18)	कूपक, ककुन्दर	(2/6/74)
स्पिक् कटिप्राथ	(364/19)	स्पिक्, कटिप्रोथ	(2/6/75)
उपस्थ, भग, लिङ्ग)	(364/19)	उपस्थ	(2/6/75)
शिश्न, मेढ्र, मेहन, शेफ	(364/19)	शिश्न, भेद्र, मेहन, शेफ	(2/6/76)
पिचण्ड, कुक्षि, जठर उदर, तुन्द	(364/20)	पिचण्ड, कुक्षि, जठर, उदर, तुन्द	(2/6/77)
स्तन, कुच	(364/20)	स्तन, कूच	(2/6/77)
चूचुक, कुचाग्र	(364/20)	चूचक, कुचाग्र	(2/6/77)
क्रोड, भुजान्तर	(364/20)	क्रोड, भुजान्तर	(2/6/77)
स्कन्ध, भुजशिर	(364/21)	स्कन्ध, भुजशिर	(2/6/78)
जत्रु	(364/21)	जत्रु	(2/6/78)
पुनर्भव, कररुह, नख, नखर	(364/21)	पुनर्भव, कररुह, नख नखर	(2/6/83)
प्रदेश (फैलाये हुए तर्जनी और अँगूठे के बीच के प्रमाण-विशेष का नाम)		प्रदेश	
ताल (फैलाये हुए मध्यमा- और अंगूठे के बीच के प्रमाण-विशेष' का नाम)		ताल	
गोकर्ण ('फैलाये हुए अनामिका एवं अँगूठे के बीच के प्रमाण विशेष' का नाम)	(364/22)	गोकर्ण	(2/6/84)
वितस्ति, द्वादशाङ्गुल	(364/22)	वितस्ति, द्वादशाङ्गुल	(2/6/84)

('फैलाये हुये कनिष्ठा और अँगूठे के बीच के प्रमाण विशेष' का नाम)।			
कम्बुग्रीवा (शङ्ख के समान तीन रेखा वाली गर्दन)	(364/24)	कम्बुग्रीवा	(2/6/88)
अवटु, घाटा, कृकाटिका	(364/24)	अवटु, घाटा, कृकटिका	(2/6/88)
चिबुक	(364/24)	चिबुक	(2/6/90)
गण्ड, गला	(364/24)	गण्ड, कपोल	(2/6/90)
हनु	(364/24)	हनु	(2/6/90)
अपाङ्ग	(364/25)	अपाङ्ग	(2/6/94)
कटाक्ष	(364/25)	कटाक्ष	(2/6/94)
चिकुर, कुन्तक, बाल	(364/25)	चिकुर, कुन्तक, बाल, कच, केश, शिरोरुह	(2/6/95)

परिशिष्ट सं० 9

रोग-सूची

(क) कायचिकित्सा

अतिश्वास	31/20.
अतिवार	31/22; 267/14; 279/10; 283/1, 28, 29; 285/59, 60.
अतिसार—शोथयुक्त	285/61, 62.
अतिवार—शोणित	285/58.59-
अन्तःश्वास	31/20.
अपस्मार	285/19.
अरुचि	283/17; 285/11, 12.
अर्श	279/30; 283/14-21, 24, 50, 51.
आमवात	285/39, 41, 42.
आर्त्तिनुत	283/15, 16.
उदररोग	31/20; 279/12; 285/54, 55.
उदरवृद्धि	285/49.
उन्माद	285/18, 19.
उरःक्षत	279/28, 45.
ऊरुस्तम्भ	279/35.
कटिशूल	285/41, 42.
कफरोग	31/23; 280/48; 285/12, 14, 37, 38, 72, 73.
कामला	31/20.
कास	279/21, 22, 23; 281/2; 285/3, 3, 8, 9, 12, 14, 21, 24, 54, 55.
कुष्ठरोग	31/21; 279/13-16; 283/13; 385/20, 21-23, 29, 30; 286/3, 4.
कृमि रोग	279/42; 283/5-7, 18; 285/57, 58.
गलगण्ड	283/11; 285/51-53.

(ख) शल्यपरक

(ग) शालक्य परक

(घ) भूत विद्या

(ङ) कौमारभृत्यपरक

(च) अगदतन्त्र परक

(छ) रसायन परक

परिशिष्ट सं० 10

रोगों के पर्याय

अ० पु०		अमरकोष	
क्षय, शोष, यक्ष्मा (राज्यक्ष्मा)	364/9	क्षय, शोष, यक्ष्मा	(2/6/51)
प्रतिश्याय, पीनस	(364/9)	प्रतिश्याय, पीनस	2/6/51
गर्भाशय, जरायु, स्यात (जिसमें गर्भ लिपटा रहता है उस चर्म का नाम)	364/6	गर्भाशय, जरायु, स्यात	2/6/38
कलल (वीर्य और शोणित के समुदाय का नाम	364/6	कलल	2/6/38
कास, क्षवधु (खाँसी)	364/10	कास, क्षवधु	2/6/52
शोफ, श्वयधु, शोथ (सूजन)	364/10	शोफ, श्वयधु, शोथ	2/6/52
किलासम्, सिहमम् (से हुआ, सिहुला)	364/11	किलासम्, ह्मिम्	2/6/53
कच्छू, पाम, पामा, विर्वचिका (खसरा)	364/11	कच्छू, पाम, पामा, विर्चचिका	2/6/53
कोठ, मण्डलकम (गजवर्ण रोग)	364/11	कोठ, मण्डलकम	2/6/54
कुष्ठम, श्वित्रम (सफेद कोढ़)	364/11	कुष्ठम, श्वित्रम	2/6/54
दुर्नामकम्, अर्श (बवासीर)	354/11	दुनमिकम, अर्श	2/6/54
आनाह, विवन्ध (जिसमें मल और मूत्र रुक जाये)	364/12	आनाह, विबन्ध	2/6/55
ग्रहणी, पवाहिका (संग्रहणी)	364/12	ग्रहणी, प्रवाहिका	2/6/55

परिशिष्ट संख्या 11

समान श्लोक तुलनात्मक तालिका

इस परिशिष्ट में अ० पु० के उन-उन स्थलों के श्लोकों की तुलना तत्त-त्पूर्वतन स्रोत ग्रन्थों के तत्तत् श्लोकों या श्लोकांशों से की है जो अग्निपुराण से अनुपूर्वी सादृश्य रखते हैं।

यहाँ उन्हीं स्थलों का चयन किया गया है जिनका प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ में सामग्री-स्रोत के रूप में उपयोग हुआ है। अ, आ, इ एवं ई क्रमशः श्लोकों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, एवं चतुर्थ पाद के बोधक हैं।

यह तुलना अ० पु० के अध्याय क्रम से ही यहाँ प्रस्तुत है। यही कारण है कि विष्णुधर्मोत्तरपुराण के तत्तत् श्लोकों से तुलना का निर्देश दो बार करना पड़ा है।

अग्निपुराण		विष्णु धर्मोत्तर पुराण
155.1-2	=	11.88.1-5 (सां०)
155.3 (आ)—4 (अ)	=	11.88.22
155.14 (आ)	=	11.89.12 (अ)
155-15 (अ)	=	11.89.15 (अ)
155.15-16 (अ)	=	11.89.19-20 (अ)
15?-19 (आ)	=	11.89.27 (अ)
155.20	=	11.89.29
155.22 (अ	=	11.89.31-32 (सां०)
155.24	=	11.89.37 (अ)
155.25	=	11.89.45-47 (आ) (सां०)
155.26 (अ)	=	11.89.49 (अ)
155.26 (आ)	=	11.89.50 (अ)
		11.89.50 (आ)-50 (सां०)
155.27 (अ)	=	1 1.89.52 (अ)
155.28 (आ) 29 (आ)	=	11.89.50 (आ)-57 (अ)

155.29 (आ)	=	11.89.58 (अ)
155.29 (आ)	=	11.70.4 (अ)
156.3–4	=	11.79.5-6
156.5 (आ)–6(आ)	=	11.79.10 (सां०)
156.6 (आ)–7 (आ)	=	11.79.7
156.8-9 (अ)	=	11.79-11-12 (अ)
156.8-9 (आ)–10 (अ)	=	11.79.14 (सां०)
156.10 (आ)–11 (अ)	=	11.79.16 (आ)–17(अ)
155.11 (आ)–12(अ)	=	11.79.14
156.13 (अ)	=	11.79.18
156.14 (आ)	=	11.79.23
156.15-16	=	11.79-25

अग्निपुराण		वृन्दमाधव
185.2 (अ)	=	1.88 (अ)
285.3 (अ)	=	1.111 (अ)
285.5	=	1.120
286.6	=	1.188
285.10	=	12.3
285.11	=	14.11
285.13	=	17.17
285.17	=	18.6
285.21 (आ)–24	=	51.79-82 (अ)
285.25 (आ)–27(अ)	=	50.7
285.39 (अ)	=	1.134 (अ)
285.75 (आ)–76 (अ)	=	74.1
285.76 (आ)–77(अ)	=	74.15

अग्निपुराण		चक्रदत्त
285.3 (अ)	=	ज्वरचिकित्सा-106 (अ)
285.3 (आ)	=	ज्वरचिकित्सा-167 (अ)
285.5	=	ज्वरचिकित्सा-118.
285.6	=	ज्वरचिकित्सा-191.

285.10	=	हिक्काश्वास-4
285.11	=	अरोचक चिकित्सा-11
285.13	=	तृष्णा चिकित्सा-17.
285.21 (आ)--24	=	कुष्ठ चिकित्सा-98-100.
285.25 (आ)-226 (अ)	=	उपदंशचिकित्सा-7.
285 30	=	विसर्ग विस्फोट चिकित्सा-24.
285.31	--	विसर्प-विस्फोट चिकित्सा-21
285.35 (आ)-34 (अ)	=	द्रवशोथचिकित्सा-31
285 40	=	आमवात चिकित्सा-40.
285.41 (अ)	=	आमवत चिकित्सा-6 (अ)
285.41 (आ) 42 (अ)	=	आमवात चिकित्सा-9.
285.43	=	वातरक्त चिकित्सा-9.
285 44 (अ) 45 (आ)	=	वातरक्त चिकित्सा-10.
285.50 आ0)-51 (अ)	=	अर्शचिकित्सा 103.
285 54 (आ)-55 (अ)	=	गुल्मचिकित्सा 33.
285.55 (आ)	=	गुल्मचिकित्सा 34 (अ)
285.57 (आ)	=	क्रिमि चिकित्सा-(ड)
285.58 (आ)-59 (अ)	=	अतिसार चिकित्सा-67
285.59 (आ)-60 (अ)	=	अतिसार चिकित्सा-66.
285.61 (आ)-62 (अ)	=	ज्वरातिसार-27.
285.62 (आ)-63 (अ)	=	रसायअधिकार-4.
285.69 (अ)-70 (अ)	=	शिरोरोगचिकित्सा-19.
285.75 (आ)	=	विरेचनाधिकार-1 (अ)
283.1	=	बालरोग चिकित्सा-21.
283-2	=	बालरोग चिकित्सा-27.
283.11 (सार)	=	गलगण्डा दिचि0-27.

अग्निपुराण		चरकसंहिता
285.8,9	=	चिकित्सा स0 21.99-100.
.18	=	,, 14.45.
.19	=	,, 15 22.

अग्निपुराण		सुश्रुत संहिता
294.5 (आ)	=	कल्पस्थान, 4-22 (अ)

अग्निपुराण		वाग्भट (अष्टांगहृदय)
285.2 (अ)	=	चि0 सं0 1.51 (अ)
294.5 (अ)	=	उ0 स्थान, 36-5 (अ)
.5 (अ)	=	,, = 4 (आ)
.6 (अ)	=	,, = 5 (आ)

अग्निपुराण		अमरकोष	अग्निपुराण		अमरकोष
364.15		2.4.20	363.26	=	2.4.44
363.15-16	=	2.4.21	363.26	=	2.4.45
363.16	=	2.4.22	363.27	=	2.4.46
363.16	=	2.4.22	363.26	=	2.4.47
363.17	=	2.4.23	363.27	=	2.4.47
363.17	=	2.4.23-24	363.27	=	2.4.48
363 18	=	2.4.25	363.27	=	2 4 48
363.18	=	2.4.25	363.28	=	2.4.49
363.19	=	2.4.26	363.28	=	2.4.49
363.19	=	2.4.27	363.29	=	2.4.50
363.20	=	2.4.27	363.29	=	2.4.50
363.20	=	2 4.28	363.29	=	2.4.50-51
363.20	=	2.4.30	363.30	=	2.4.51
363.21	=	2.4.31	363.30	=	2.4.53
363.21	=	2.4.31	363.30,31	=	2.4.55
363.22	=	2.4.33	363.31-32	=	2.4.56-57
363.22	=	2.4.34	363.32	=	2.4.60
363.23	=	2.4.37	363.32	=	2.4.61
363.23	=	2.4.38	363.33	=	2.4.61
363.23	=	2.4.38	363 33	=	2.4.62
363.24	=	2.4.39	363.33	=	2.4.63
363.24	=	2 4.39	363.34	=	2.4.62
363.24	=	2.4.41	363.34	=	2.4.63
363 24	=	2.4.40	363.34	=	2.4.64
363.25	=	2.4.42	363 34	=	2.4.65
363 25	=	2.4.43-44.			

अग्निपुराण		अमरकोष	अग्निपुराण		अमरकोष
363.34-35	=	2.4.66	363.45	=	2.4.90-91
363.34	=	2.4.66	363.45	=	2.4.91-92
363.35	=	2.4.68	363.46	=	2.4.92-93
363.36		2.4.68	363.46	=	2.4.94
363.36	=	2.4.70	363.47	=	2.4.95-96
363.35	=	4.4.136	363.48	=	2.4.98
363.36	=	2.4.71	363.48	=	2.4.98
363.36	=	2.4 72	363 48	=	2.4.97
363.37	=	2.4.72	363 48	=	2.4.97
363.37	=	2.4.73	363 49	=	2.4.99
363.37	=	2.4.74	363.49	=	2.4.99
363.37	=	2.4.74	36 .49	=	2.4.100-101
363.38	=	2.4.74	363.49-50	=	2.4.101-102
363.38	=	2.4.75	363.50	=	2.4.103
363.38	=	2.4.75	363.50	=	2.4.102
363.38	=	2.4.75	363.51	=	2.4.104
363.39	=	2.4.77	363.51	=	2.4.102-103
363.39	=	2.4.78	363.51	=	2.4.104
363.39	=	2.4.79	363.51	=	2.4.105
363.40	=	2.4.79	363.52	=	2.4.106
363.40	=	2.4.80	363.52	=	2.4.105
363.40	=	2.4.81	363.52	=	2.4.107
363.40-41	=	2.4.82	363.52	=	2.4 107
363.41	=	2.4.82	363.53	=	2.4.109
363.41-42	=	2.4.83-84	363.53	=	2.4.108
363.42	=	2.4.82-85	363.53	=	2.4.109
363.43	=	2.4.85.86	363.54	=	2.4.110
363 43	=	2.4.86-87	368.54	=	2.4.112
363.44	=	2.4.88-89	363.55	=	2.4.113
363.44	=	2.4.87	363.55	=	2.4.114
363.44	=	2.4.89	363.55	=	2.4.115
363.43	=	2.4 86-87	363.55	=	2.4.116
363.44	=	2.4.88-89	363.56	=	2.4.117
363.44	=	2.4.87	363.56	=	2.4.118
363.44	=	2.4.89	363.56	=	2.4.119

अग्निपुराण		अमरकोष	अग्निपुराण		अमरकोष
363.56	=	2.4.119	363.68	=	2.4.155
363.57	=	2.4.118	363.69	=	2.4.156
363.57	=	2.4.120	363.69	=	2.4.157
363.57	=	2.4.120	363.69	=	2.4.159
363.53	=	2.4.120	363.70	=	2.4.160-161
363.57	=	2.4.121	363.70	=	2.4.167
363.58	=	2.4.122-123	363.71	=	2.4.168
363.58	=	2.4.123	363.71	=	2.4.169
363.59	=	2.4.132	364.13	=	2.6.64
363.59	=	2.4.125	364.13	=	2.6 64
363.59	=	2.4.127	364.13	=	2.6.64
363.59	=	2.4.130	364.13	=	2·6.65
363.60	=	2.4.134	364.13	=	2.6.65
363.60	=	2.4.133	364.14	=	2.6.65
363.61	=	2.4.135	364.14	=	2.6.65
363.61	=	2.4.154	364.14	=	2.6.67
363.61	=	2.4.137	364.14	=	2.6.66
363.62	=	2.4.139	364.14	=	216.66
363.62	=	2.4.140	364.14-15	=	2.6.66
863.62	=	2.4.138	364.15	=	2.6.66
363.63	=	2.4.141	364 15	=	2.6.68
363.63	=	2.4.142	364.15	=	2.6.68
363.63	=	2.4.143	364.16	=	2.6.69
363.64	=	2.4.142	364.16	=	2.6.69
363.64	=	2.4.146	364.16	=	2.6.69
363,64	=	2.4.147	364.16	=	2.6.69
363.64	=	2.4.149	364.16	=	2.6.70
363.65	=	2.4.144	364.17	=	2.6.70
363.65	=	2.4.148	364.17	=	2.6.70-71
363.66	=	2.4.151	364.17	=	2.6.74
363.66-67	=	2.4.151	364.18	=	2.6.74
363.67	=	2.4.152-153	364.18	=	2.6.74
363.67	=	2.4.154	364.18	=	2.6.74
363.68	=	2.4.155	364.19	=	2.6.75
363.68	=	2.4.154	364.19	=	2.6.75

अग्निपुराण		अमरकोष
364.19	=	2.6.76
364.20	=	2.6.77
364.20	=	2.6.77
364.20	=	2.6.77
364.20	=	2.6.77
364.21	=	2.6.78
364.21	=	2.6.78
364.21	=	2.6.83
364.22	=	2.6.83
364.22	=	2.6.84
364.22	=	2.6.84
364.24	=	2.6.88
364.24	=	2.6.88
364.24	=	2.6.88
364.24	=	2.6.90

अमरकोष		अग्निपुराण
364.24	=	2.6.90
364.24	=	2.6.90
364.25	=	2.6.94
364.25	=	2.6.94
364.25	=	2.6.95
365.4	=	2.7.23
365.4	=	2.7.24
365.4	=	2.7.24
366.25	=	2.9.21
366.26	=	2.9.24
366.26	=	2.9.24
366.26	=	2.9.25
366.29	=	2.9.37
366.30	=	2.9.43

अग्निपुराण		याज्ञवल्क्यस्मृति
376.27 (आ)-33	=	3.84 (आ)-90
376.12 (अ)	=	141
376.13-16	=	143-146
376.17	=	148
376.18 (अ)	=	155 (आ)
376.18-23	=	165-169
376.24-28	=	177-180
376.29	=	182-133
376.31-32 (अ)	=	184-185 (अ)
376.32 (आ)-33 (अ)	=	186
376.33 (आ)-35 (अ)	=	187-188
376.30	=	189
376.35 (आ)-43 (अ)	=	190-197.
376.44	=	205

अग्निपुराण		विष्णुधर्मोत्तर पुराण
369.13 (आ)	=	11.113.18 (अ)
369.14 (अ)	=	11.113.20 (आ)
369.16 (अ)	=	11.113.23 (आ)
369.16 (आ)	=	11.113 24 (अ)
369.17 (अ)	=	11.113.24 (आ)
369.17 (आ)	=	11.113.25 (अ)
369 18 (अ)	=	11.113.25 (आ)
369.18 (आ)	=	11.113.26 (अ)
369.19 (अ)	=	11.114.1 (अ)
369.21 (अ)	=	11.114.6 (अ)
369.21 (आ)	=	11.114.6 (आ)
369.22 (अ)	=	11.114.7 (अ)
369.22 (आ)	=	11.114.7 (आ)
369.23	=	11.114.8
369.28	=	11.15.7
369.129 (अ)	=	11.115.8 (सां0)
369.129 (आ)	=	11.115.9 (अ)
369 30	=	11.115.10 (सां0)
369.31 (आ), 32	=	11.115.12-14 (सां0)
369.42	=	11.115.15-23 (अ)
369.44 (अ)	=	11.115.24-25 (सां0)
369.45 (आ)	=	11.115.27 (आ)
369.45 (इ)	=	11.115.30 (सं0)
373.3 (आ)	=	11.115.31 (सां)
370.6 (अ)	=	11.115.38 (अ)
370.8 (आ)	=	11.115.48 (अ)
370.9 (अ)	=	11.115.52 (आ)
370.10 (अ)		
370.10 (आ)		
370.9 (आ)-20	=	11.115.53 (आ)-64

370.21 (अ)	=	11.115.68 (आ)
370 21 (आ)	=	11.115.69 (सां0)
370.24-25	=	11.115.73-74
370.26 (अ)	=	11.115.75 (सां0)
370.26 (आ)	=	11.115.76
370.27 (आ)	·	11.115.77 (सां0)
370.28	=	11.115.84
370.34 (अ)	=	11.115.86. (अ)
370.36 (अ)	=	11.115 86 (आ)
370.38 (अ)	=	11.115.80 (आ) सां0
370.38 (आ)	=	11.115.89 (आ)
370.39	=	11.115.90-91 (सां)
370.40 (आ) 43 (अ)		

अग्निपुराण		शिवपुराण
373.6 (आ)-9	=	37.21-24.
.10-11	=	.28-29.
.12 (आ)	=	.42
.13	=	.43
.14 (9)	=	.33
.20 (आ)	=	.46 (आ)
374.1 (अ)	=	37 51
.1 (आ)	=	.52 (अ)
.3	=	.52 (आ)-53 (अ)
.7	=	.57
.8 (आ)	=	.58
375.4	=	.60
376.2 (आ)-5 (अ)	=	.63-66

अग्निपुराण		वायुपुराण
373.4 (अ)	=	11.16 (आ)
.4 (आ)	=	.15 (आ)
.19	=	10.92

अग्निपुराण		बृहदारण्यक उपनिषद्
373 23 (आ)	=	1.4.10
377.1	=	11.5.19

अग्निपुराण		छान्दोग्य उपनिषद्
377.23	=	8.16

अग्निपुराण		माण्डूक्योपनिषद्
377.1	=	11.5.19

अग्निपुराण		विष्णुपुराण
379.8 (आ)	=	VI.5.64 (अ)
.15 (आ)-17 (अ)	=	VI 7.11 (अ)-12
.17 (आ)-19 (अ)	=	. .15-16
379.19 (आ)-22 (अ)	=	VI.7.22-24.
.22 (आ)	=	.28 (आ)
.23 (अ)	=	.29 (सार)
.23 (आ)-25 (अ)	=	.30-31
.25 (आ)	=	.33 (आ)
.26 (आ)-27 (अ)	=	.45
.27 (आ)	=	.47 (सार)
.28-29 (अ)	=	.50-51
.29 (आ)	=	.48 (अ)
.30-31 (अ)	=	.53-54 (अ)
.31 (आ)	=	.55 (सार)
.32	=	.95
380.5 (अ)	=	II.13 57 (सार)
.6-7	=	.61-62
.8-18	=	.79 (अ)
.20-21	=	.80-81
.22-23	=	.85-86
.24-28	=	.91-95
.29	=	.97

.30-33	=	.87-90
.34-35	=	.98-99
.36-38	=	.101-103
.39	=	II.14.7-9 (सार)
.40-41	=	.12-13
.43 (अ)	=	.27 (अ)
380.43 (आ)-44	=	II.14.29-30.
.47	=	II 15.6 (सार)
.48	=	.19
.49	=	.21
.50	=	.24 (सार)
.51	=	.25
.52	=	.29
.53-54	=	.34-35
.55	=	II.16.1 (सार)
.56-58	=	.5-7
.60	=	.10 (अ)
.62 (इ)	=	.18 (आ)
.63	=	.19 (आ)-20 (अ)
.65	=	.22

अग्निपुराण		श्रीमद्भगवद्गीता
381.2	=	2.11 (इ, ई); 2.20 (सार)
381.3,4	=	2.62,63 सार
381.5 (इ, ई) 381.6 (अ, आ)	=	2.6
381.6 (इ, ई)	=	3.17 (इ, ई)
281.7 (अ, आ)	=	3.18 (अ, आ)
381.7 (इ, ई) 381.8 (अ, आ)	=	3.38
381.8 (इ, ई)	=	4.36 (इ, ई)
381.9 (अ, आ)	=	4.37 (इ, ई)

381.9 (इ, ई) 381.10 (अ. आ)	=	5.10
381.10 (इ, ई) 381.11 (अ, आ)	=	6.29
381.11 (इ, ई)	=	6.41 (इ, ई)
381.12 (अ, आ)	=	6.40 (इ, ई)
381.12 (इ, ई) 381.13 (अ, आ)	=	7.14
381.13 (ई, ई)	=	7.16 (इ, ई)
381.14 (अ, आ)	=	6.16 (अ, आ)
381.14 (इ, ई) 381.15 (अ, आ)	=	8.3
381,15 (इ, ई) 381.16 (अ, आ)	=	8.4
381.16 (इ, ई) 381.17 (अ)	=	8-5, 8.6 (अ, आ) सार
381.17 (इ, ई)	=	8.10 (इ, ई) सार
381.18 (अ)	=	8.13 (अ)
381.18 (आ)	=	8.13 (इ)
381.20 (अ, आ)	=	13.1 (अ, आ) सार
381.20 (इ, ई)	=	13.2 (इ, ई)
381.21-33	=	13.5-17
381.34-35	=	13.24, 25
381.36	=	14.17
381.37 (अ, आ)	=	14.23 (इ, ई)
381.37 (इ, ई)	=	14.25 (सार)
381 38	=	15.1
381.39 (अ, आ)	=	16.6 (अ, आ)
381.39 (इ, ई)	=	16.2, 3 (सार)
381.40 (अ, आ)	=	16 (इ)
381.40 (इ, ई)	=	16.21 (सार)
381.41 (अ)	=	17.7 (इ)

381.41 (इ, ई)	=	17.8 (सार)
381.42 (अ, आ)	=	17.9 (सार)
381 42 (इ, ई)	=	17.10 (सार)
381.43 (अ, आ)	=	17.11 (सार)
381.43 (इ, ई)	=	17.12, 13 (सार)
381.44 (अ, आ, इ)	=	17.14 (सार)
381 44 (ई) 45 (अ, आर)	=	17.15 (सार)
381.45 (इ, ई)	=	17.16 (सार)
381.46 (अ)	=	17.17 (सार)
381.46 (आ)	=	17.18 (सार)
381.46 (इ)	=	17.19 (सार)
381.46 (ई), 47 (अ)	=	17.20 (सार)
381.47 (आ)	=	17.21 (सार)
381.47 (इ, ई)	=	17.22 (ार)
381.48 (अ, आ)	=	17.23 (अ, आ)
381.48 (इ, ई)	=	17.25 (सार)
381.49	=	18.12
381.51	=	18.14
381.52 (अ)	=	18.20 (सा)
381.52 (आ)	=	18.21
381.52 (इ)	=	18.22 (सार)
381.52 (ई)	=	18.23 (सार)
381.53 (अ)	=	18.24 (सार)
381.53 (आ)	=	18 25 (सार)
381.53 (इ)	=	18.26 (सार)
381.53 (ई)	=	18.27 (सार)
381.53 (अ)	=	18.28 (सार)
381.54 (आ)	=	18.30 (सार)
381.54 (इ)	=	18.31 (सार)
381.54 (ई)	=	18.32 (सार)

318.55 (अ)	=	18.33
381.55 (आ)	=	18.34
381.55 (इ)	=	18.35
381.55 (ई)	=	18.37 (सार)
381.56 (अ)	=	18.38 (सार)
381 56 (आ)	=	18.39 (सार)
381.56 (इ. ई) 381.57 (अ, आ)	×	18.46 (सार)
381.57 (इ, ई), 58	=	18.54,55 (सार)
अग्निपुराण		**कठोपनिषद्**
382 21 (आ), 22 (अ)	=	1.3.3
382.22 (आ), 23 (अ)	=	1.3.4
382.23 (आ)	=	.5 (अ)
382.24 (अ)	=	.7 (आ)
382.24 (आ)	=	1.3.6 (अ)
382.25 (अ)	=	.8 (आ)
382.25 (आ)	=	.9 (अ)
382.26 (अ)	=	.9 (आ)
382.26 (आ)	=	.10 (अ)
382 27 (अ)	=	.10 (आ)
382.27 (आ)	=	.11 (अ)
282.28 (अ)	=	.11 (आ)
382 28 (आ)	=	.12 (अ)
382.29 (अ)	=	.12 (आ)
382.29 (आ)	=	.13 (अ)
382.30 (अ)	=	.13 (आ)

सन्दर्भ ग्रन्थावली

ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक/अनुवादक	प्रकाशक	प्रकाशन, सन् व संवत्
अष्टांग संग्रह	अत्रिदेव गुप्त	निर्णयसागर, मुद्रालय, बम्बई-2	1951
अष्टांग हृदय	तारादत्त पन्त	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी	1956
आयुर्वेदीयक्रिया-शारीर	रणजीत राय देसाइ	वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, कलकत्ता	2030 संवत्
आयुर्वेदीयशारीरम्	गणेश विश्वनाथ पुरोहित	आयुर्वेदीय बोर्ड आफ रिसर्च, बम्बई	1955
कायचिकित्सा	सी० द्वारकानाथ/त्रिलोकचन्द्र जैन	पिपुलार प्रकाशन, बम्बई	1962
काश्यप संहिता (हेमराज शर्मा के उपाद्घातयुक्त)	सत्यपाल भिषगाचार्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी	1957
चक्रदत्त	ब्रह्मशंकर शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी	1961
चरक संहिता	जयदेव विद्यालंकार	मोतीलाल बनारसीदास, बनारस	1954
पारिषद्यं शब्दार्थ शारीरम्	दामोदर शर्मा गौड़	वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, कलकत्ता	1964
प्रत्यक्षशारीरम् (1-3) भाग	गणनाथ सेन	कल्पतरु प्रसाद, 223, चितरंजन एवेन्यू कलकत्ता	1940
बालतन्त्रम्	गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास	लक्ष्मीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, कल्याण बम्बई	1957

बालतन्त्रम्	कल्याण	गुजराती मुद्रणालय, बम्बई	1972 संवत्
भावप्रकाशनिघण्टु	गंगासहाय पाण्डेय एवं कृष्णचन्द्र चुनेकर	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी	1969
वृन्दमाधव शार्ङ्गधर संहिता	विनायक गणेश आप्टे	आनन्दाश्रम, पूना	1943
सुश्रुत संहिता	डा० अम्बिकादत्त शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस	1954
(आ) पुराण			
अग्निपुराण	बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी	1967
अग्निपुराण	राजेन्द्रलाल मित्र	बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता	1873-79
अग्निपुराण	हरिनारायण आप्टे	आनन्दाश्रम, पूना	1900
अग्नि पुराण	पंचानन तर्करत्न	बंगवासी प्रेस, कलकत्ता	1906
अग्नि पुराण	जीवानन्द विद्यासागर	बंगवासी प्रेस, कलकत्ता	1906
अग्नि पुराण (अंग्रेजी अनुवाद) दो खण्ड	एम० एन० दत्त शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी	1967
अग्नि पुराण		वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई	
अग्नि पुराण		गुरुमण्डल सीरीज, 5 क्लाइव रोड कलकत्ता	1957
अग्नि पुराण	श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान, बरेली	1968
अग्नि पुराण (2 अंक)	हनुमान प्रसाद पोद्दार एवं चिम्मनलाल गोस्वामी	गीता प्रेस, गोरखपुर	1970-71
कूर्म पुराण	पंचानन तर्क रत्न	बंगवासी प्रेस, कलकत्ता	1924

गरुड़ पुराण	रामें शंकर भट्टाचार्य	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी	1964
नारद पुराण	क्षेत्रमराज श्रीकृष्णदास	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई	
पद्म पुराण	बी० एन० माण्डलिक	आनन्दाश्रम, पूना	1894
ब्रह्म पुराण	पंचानन तर्क रत्न	बंगवासी प्रेस, कलकत्ता	1908
ब्रह्माण्ड पुराण	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई		
ब्रह्मवैवर्त्त पुराण	जीवानन्द विद्या सागर	बंगवासी प्रेस, कलकत्ता	1888
भविष्य पुराण	क्षेमराज श्रीकृष्णदास	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई	
भागवत पुराण		गीता प्रेस, गोरखपुर	201 संवत्
मत्स्य पुराण	पंचानच तर्क रत्न	बंगवासो प्रेस, कलकत्ता	1908
मार्कण्डेय पुराण	पंचानन तर्क रत्न	बंगवासी प्रेस, कलकत्ता	1808
लिंग पूराण	जीवानन्द विद्या सागर	बंगवासी प्रेस, कलकत्ता	1885
वामन पुराण	पंचानन तर्क रत्न	बंगवासी प्रेस, कलकत्ता	1906
वायु पुराण		मनसुखराम मोर, कलकत्ता	1959
वाराह पुराण	पंचानन तर्क रत्न	बंगवासी प्रेस, कलकत्ता	1905
विष्णु पुराण		गीता प्रेस, गोरखपुर	2014 संवत्
विष्णुधर्मोत्तर पुराण		वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई	1912
शिव पुराण	रामतेज पाण्डेय	पण्डित पुस्तकालय, काशी	

(इ) अन्यान्य ग्रन्थ :—

अग्नि पुराण का सांस्कृतिक अनुशीलन	यूथिका राय	दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि०	1968
अथर्ववेद (सप्तमावृत्ति)		वैदिक यन्त्रालय, अजमेर	2014 संवत्
अमरकोष	नारायणदास आचार्य	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई	1950
अभिधानचिन्तामणि	हेमचन्द्र		
ईशादिदशोपनिषद् (शांकर भाष्ययुक्त)		मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी	1964
ऋग्वेद		वैदिक यन्त्रालय, अजमेर	
कठोपनिषद् (शांकर भाष्य)		मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1964
गरुड़ पुराण की दर्शनिक एवं आयुर्वेदीय सामग्री का अध्ययन (शोध प्रबन्ध)	जयन्ती भट्टाचार्य	दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि०	1975
छान्दोग्योपनिषद् (शांकर भाष्ययुक्त)		मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	
तैत्तरीय ब्राह्मण		आनन्दाश्रम, पूना	1983
धर्मशास्त्र का इतिहास	डा० पाण्डुरङ्ग काणे अनु० अर्जुन चौबे काश्यप	सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग	1966
निरुक्त	यास्क		
पातञ्जलयोग दर्शन (व्यास एवं भोज वृत्ति सहित)	स्वामी विज्ञानाश्रम द्वारा भाषानुवाद	फाइन आर्ट्स प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर	
पुराण विमर्श	बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी	1965

प्राचीन भारतीय साहित्य	विण्टरनित्ज, अनु० डा० रामचन्द्र पाण्डेय	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1966
बौधायन धर्मसूत्र	आर० श्याम शास्त्री	मैसूर यूनिवर्सिटी ओरियेन्टाल लाइब्रेरी, मैसूर	1920
बृहत्संहिता	वराह मिहिर	बिबलिथिका इण्डिया, कलकत्ता	1865
बृहदारण्यक उपनिषद्		मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1974
भारतीय ज्योतिष (हिन्दी संकरण)	शंकर बालकृष्ण दीक्षित	प्रकाशन ब्यूरो सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ	1957
भारतीय दर्शन	सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं धीरेन्द्र मोहन दत्त	पुस्तक भण्डार, पटना-4	1958
महाभारत परिचय		गीता प्रेस, गोरखपुर	2016 संवत्
महाभारत मूल (4 खण्ड)		गीता प्रेस, गोरखपुर	2013 संवत्
माण्डूक्योपनिषद्	स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि	गीताधर्म प्रेस, वाराणसी	2029 संवत्
मनुस्मृति	कुल्लुक भट्ट	गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई	1913
मीमांसा सूत्र	केवलानन्द सरस्वती	प्रज्ञा पाठशाला मण्डल, वाई, जी, सतारा	
यजुर्वेद		वैदिक यन्त्रालय, अजमेर	
याज्ञवल्क्य स्मृति	विज्ञानेश्वर कृत मिताक्षरा	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी	1967
योग दर्शन	श्रीहरिकृष्ण गोयन्दका	गीता प्रेस, गोरखपुर	2020 संवत्
वेदान्त दर्शन	हरिकृष्णदास गोयन्दका	गीता प्रेस, गोरखपुर	2017 संवत्
शतपथ ब्राह्मण		वैदिक यन्त्रालय, अजमेर	1959 संवत्

शंखस्मृति	जीवानन्द विद्या सागर	आनन्दाश्रम, पूना	
शारदातिलक	रणजित राय की आयुर्वेदीय क्रिया शरीर से उद्धृत		
श्रीमद्भगवतगीता		गीता प्रेस, गोरखपुर	
सांख्यकारिका	रामकुमार शर्मा	वाराणसी	2019 संवत्
सामवेद		वैदिक यन्त्रालय, अजमेर	
स्मृत्यर्थसार	नीलाकण्ठाचार्य		6733 संवत्

(ई) अंग्रेजी ग्रन्थ

लेखक	पुस्तक का नाम	प्रकाशन	सन्
G. Meulenbeld	The Modhava Nidan and its chief commentary	E. J. Brill Leiden	1974
Grey	Grey Anatomy		1949
Gyani Dr. S. D.	Agni Puran A study	Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi.	1964
Hazra, R. C.	Studies in Puranic records on Hindu rites and customs	University of Dacca, Reprint Motilal Banarasi Das, Delhi.	1975
Majumdar, R. C.	The Age of Imperial Unity	Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay.	

Mishra : Bambahadur	Polity in the Agni-Purana	Panthi Pustak, Calcutta-4.	1965
Mitra, J.	History of Indian Medicine from per-Mouryan to Kushan period.	Jyotirlok Prakashan, Varanasi.	1974
Pargiter, FE.	Encyclopaedia of Religious and Ethics.		
Pusalker, A. D.	Studies in the epics and Puranas.	Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay.	1955
Sachau, E. C.	Alberuni's India Vol. I and II.	London	1910
Shastri, H. P.	A Descriptive Catalogues of Sanskrit Manuscripts in the Government Collection, Vol. V.	Calcutta	1928

(3) पत्र-पत्रिकाएँ

(अ) अंग्रेजी—

1. Agra University Journal of research.
2. Archiv Orienta'lni Ceskoslavenska Academic Ved Orientalni Ustav.
3. Indian Journal of History of Science.
4. Indian National Science Academy, New Delhi.

5. Indian Historical quarterly.
6. Journal of Royal Asiatic Society.
7. Journal of the Andhra Historical Research Society.
8-9. Journal of the University of Bombay, Journal of the Bihar & Orissa Research Society.
10. Roezhik Orientalist ysics warszawa Multi Lingual.

(आ) हिन्दी

आयुर्वेद विकास, डाबर, नई दिल्ली।

अनुक्रमणिका

उ ऋ

क

29

च

ध

न

य